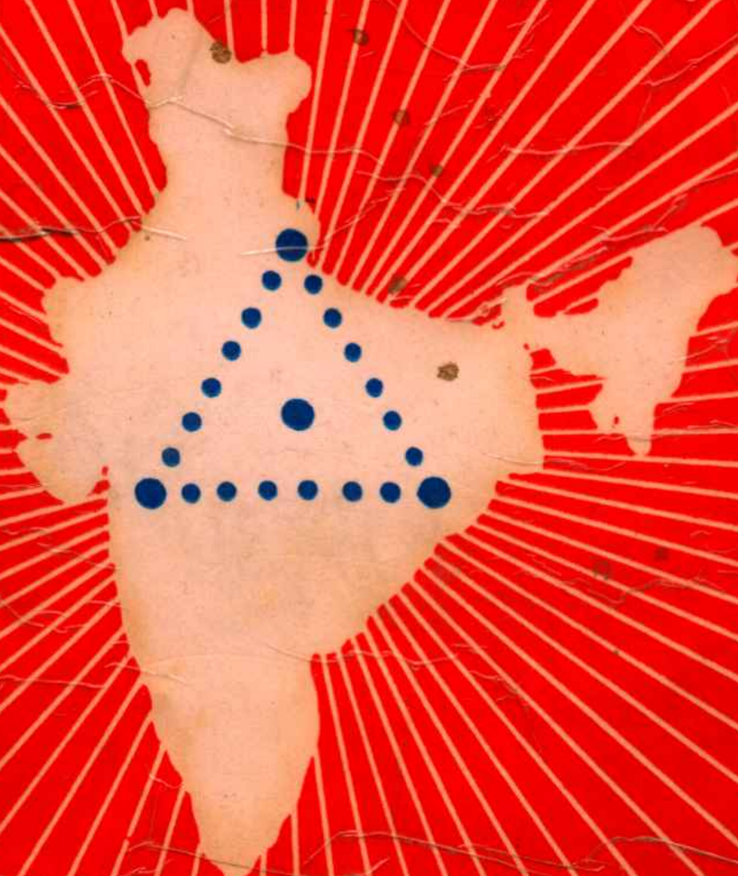
श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य-प्रणीतः

श्रीराष्ट्रालोकः

श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्यसहितः
(राष्ट्रालोक-सारयुतः)



डॉ. शिवसागर त्रिपाठी
पद्म शास्त्री

द्विविधा जीवनदृष्टिः संश्लेषणपरा विश्लेषणपरा चेति। संश्लेषणपरा दृष्टिः जीवनं समग्रतया पश्यति, विश्लेषणपरा पुनः खण्डशः। पूर्वा पौरस्त्या दृष्टिः, अपरा पाश्चात्या। प्रथमा धर्मं जनयति, द्वितीया विज्ञानम्। तस्मात् भारते राजधर्मविवेचनम्, पश्चिमे राजनीतिविज्ञानविवेचनम्। श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य-प्रणीते राष्ट्रालोके राष्ट्रधर्मस्येदमप्रथमतया संस्कृतभाषया विवेचनं विहितम्। संस्कृतभाषायाम् केवलं धर्मविवेचनमिति मन्यन्ते प्रायशो लोकाः। श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यस्येयं कृतिस्तां भ्रान्ति निराकरिष्यति।

पाश्चात्यदृगभ्यस्ता अस्यां कृतौ कदाचिदप्रौढमिव सर्वं विवेचनं मन्येरन्। किन्त्वत्र यत्तथ्यं निरूपितं तत्सर्वथा मौलिकं सत्कल्याणमप्यावहति। तथा राष्ट्रस्य मूलमन्त्रं व्यावहारिको मोक्ष इति प्रतिपादितम्, मोक्षस्य स्वातन्त्र्यापरपर्यायत्वमुपपादितम्। अत्रैतत् ध्येयं यत्स्वातन्त्र्यविरोधिनः सोवियतसंघस्य राष्ट्रत्वेन विलयस्तु स्वतः सिद्ध एवासीत् राष्ट्रं च स्वातन्त्र्याभावश्चेति नास्त्युभयोः सामानाधिकरण्यम्। एवमेवान्तरसंस्कृतिरत्र धार्मिकविश्वासाधीना सम्मता। धर्मनिरपेक्षतावादिन आर्थिकाभ्युदयप्रयासानेव राष्ट्रस्यैकतायाः आधारमभ्युपगच्छन्ति। सोवियतसंघविलयेऽयमपि भ्रमो विलीनः। ग्रन्थलेखनकाले मुद्रणकालेऽपि वा सोवियतसंघस्य विलयो नाघटयत्। किन्त्वद्य लेखकस्य स्थापनेतिहासपरिपुष्टा वर्तते।

क्वचित्तदनितान्तमश्रुतपूर्वं विवेचनं विदुषां ध्यानमाकर्षति। यथा सत्ययुगे चतुर्विधभाषापटवः सामनीत्या त्रेतायां परां विना त्रिविधभाषापटवः दाननीत्या, द्वापरे मध्यमावैखरीकुशलाः भेदनीत्या कलौ वैखरीकुशलाः दण्डनीत्या च स्वकार्यं साधयन्तीति प्रतिपादनं न श्रुतिपथं पूर्वमागतम्। एवमत्र चर्वितचर्वणं नास्ति। ग्रन्थोऽयं संस्कृतभाषोपनिबद्ध इत्येवात्र वैशिष्ट्यं नास्ति, विचारदृष्ट्यापि नवनवोन्मेषमत्र सर्वथाभिनन्दति।

दयानन्दो भार्गवः
संस्कृतविभागाध्यक्षः
ज० ना० व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर

: श्रीराष्ट्रालोक :

श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्य-सहितः

[राष्ट्रालोकसार–युतः]

सम्पादक :

डॉ. शिवसागर त्रिपाठी

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

एवं

पद्म शास्त्री

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

मूल्य : 100.00 प्रथम संस्करण : 1992

प्रकाशक : श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान के लिये देवनागर प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित ।

मुद्रक : ऐलोरा प्रिण्टर्स, जयपुर

समर्पण

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे ।
पितृ-पुण्य-भुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमोनमः ।।

महामहिम आचार्य श्रीअमृतवाग्भव

के

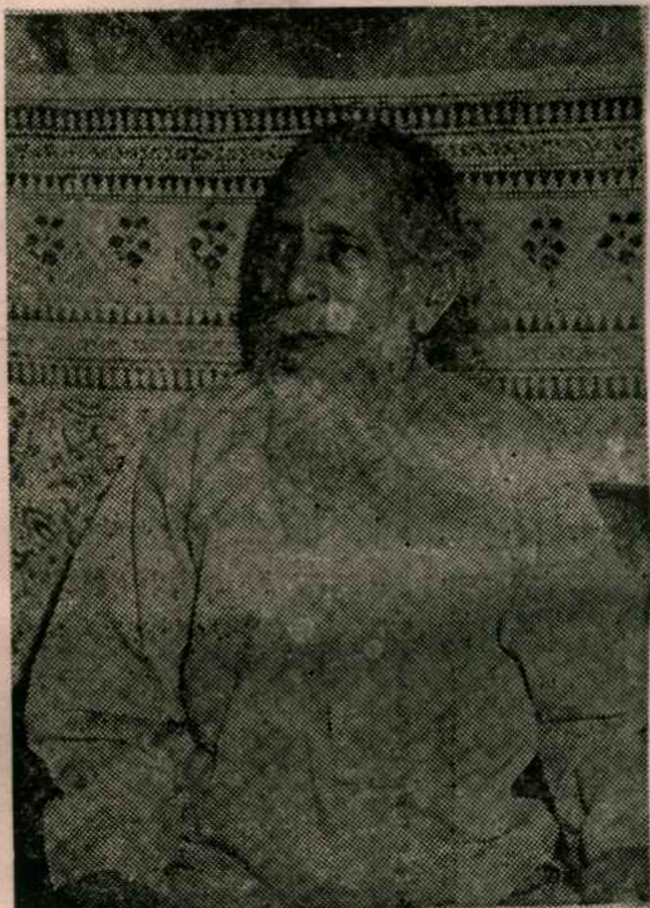
पुनीत पाद पद्मों

में

सादर समर्पित

श्रीः

पूज्यपाद ब्र० अनन्त श्री श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य



शास्त्राणि यो रचितवान् विविधानि विद्वान्
धर्मार्थमोक्षफलदानिजनापकृत्यै ।
व्याख्यातवांश्च कतिचित् स्वयमेव देव-
स्तस्मै नमोऽस्तु गुरवेऽमृतवाग्भवाय ।।

जन्मः
आषाढ़ शुक्ल दसवीं
वि० सं० 1960

लीला-संवरण
कार्तिक शुक्ल नवमी
वि० सं० 2039

भावाञ्जली

(1)

श्रीयुक्तो प्रतिभायुतः सुसरलो यो नैष्ठिको भास्करः
नैपुण्यं वहतीह योगसरणौ नैकेषु शास्त्रेषु च ।
वाग्देवीतनयो बुधः सुरगवीसेवाव्रती साधकः
आचार्योऽमृतवाग्भवो विजयते सिद्धो महामानवः ।।1।।

⊙

वाग्श्रीधर्मदयावितानिरतो हृद्यस्तपस्वी महान्
स्वाध्याये कुशलः प्रभोः सुदयितः विद्योदधेः पारगः ।
राष्ट्रे संस्कृतिचेतना, सहृदये सारस्वती साधना
शक्तिः जागरिता च येन भुवने, वन्द्यो महामानवः ।।2।।

⊙

एतेषां सुकरेषु शोभनतमा गुर्वी च या लेखनी
सामर्थ्यं कथमद्भुतं हि रचना सूते स्म रम्याः सदा ।
टीका–गद्य–कथा–स्तवादिविविधाः हिन्द्यां तथा संस्कृते
ताश्चाद्यापि पुरस्कृताः जनमनो हृष्यन्ति नैशं भृशम् ।।3।।

⊙

वेदेतिहास-स्मृति-साहितीज्ञः
पौराणिको दर्शनशास्त्रविज्ञः ।
सम्पादक : लेखक ईरकश्च
वन्द्यः कविः तान्त्रिकतल्लजोऽयम् ।।4।।

⊙

भावाञ्जलिः समर्प्यत इह ग्रन्थार्पणसमुत्सवेऽस्मिन् ।
विद्वदमृतवाग्भवाय नमस्तस्मै ब्रह्मलीनाय ।।5।।

—डा. शिवसागर त्रिपाठी
जयपुरम्

(2)

आर्य पूज्य दयासुधाम्बुधे पतितोद्धारपरायण प्रभो ।
ललितालालितांघ्रिसेवक प्रबलानन्दस्वरूप पण्डित ॥1॥

⊙

जडचेतनभेदकल्पिता शिवरूपात्मकलाविलासिनी ।
सकलेषु जगत्सु नास्त्यतः सविशेषाऽत्र मतिर्भवादृशाम् ॥2॥

⊙

अथ चेज्जनरीतिकल्पिता कुमतिः कापि विजृम्भते मयि ।
करुणावरुणालयो भवान् इति मत्वा न शुचे तथाप्यहम् ॥3॥

⊙

पुरा भागीरथ्या हिमगिरितटोपान्तपुलिने
मुदा दर्शं दर्शं नयनसुखदं वक्त्रकमलम् ।
तथा पायं पायं तव वचनवारीणि तृषितः
यदासीदानन्दं कथमिव लभेयं तदधुना ॥4॥

⊙

यद्वा तद्वा भवतु सकलं शर्म वाऽशर्मरूपम्
प्रामाण्यं सोऽहृतिपरशिवोऽन्ते नृणां भावजाते ।
इत्याश्वासैर्मन इदमहं सान्त्वयाम्यात्मयोगात्
अस्मात्का वा गतिरिह परा मादृशानां नराणाम् ॥5॥

⊙

शतशः प्रणमामि तावकं पदपाथोजयुगं कृताञ्जलिः ।
समुपास्य मनः सुनिर्मलं कुरुते कवकं पयो यथा ॥6॥

डा. श्रीनाथ टिक्कू
दिल्ली

सम्पादकीय

सृष्टि में जो भी तेज है, प्रकाश है, दीप्ति है, महिमा है, विभूति-भाव है, जो भी वितान हैं, वह रूप साम है, 'सर्वतेजः सामरूपं हि शश्वत्'। यह सामतत्त्व ईश्वर में है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' और पर्यायत्वेन जीवविशेष में भी—'मम तेजोंऽशसम्भवम्'। इस दृष्टि से महर्षि महात्मा ज्ञानी और सिद्ध महापुरुष ईश्वरांश होते हैं। सैद्ध दर्शन के प्रतिपादक श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य ऐसे ही महापुरुष थे, जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार को आध्यात्मिक मोक्ष और स्वातन्त्र्य-प्राप्ति को व्यावहारिक मोक्ष की प्रक्रिया बताकर परतन्त्रता के युग में निर्भय होकर एक 'राष्ट्रालोक' प्रदान किया और उसे 'राष्ट्रसञ्जीवनभाष्य' के सुप्रभ प्रभामण्डल से अलङ्कृत किया।

यह समग्र ग्रन्थ राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है। इसमें स्वतन्त्रता तथा उसके मानदण्डों पर विशेष बल दिया गया है, साथ ही राष्ट्र, राष्ट्रियता, एकता, शिक्षा, राजनीतिक आदर्श, नैतिक पर्युत्थान राष्ट्रिय-अराष्ट्रिय स्वरूप आदि विषयों को 'गागर में सागरवत्' प्रस्तुत किया है। मूलतः राष्ट्रालोक की रचना वि. सं, 1990 (सन् 1933 ई.) में गहन जंगलों में हुई थी। इससे पूर्व आचार्यश्री 'आत्मविलास' की रचना कर चुके थे। उसमें भी राष्ट्रीयतापरक विचार हैं। इसके अतिरिक्त 'सांक्रान्तिपञ्चदशी' राष्ट्रीय भावों से परिपूर्ण रचना है। 'स्वाध्याय' में प्रकाशित लेखों में देश-दशा से क्लान्त मन की व्यग्रता दिशा-निर्देश के साथ स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। राष्ट्रसञ्जीवनभाष्य में यह राष्ट्रीय चिन्तन समुन्नत, सुस्पष्ट तथा शास्त्र प्रमाणीकृत रूप में पदे पदे द्रष्टव्य है।

आचार्य वाग्भव वेदान्त और कश्मीर शैव दर्शन के सिद्ध महापुरुष थे। आपने राष्ट्र की परशिव रूप में कल्पना करके उसके लीलाविलास की चर्चा भी इस ग्रन्थ में की है। किन्तु दार्शनिक अभेद की यह दृष्टि उन्हीं के लिए है, जो एतत्परक रहस्य के जिज्ञासु हैं और पारमार्थिक मोक्ष के प्रपित्सु है। उनके लिए

ही आचार्य का संकेत है कि जो भावुक इस ग्रन्थ के रहस्य को जानना चाहते हैं, वे अमृत के अभिमान को जीतने वाले 'श्री आत्मविलास' ग्रन्थ को यथेष्ट पढ़ें—

ग्रन्थस्याऽस्य रहस्यं ये ज्ञातुं वाञ्छन्ति भावुकाः ।
पठन्त्वात्मविलासं ते कामं जितसुधामदम् ॥(रा. 106)

आचार्यप्रवर ने इस ग्रन्थ का एक नाम 'व्यावहारिकमोक्षशास्त्र' भी रखा था अर्थात् जहां एक ओर यह ग्रन्थ पारमार्थिक स्वातन्त्र्येच्छा को अंकुरित करता है, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक मोक्ष (स्वातन्त्र्य) की प्राप्ति का मार्ग बतलाता है । इस विचार की भावभूमि कश्मीर शैवदर्शन या त्रिक दर्शन से ही सम्बद्ध है ।

सामान्यत: ग्रन्थ का सम्बन्ध तत्कालीन भारत से है, पर इसमें वर्णित शाश्वत तथ्य न केवल भारत के लिए, अपितु विश्व के समस्त राष्ट्रों के लिए ज्ञेय, ध्येय और परिपाल्य है। इस दृष्टि से ग्रन्थकार की सार्वभौम दृष्टि प्रशस्य और प्रणम्य है । उनका यह ग्रन्थ स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के योग-क्षेम के मार्ग को प्रदर्शित करने वाला तथा राष्ट्रवादी राष्ट्रों के लिए पाथेय हैं और यही इसकी फलश्रुति भी है—

दुष्टाराष्ट्रियपारतन्त्र्यनिगडच्छेदेन तोषावहो
'राष्ट्रालोक' उदारबुद्धिविषयः स्वातन्त्र्यदीक्षागुरुः ।
ये संसारसमुन्नतिं स्वहृदयात् वाञ्छन्ति, तेषां कृते
आचार्यामृतवाग्भवेन रचितो ग्रन्थोऽयमस्त्यद्भुतः ॥

ऐसे महत्त्वपूर्ण और कालातीत ग्रन्थ पर स्वयं आचार्यप्रवर द्वारा लिखित 'राष्ट्रसञ्जीवनभाष्य' विषयक जानकारी हमें पहले श्रीमुख से और फिर 'श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर' के अध्यक्ष श्री दुर्गादत्त शर्मा से मिली । यह भाष्य मूलत: 'विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान,' दिल्ली में सुरक्षित था । अत्यन्त प्रयास के बाद वहां से हमें प्रथम चरण में मात्र 36 कारिकाओं पर लिखा भाष्य प्राप्त हो सका । अध्ययन करने पर यह भाष्य वर्ण्य विषय के अतिरिक्त व्याकरण दर्शन, साहित्य, नीति, राजनीति, समाजशास्त्र आदि विविध दृष्टियों से अत्यन्त उपादेय लगा, अतः इसके प्रकाशन का मानस बना । यह अनुभव किया गया कि यह विस्तृत भाष्य पाण्डित्यप्रकर्ष से युक्त है और मात्र विद्वत्तल्लजों के लिए बोध्य है । सामान्य पाठक या जिसे संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है, इसका तभी आनन्द ले सकता है, जब वह हिन्दी अनुवाद सहित हो । शर्मा जी ने यह चर्चा सुहृद्वर श्री पद्म शास्त्री आचार्य, राज० उच्च. मा. विद्यालय, पहाड़गंज, जयपुर) से

भी की। हम दोनों ने अपनी सहमति दी और ज्ञानसत्र में पूर्ण सहयोग करने का वचन दिया। अनुवाद कार्य प्रारम्भ हुआ। भाष्यकार आचार्य जी की शैली सम्बद्ध समग्र ज्ञान प्रस्तुत करने की रही है। अतः जब तक उन्हें सन्तोष नहीं हो जाता था, तब तक वे विषय को 'अयम्भावः' 'अयमाशयः' 'अयमभिप्रायः' 'अत्र बोध्यम्' 'अयं विशेषः' 'इति ध्वन्यते' 'इत्यत्र ब्रूमः' 'इदमप्याकलनीयम्' आदि शब्दावली से सुस्पष्ट करने का प्रयास करते रहते थे। फलतः अनेकत्र विस्तार और पिष्टपेषण जैसी स्थिति दृष्टिगत होती है, पर है वह सब ज्ञान-विज्ञानप्रद। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की भावना से आपने संस्कृत वाङ्मय से अनेक उद्धरण भी दिये हैं। जहां कहीं सन्दर्भ (बाद में लिखने के लिए) छूट गए थे, वहां उन अपूर्त संकेतों को यथाशक्य पूर्ण कर देने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार भाष्य में लेखक की शोधबुद्धि भी परिलक्षित होती हैं।

अन्ततः यह अनुभव किया गया कि इस समस्त विस्तार को अनुवाद में समेटना आवश्यक नहीं है। अतः संस्कृत से अनभिज्ञ जनों के उपकार के लिए भाषासार रूप में मूलमन्तव्य देने का ही प्रयास किया गया है। इसमें पदच्छेद, पदपर्यायार्थ, टीकाशैली, स्वग्रन्थीय एवं स्वशास्त्रीय उद्धरण आदि का विस्तार नहीं दिया गया है। विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि वे इस हेतु मूल ही पढ़ें और ज्ञानवर्धन करे, जैसा कि रचयिता ने स्वयं लिखा था—'यह 'राष्ट्रालोक' राष्ट्रवाद को लक्ष्य कर रचा गया है। इस विषय में सुविस्तृत विवेचन 'श्रीराष्ट्रसञ्जीवन' में किया गया है, पाठक वही पढ़ें। (रा. अवतरणिका, पृष्ठ 6)

वस्तुतः परात्पर (राष्ट्र) आलोक का अंशुमात्र यह भाषासार तो विषय और ग्रन्थ को संक्षेप में समझने के लिए है। हो सकता है कि इस सार-लेखन में विचक्षण पण्डितों की दृष्टि से कुछ बातें छूट गई हों, पर सुधीजन उन्हें मूल में ही देखने का प्रयास करें।

उपलब्ध प्रथम 36 कारिकाओं पर लिखे भाष्य का यह प्रथम भाग समीक्षा चञ्चरीक विद्वत्पाठकों के करकमलों में है। अवशिष्ट कारिकाओं पर सञ्जीवन भाष्य का द्वितीय भाग शीघ्र प्रकाश्यमान है।

डॉ. शिव सागर त्रिपाठी
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

अभिशंसा

डा. रामेश्वर शर्मा
कुलपति

राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

मैंने श्री अमृतवाग्भवाचार्य–प्रणीत श्रीराष्ट्रसञ्जीवन-भाष्य एवं डा. शिवसागर त्रिपाठी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग द्वारा लिखित राष्ट्रालोकसार सहित 'राष्ट्रालोक' का अवलोकन किया। यह ग्रंथ यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व लिखा गया था, किन्तु इसमें राष्ट्रपरक और शासन सुव्यवस्था सम्बन्धी जिन शाश्वत तथ्यों की उद्‌भावना की गई है, उनसे राष्ट्रवाद का कोई विषय ऐसा नहीं रहा, जिस पर आचार्यश्री ने अपने इस भाष्य में विस्तार से प्रकाश न डाला हो। इस कृति को भारतीय परिप्रेक्ष्य में भले ही एकदेशिक कहा जाय, पर वस्तुतः यह राष्ट्र, राष्ट्रियता, राष्ट्रशिक्षा और स्वतन्त्रता के योगक्षेम से सम्बद्ध विश्वजनीन है।

अद्यावधि अप्रकाशित श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्य सहित 'राष्ट्रालोक' के प्रथम भाग का भाषासारसहित सम्पादन एवं प्रकाशन कर डा त्रिपाठी ने महान् राष्ट्रोपकार किया है और संस्कृत वाङ्मय को अभिवृद्ध किया है। मैं इस ग्रंथ के सर्वतोभद्र प्रसार की कामना करता हूं और डा. त्रिपाठी को इस आशा के साथ साधुवाद देता हूं कि शीघ्र ही ग्रंथ का द्वितीय भाग इस रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत होगा।

—रामेश्वर शर्मा

उपक्रम

यह हमारे लिए गौरव और प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक डा. शिवसागर त्रिपाठी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, ने साधना, सिद्धि और वैदुषी के लिए सुप्रसिद्ध श्री अमृतवाग्भवाचार्य की एक महनीय कृति 'राष्ट्रालोक' को, आचार्य-प्रणीत 'श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्य' के साथ सम्पादित कर उसे बहुजनहिताय एव बहुजनसुखाय बनाने हेतु प्राञ्जल हिन्दी में राष्ट्रालोक एवं उसके भाष्य का सार प्रस्तुत किया है। यह कार्य अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। आज अपना देश राष्ट्र के रूप में अस्तित्व एव अस्मिता की सुरक्षा के लिए संघर्ष और आतंक में फंसा हुआ है। सामान्यतः प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्र आर्थिक और राजनीतिक दुश्चक्र में फंसा है, पर शायद अधिक सच यह है कि उसका सांस्कृतिक संकट अधिक गहरा गया है। स्वतन्त्रता के सूर्योदय के कई वर्ष पूर्व श्रीमद्अमृतवाग्भवाचार्य की क्रान्त दृष्टि ने सन् 1934 में राष्ट्र-स्वरूप के सम्बन्ध में अपने चिन्तन को संस्कृत में अभिव्यक्त किया था, जिसका पद्यात्मक प्रकाशन ही हुआ था। इसी चिन्तन का विस्तार सन् 1948 में स्वतन्त्रता के सूर्योदय के पश्चात् भी हुआ था। तब से लेकर आज तक भारतीय राष्ट्र के रूप में सन्त का चिन्तन-मनन प्रसुप्त एव मूच्छित सा था, क्योंकि सामान्य जनता का इससे सीधा सरोकार नहीं हो पाया था। डा. त्रिपाठी का यह नवीन प्रकाशन उस समस्या की पूर्ति है। इसलिए निश्चय ही यह कार्य श्लाघ्य भी है और सामयिक भी है। वस्तुतः 108 पद्यों के भाष्य के साथ भाषान्तर में प्रस्तुति का यह प्रथम खण्ड मात्र है। इसके प्रकाशन के साथ ही पाठक को 36 पद्यों के आगे शेष पद्यों के उसी रूप में सम्पादन एवं रूपान्तरण की उत्सुक प्रतीक्षा रहेगी।

श्री अमृतवाग्भवाचार्य काश्मीर के शैव दर्शन, जिसे त्रिक दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में भी जाना जाता है, के सिद्ध आचार्य थे। उन्हें न केवल इस दर्शन का अपितु अन्य साधना-प्रधान दर्शनों का भी सहज विज्ञान था। वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि थे, जिन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों में 'शिवदृष्टि' की आधारभूमि बनाकर चिन्तन के क्षेत्र में नए क्षितिजों का उन्मेष किया था। 'राष्ट्रालोक' भी उसी प्रकार की एक महती कृति है। शैव दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है, 'स्वातन्त्र्य'। यह कर्तृत्व का पर्याय है। अनेक भारतीय दर्शनों में कर्तृत्व को

विकार माना जाता है, उसे ईश्वर अथवा आत्मा की ईशिता, सामर्थ्य, पूर्णता अथवा परता का पर्याय नहीं माना जाता। इसलिए वेदान्त का ब्रह्म और सांख्य का पुरुष दोनों निर्विकार हैं। वे कुछ कर नहीं सकते। सारा कर्तृत्व माया अथवा प्रकृति का है, ब्रह्म या ईश्वर विकार से और इसलिए कर्तृत्व से अकलुषित है। शैवदर्शन की दृष्टि से स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व का यह अभाव चैतन्य को जड़ बना देता है। निष्क्रिय चेतना जड़मणि की तरह है। कर्ता स्वतन्त्र होता है - 'स्वतन्त्रः कर्ता' जो स्वतन्त्र नहीं, वह कर्ता नहीं माना जा सकता। इसलिए वेदान्त, सांख्य और न्याय के ईश्वर को इस जगत् का कर्ता अथवा संहर्ता कैसे स्वीकार किया जा सकता है। इसके विपरीत त्रिक दर्शन के स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार न केवल परम प्रमाता शिव, अपितु प्रत्येक परिमित प्रमाता (जीव) चेतन एवं स्वतन्त्र है। वह प्रकाश भी है और विमर्श भी। स्वतन्त्रता एव चेतना उसका स्वभाव है, आगन्तुक धर्म, गुण, अवच्छेदक या उपाधि नहीं। इस मान्यता के आलोक में 'राष्ट्रालोक' परतन्त्र भारत में स्वतन्त्रता का चिन्तनमूलक सांस्कृतिक शंखनाद था। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि देश की समस्याओं को लेकर जो स्वातन्त्र्यमूलक चिन्तन प्रस्तुत किया गया था, उसकी ओर संस्कृत से अपरिचित लोगों का ध्यान नहीं जा सका। डॉ. त्रिपाठी द्वारा यह प्रकाशन उस कमी को पूरा करने का प्राथमिक सोपान है।

संस्कृत में लेखन की एक सुव्यवस्थित पारम्परिक पद्धति है। पहले सूत्र या कारिका में चिन्तन का बीज वपन किया जाता हैं और फिर वृत्ति, विवरण, टीका या भाष्य के द्वारा कारिका में निबद्ध बीजाक्षरों का अंकुरण, पल्लवन एवं पुष्पायन किया जाता है। इसी पद्धति को आचार्यश्री ने राष्ट्रालोक में अपनाया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ शैवी चित्कला की वन्दना से होता है, जो राष्ट्र रूपी वृषकेतु की चेतना शक्ति है। राष्ट्र को शिव के रूप में और उसी की चेतना की शक्ति रूप में कल्पना लेखक की दृष्टि को प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ पुराण एव नवीन के बीच में सेतुबन्ध का कार्य करता है। इसमें जिन विषयों पर नवीन राष्ट्रदृष्टि का उन्मीलन किया गया है, उनमें से कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'राष्ट्र, राष्ट्रियता, स्वराष्ट्र-शिक्षा, सहशिक्षा, सैनिकशिक्षा, राष्ट्रभाषा, धर्म्यभाषा, ग्रामीण क्षेत्रोत्थान, प्रतिग्राम में पाठशाला और प्रतिमण्डल में महाविद्यालय की स्थापना, आदर्श शिक्षकों की व्यवस्था, अराष्ट्रियों, राष्ट्रघातियों और आततायियों से सतर्कता और सुदृढ़ गुप्तचर व्यवस्था आदि। आचार्य की दृष्टि में राष्ट्र की अभिधारणा मुख्यतः सांस्कृतिक है। अतः इस सम्बन्ध में उनका यह पद्य उद्धरणीय है—

समानसंस्कृतिमतां यावती पितृपुण्यभूः ।
तावतीं भुवमावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते ।।रा. 3।।

परतन्त्रता को अभिशाप मानकर उनका यह कथन भी अत्यन्त सामयिक और प्रेरणास्पद है—

पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति ते नराः ।
ये राष्ट्रार्थं न जानन्ति मत्तुमात्मविरोधिनः ।।रा. 12।।

राष्ट्रीय शिक्षा और राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त राष्ट्र की शिशु-सम्पत्ति और युवा-सम्पत्ति कैसी हो, इस सम्बन्ध में उनका समस्त चिन्तन पद्य संख्या 15 से 36 तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

अत्यन्त सरल और प्राञ्जल संस्कृत में राष्ट्र-सम्बन्धी चिन्तन के लिए उपनिबद्ध पद्य वस्तुतः प्रत्येक भारतवासी के लिए पठनीय हैं । इन सरल पद्यों का भाष्य निश्चित ही अत्यन्त गम्भीर है और यह विद्वानों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा । मूल और भाष्य के मर्म को प्रामाणिक किन्तु साथ ही सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत करने के लिए डा. त्रिपाठी हम सभी के बधाई के पात्र हैं ।

मुझे विश्वास है कि डा. त्रिपाठी की निरन्तर गतिशील सारस्वत साधना ज्ञान-विज्ञान के नए आयामों को उन्मीलित करती रहेगी ।

डा. रामचन्द्र द्विवेदी
प्रोफेसर—संस्कृत विभाग एवं
अधिष्ठाता, कला संकाय,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रास्ताविकम्

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यप्रणीतं श्रीराष्ट्रालोकमधिकृत्य विरचिते स्वोपज्ञे श्रीराष्ट्रसञ्जीवनभाष्ये तात्त्विकमोक्षाविरोधेन व्यावहारिकमोक्षस्य सविस्तरं विवेचनमस्ति । तात्त्विकमोक्षोऽयं परमशिवरूपस्तज्ज्ञानं वा व्यावहारिकमोक्षश्च राष्ट्रज्ञानम् । सर्वमिदं सर्वसमाहारमूलकशैवदर्शनानुसारं संगच्छते । एतद्दर्शनानुसारं लोकोऽयं शिवाभास इत्यस्य न हि विवर्तरूपता अपितु शिवस्यैव लीलारूपेण कोऽपि विस्तारः । एवं सति परमशिवव्यतिरिक्तत्वेनैव गृहीतस्य लोकस्यायथार्थता न तु शिवलीलाजन्यत्वात् तदन्तःपातित्वेन गृहीतस्य तस्य । एवंविधमेव लोकज्ञानं व्यावहारिको मोक्षः । लोकेस्मिन् राष्ट्रस्य कोऽपि विशेष इति राष्ट्रज्ञानमेव व्यावहारिको मोक्ष इत्यायातम् ।

शैवदर्शनानुसारं मोक्षे स्वातन्त्र्यस्य स्थितिरिति राष्ट्रदृष्टिरूपे व्यावहारिकमोक्षेऽपि साऽऽयातेति ज्ञेयम् । एवं सति राष्ट्रमत्र स्वत्वेन आत्मत्वेन वा ग्राह्यं तथैव च व्यवहर्तव्यम् । अनेनैव धर्मार्थकामानां चरितार्थता सम्पद्यते ।

एनामेव सरणिमवलम्ब्य अत्र राष्ट्रस्य तदंगानाञ्च आध्यात्मिकताऽविरोधेन युगानुसारि वर्णनं कृतम् । अनेनैव हेतुना विवेचनस्यास्य राष्ट्रियतासम्बन्धिभ्यः पाश्चात्यविद्वत्कृतविवेचनेभ्योऽयं विशेषो यत् पाश्चात्यविद्वत्कृतानि विवेचनानि राष्ट्रियभावनासंवर्धकान्यपि एतदाक्रामकरूपाविरहितानि (not divorced from aggressiue form of nationalism) परं विवेचनमेतद् आध्यात्मिकभावनानुगामित्वात् विश्वैकराष्ट्रभावनापर्यवसायीति स्थितम् । एवं सति विवेचनमेतन्न हि केवलं भारतीयजनोपयोगि अपितु विश्वजनोपयोगि राष्ट्रकल्याणकरमात्मकल्याणकरञ्च स्वीकार्यम् ।

—डा. ब्रह्मानन्द शर्मा
पूर्व निदेशक, राज. प्राच्यविद्याप्रतिष्ठानम्,
7–क–15, जवाहर नगर,
जयपुर ।

शुभाशंसा

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य विरचित 'राष्ट्रालोक' काव्य तथा उस पर कविकृत राष्ट्रसञ्जीवनभाष्य किसी स्वतन्त्र राष्ट्र के आदर्श-आकार का सैद्धान्तिक रूप है। राष्ट्र के विनाशक और उत्कर्षक हेतुओं को चिह्नित करते हुए शिक्षा के प्रचार-प्रसार को ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंचाने का जो संकेत कवि ने दिया हैं, आज के साक्षरता अभियान का वह आधुनिकतम प्रयोग है। देश की सुरक्षा व्यक्ति–व्यक्ति का धर्म है और इस भाव तथा संकल्प को दृढ़ करने के लिए सैनिक शिक्षा जैसे प्रभावी विषयों का प्रावधान होना अनिवार्य है—कवि की इस मान्यता को निश्चित ही आज के भारतवर्ष को एकान्ततः स्वीकार करना होगा। तब कहीं एकता, अखण्डता, सुरक्षा जैसी स्थापनाओं पर आने वाली शाश्वत या आकस्मिक आपदाओं का परिहार सम्भव हो सकता है। निश्चित ही 'राष्ट्रालोक' के सिद्धान्त, व्यवहृत होने पर राष्ट्र की सम्पूर्ण समस्याओं के सार्वजनीन समाधान हैं।

ग्रन्थ का सम्पादन तथा भावासार प्रस्तुत करके डा. शिवसागर त्रिपाठी, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, ने उत्तम कार्य किया है। गम्भीर विषय को भी सहज भाव से प्रकट करने की टीकाकार और सम्पादक डा. त्रिपाठी की क्षमता प्रशंसनीय है।

मैं इस महनीय कार्य के लिए डा. त्रिपाठी को साधुवाद देता हूं।

—डा. आर. पी. द्विवेदी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
राची विश्वविद्यालय, रांची (म. प्र.)

[2]

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य प्रणीत 'राष्ट्रालोक' पुस्तक का कविकृत राष्ट्रसञ्जीवन भाष्य देखने का शुभ अवसर मिला। इसका सम्पादन एवं राष्ट्रभाषा में साररूप में प्रस्तुतीकरण सम्पादक ने बड़ी कुशलता से किया है, क्योंकि इसमें कविविचारित कोई बिन्दु छूटने नहीं पाया है। वस्तुतः राष्ट्र को सतयुगी परिस्थितियों में विनिर्मित करना आज की महती

आवश्यकता है । आज की विषम स्थितियों से यदि हमें मुकाबला करना है एवं वातावरण बदलना है, तो इन्हीं आर्ष मान्यताओं को अंगीकार करना होगा । राष्ट्र की उन्नति कैसे हो ? वह सुदृढ़ और आत्मनिर्भर कैसे बने ? अराष्ट्रियों पर अंकुश कैसे रखें ? शिक्षा-भाषा का स्वरूप क्या हो ? राष्ट्रनिर्मात्री पीढ़ी स्वस्थ एवं सशक्त कैसे बने ? आदि ज्वलन्त समस्याएं हैं. जिन पर ग्रन्थकार ने चिन्तन किया है । ऋषि, मार्गदर्शन में चलते हुए यदि आने वाली पीढ़ी को प्रखर प्रेरणा मिल सकी, तो यह कार्य सफल माना जायगा । साधुवाद

—डा. प्रणव पण्डया (एम डी.)
निदेशक, ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान हरिद्वार

निवेदन

ग्रात्मीय !

व्यावहारिक कल्याण का मार्गदर्शन करने की दृष्टि से वीतराग ब्र० पूज्यपाद अनन्त श्री स्वामी श्रीमद् ग्रमृतवाग्भवाचार्य जी ने सार्वभौम राष्ट्रवाद की भावनाओं से ओतप्रोत एक अद्भुत दार्शनिक ग्रंथ 'श्री राष्ट्रालोक' का वि. संवत् 1990 में प्रणयन किया था। इसमें 108 कारिकाएें है, जो सूत्ररूप में हैं। इसका मुल सानुवाद संस्करण पूर्व में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु उन कारिकाओं के रहस्यों तथा शासन सुव्यवस्था के सम्बन्ध में सुविस्तृत विश्लेषण कर आचार्य श्री ने 'श्रीराष्ट्रसंजीवनभाष्य' की संस्कृत रचना वि. संवत् 1993 में की। इसे उन्होंने व्यावहारिक मोक्ष शास्त्र के नाम से भी अभिहित किया है। यह वह समय था जब भारत परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था, विदेशी शासकों के अनाचारों से उनका मन-मस्तिष्क उद्वेलित हो उठा, राष्ट्रनिष्ठा ही अध्यात्म का पर्याय बन गई और इस कृति का सृजन हो गया। तभी से इस भाष्य का प्रकाशन चिर-प्रतीक्षित रहा है।

इस ग्रंथ के प्रणेता की यह मान्यता रही कि यह ग्रंथ संसार के प्रेय: साधन में परमोपयोगी होने के साथ-साथ परम्परया श्रेय:साधन में भी परमोपयोगी सिद्ध होगा।

श्रीराष्ट्रालोक ग्रंथ के विश्लेषण पर आचार्यश्री के अनन्य भक्त स्व. श्री रमानन्द सारस्वत के अनेक लेख हिन्दी भाषा में 'श्रीराष्ट्रालोकावलोकनम्' शीर्षक से 'स्वाध्याय' पत्रिका के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए है। इसके अतिरिक्त राजस्थान विश्वविद्यालय के एम्. फिल्. संस्कृत के विद्यार्थी श्री राकेश मिश्र के द्वारा भी इस ग्रंथ पर एक लघु शोध प्रबंध लिखा जा चुका है।

पूज्यपाद आचार्य श्री की संस्कृत रचनाओं का समालोचनात्मक अध्ययन विषय पर भी कु. उर्मिला गुलाटी ने अपनी पी-एच्. डी. की उपाधि के लिये लिखे शोधप्रबन्ध में इस ग्रंथ का साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण किया है।

श्री राष्ट्रसजीवन भाष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि पाणिनीय व्याकरण में जो स्थान पातंजल महाभाष्य का है तथा वेदान्त में जो स्थान ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य का है, वही स्थान राष्ट्रवाद में श्री राष्ट्रसंजीवन भाष्य का है

राष्ट्रवाद से सम्बन्धित सभी विषयों पर इस भाष्य में समुचित प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत प्रकाशन में 'श्रीराष्ट्रालोक' की 108 कारिकाओं में से केवल छत्तीस कारिकाओं का भाष्य है। शेष अगले खण्डों में प्रकाशित किये जाने की योजना है।

इस खण्ड का हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन राजस्थान के सुविज्ञ विद्वान् डा. शिवसागर त्रिपाठी एवं श्री पद्म शास्त्री ने किया है। दोनों ही महानुभाव पूज्यपाद आचार्य श्री के सम्पर्क-सान्निध्य में यथावसर आते रहे हैं।

आशा है, सहृदय पाठक गण प्रकाशन की त्रुटियों को क्षमा करते हुए ग्रंथ में उल्लिखित राष्ट्रवादी दर्शन से स्वयं का एवं राष्ट्र का हित-साधन करेंगे।

सर्वश्री डा. शिवसागर त्रिपाठी, पं. पद्म शास्त्री, प्रकाशक देवनागर प्रकाशन एवं सहयोगी संस्था 'विद्वद्वरकल श्री राधाकृष्ण धार्मिक संस्थान, नई दिल्ली' के प्रति हार्दिक आभार, जिनके सहयोग, उत्साहवर्द्धन तथा अथक परिश्रम के बिना इस प्रकाशन का प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं था।

अभिन्न
दुर्गादत्त शर्मा
अध्यक्ष
श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य सांस्कृतिक
शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर

सियाराम गर्ग
मन्त्री

विषयानुक्रमणिका

राष्ट्रालोकः

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यप्रणीतः

राष्ट्रालोकः

[सञ्जीवन-भाष्य-सहितः]

अक्षरामिन्दुकलितामुदारां बिन्दुनादिताम् ।
अमृतां वाग्भवां शैवीं तां वन्दे चित्कलामहम् ॥

इह खल्वभिनवरमणीये परशिवरूपे विश्वस्मिन्नपि विश्वमण्डले स्वविलासाय कल्पितजडाऽजडाऽऽराममण्डल-विभागविभाजिते सर्वोऽपि साऽपेक्षो जीवलोकव्यवहारः सप्रयोजनो लक्ष्यते । तमेवैनं व्यवहारं सम्पादयितुं शैवादिब्राह्मान्तानां विश्वेषां वेदानां प्रवृत्तिः । तानेवं वेदान् परशिवविभूतिरूपा महर्षयो दुःखनिवृत्तिपूर्वकसुखसमवाप्तये शरणाऽऽपन्नजीवलोकानां श्रेयोमार्गनिरूपणाय तत्तदधिकारानुरूपं निरूपयामासुः । स एवाऽनन्तो वेदराशिः शिष्यप्रशिष्यसमुदायपरम्परया सर्वत्र प्रसरन् साधयँश्च जीवलोक-कल्याणं विजयतेतराम् । जीवलोकस्याऽपि खल्वार्याऽनार्येति द्विविधतया तत्कल्याणमप्यनुग्रहनिग्रहेति द्विविधशक्त्यधीनमिति सर्वजनविदितो वृतान्तः । तत्र भद्रनीतिप्रधाना आर्या अभद्रनीतिप्रधानाश्चानार्याः । सर्वतोभद्रैकतोभद्रैकतोऽभद्रसर्वतोऽभद्रप्राधान्येन

इस परम–रमणीय, परशिवस्वरूपात्मक चराचर सम्पूर्ण विश्व में प्राणियों का व्यवहार अपने जीवन-यापन के लिए सप्रयोजन किया जाता हैं । जीवों के इन व्यवहारों को चलाने के लिए ही शैव से लेकर ब्राह्म सम्प्रदाय तक सम्पूर्ण वेदान्त प्रवर्तित हुए हैं । परशिव विभूति स्वरूप महर्षियों ने, शरणागत जीवों के दुःखों की निवृत्तिपूर्वक सुखों की प्राप्ति एवं (पारलौकिक) कल्याणमार्ग बतलाने हेतु, साधिकार उन वेदों का निरूपण किया है । वह अनन्त वेदराशि शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से, सर्वत्र प्रसार को प्राप्त होती हुई, जीवों का कल्याण साधती हुई, आज भी विद्यमान है ।

जीवलोक में भी आर्य, अनार्य दो प्रकार की सृष्टि है । जीवों का कल्याण भी अनुग्रह एवं निग्रहरूपा द्विविध शक्ति के अधीन है । यह वृत्तान्त सर्वविदित है ।

चतुर्विधो लोक इत्यादि प्रस्तुतग्रन्थकृत्प्रणीत 'श्रीक्रान्तिकौमुदीतो'ऽव-सेयम् । जीवलोककल्याणमपि पारमार्थिकव्यावहारिकभेदेन' द्विविधम् । पारमार्थिकलोककल्याणमार्गं श्रीग्रात्मविलासादिग्रन्थैः सम्यङ् निरूप्य व्यावहारिकलोककल्याणमपि सम्यङ् निरूपयितुं समस्तनयवेदसारभूत-मिव सर्वतोभद्रनीतिप्रधानं "श्रीराष्ट्राऽऽलोक" नामानमन्वर्थं ग्रन्थं विधित्सुर्निर्विघ्नतासम्पत्तये शिष्यशिक्षायै च विशिष्टशिष्टाऽऽचारविषयं मंगलं तन्त्रेण बीजरूपेण सर्वमपि वक्ष्यमाणग्रन्थतात्पर्यं च ग्रन्थघटकी-कुर्वंस्तत्रभवान् नानाग्रन्थप्रणेता महामहिममण्डितः 'श्रीमानमृतवाग्भव ग्राचार्यः प्राह—

चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे वृषकेतवे ।।
पितृपुण्यभुवे तस्मै स्वराष्ट्राय नमो नमः ।।१।।

[ग्रर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों के साधन पिता, पितामह ग्रादि ग्रपने पूर्वजों के तथा ग्रपने पुण्य के उत्पत्ति स्थान, ग्रत्यन्त प्रसिद्ध वृषकेतु रूप स्वराष्ट्र को बारम्बार प्रणाम है ।।१।।

[चतुर्णाम्–पुरुषार्थानाम्–हेतवो–वृषकेतवे–पितृपुण्यभुवे-तस्मै–स्व-राष्ट्राय–नमो नमः । इति पदयोजना ।]

ग्रार्य भद्रनीति प्रधान एवं ग्रनार्य ग्रभद्रनीति प्रधान है । सर्वतोभद्र, एकतोभद्र, एकतोऽभद्र ग्रौर सर्वतोऽभद्र भेद से लोक चार प्रकार का होता है । इसका विवे-चन प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता की पुस्तक 'श्रीक्रान्तिकौमुदी' में उपलब्ध है । जीवलोक का कल्याण भी पारमार्थिक एवं व्यावहारिक भेद से दो प्रकार का है । पारमा-र्थिक लोककल्याण के मार्ग को ग्रात्मविलासादि ग्रन्थों में निरूपित करके (ग्रब) व्यावहारिक लोककल्याण का सम्यक् निरूपण करने के लिए समस्त नीति ग्रौर वेदों के सारस्वरूप तुल्य सर्वतोभद्रनीतिप्रधान 'श्रीराष्ट्रालोक' नामक ग्रन्थ की रचना के इच्छुक ग्रनेक ग्रन्थों के प्रणेता महामहिम श्री ग्रमृतवाग्भवाचार्य जो—निर्विघ्नतासम्पत्ति हेतु ग्रौर शिष्य–शिक्षा हेतु विशिष्ट ग्रौर शिष्ट ग्राचार-परम्परा से प्राप्त ग्राचार, विषय, मंगल ग्रौर बीजरूप तन्त्र से वक्ष्यमाण ग्रन्थ के समस्त तात्पर्य को इस ग्रन्थ में समाविष्ट करते हुए—कहते हैं—

कारिका–1

ग्रब प्रश्न उपस्थित होता हैं कि ये चार पुरुषार्थ कौन कौन से हैं ? पुरुषार्थ का क्या ग्रर्थ है? जो ग्रवरोहक्रम से कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों में (पूर्षु) रहने के कारण, पुरुषों के द्वारा स्वतन्त्रतया एवं पूर्णतया उपयोग किये जाने के

'चतुर्णाम्' इति। चतुर्णाम्–चतुःसंख्यावताम्। संख्या चेयं लोकव्यवहाराय कल्पितप्रकारताभेदमाश्रित्य वर्तते। नतु के ते चत्वार इत्याकाङ्क्षायामाह–'पुरुषार्थानाम्' इति, पूर्षु–अवरोहकारणसूक्ष्मस्थूलेषु शरीरेषु, शेरते–स्वपन्ति सङ्कुचिता भवन्तीति भावः। शरीरावच्छिन्नचेतना इति यावत्। ते च पुरुषा अविच्छिन्नतया, परतन्त्रतया, अपूर्णतया चाऽर्थयन्ते सर्वदाऽनवच्छिन्नतां स्वतन्त्रतां परिपूर्णतां समासतश्चतुर्विधा भवन्ति धर्माऽर्थकाममोक्षेति भेदेन। अयमभिप्रायः—

सर्वोऽपि किल जीवलोकोऽवच्छिन्नतया बद्धः सन् स्वातन्त्र्याऽपरपर्यायमोक्षमाकाङ्क्षते, अत एव सर्वेष्वपि ग्रन्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थ इति सडिण्डिमघातमुद्घोष्यते। युक्तमेवैतत्। मोक्षोऽपि द्विविधः पारमार्थिकव्यावहारिकभेदेन। पारमार्थिकस्तावन्मोक्षो विचारितः प्रस्तुतग्रन्थप्रणेत्रा आचार्येणैव **श्रीलात्मविलासे**। अत्र पुनर्व्यावहारिको विचारणीयः। ऐहिककार्येषु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यंस्वातन्त्र्याऽपरपर्यायं व्यावहारिको मोक्षः स च सकलबुद्धिमत्प्रकृतिस्थचेतनस्याऽभिलषणीयः। अयं च व्यावहारिको मोक्षौ धमर्थिकामानां मूलम्। स्वातन्त्र्यमन्तरा खलु कथं धर्माऽर्थकामाः सम्पद्येरन्,। इन्द्रियविषयोपभोगेच्छा कामः। एनं च सर्वोऽपि व्यवहारप्रवृत्तिमान् वाञ्छति जीवलोकः। स चाऽयं कामो द्रव्याधीन इति पुरुषेणाऽर्थ्यमानतया द्रव्यमर्थाऽपरपर्यायं

कारण पुरुषार्थ कहलाते है। ये पुरुषार्थ संक्षेप में चार प्रकार के हैं—धर्म—अर्थ—काम—मोक्ष।

यह सम्पूर्ण जीवलोक, परतन्त्रता के पाश में निबद्ध, स्वतन्त्रता के अन्य पर्याय-मोक्ष की कामना करता है, इसलिए सभी ग्रन्थों में मोक्ष को ही परम-पुरुषार्थ माना गया है। यह उचित भी है। यह मोक्ष दो प्रकार का है। पारमार्थिक मोक्ष तथा व्यावहारिक मोक्ष। पारमार्थिक मोक्ष का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ (राष्ट्रालोक) के प्रणेता ने अपने ग्रन्थ 'श्रीआत्मविलास' में किया है। अब यहां व्यावहारिक मोक्ष पर विचार करना है। इस व्यावहारिक मोक्ष में, ऐहिक कार्यों को करने. उन्हें न करने तथा उन्हें अन्यथा करने की सामर्थ्य है। सभी बुद्धिमान् चेतन प्राणियों द्वारा इस व्यावहारिक—मोक्ष की कामना की जाती है तथा इसे चतुर्विध पुरुषार्थों का मूल माना गया है। स्वतन्त्रता के बिना इन धर्म अर्थ काम रूप पुरुषार्थों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इन्द्रियों के विषयों की उपभोग की इच्छा ही काम है। व्यवहार-प्रवृत्ति से युक्त यह समस्त जीवलोक इस कामरूपी

पुरुषार्थः । एतौ चार्थकामाववधौ सम्पाद्यमानौ व्यवहारेऽनवस्थामापादये-तामिति विधित्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्याऽपि बुद्धिमत्प्रकृतिस्थचेतनेनाऽर्य-मानतया विधिर्धर्माऽपरपर्यायः पुरुषार्थः सुन्दपारिमृजैश्चाऽर्थकामाव-**प्राप्यावेव** । एवं चाऽर्थकामयोर्मूल विहितस्तक्रियाकलाप इति निर्णीतं भवति । एवं च स्वदेशकालवर्णाऽऽश्रमाऽऽचाराऽनुकूलसमस्तलोककल्याण-कारिव्यवस्थाकारिविहितक्रियाकलापो धर्म इति फलितम् ।

अयं धर्मो द्विविधः इष्टपूर्तभेदेन । इष्टरूपो धर्मस्तावत्तत्राऽदृष्टफल-द्वाराऽर्थकामादिप्रापकः । पूर्तरूपः पुनः प्रायेण दृष्टफलद्वाराऽथकाम-प्रापकः । सर्वथाऽप्यर्थकामयोर्मूलं धर्म इति तत्त्वम् । एतेन धर्मस्तावत् प्रथमः पुरुषार्थ इति फलितम् । कामधर्मयोरन्तरालवर्ती चार्थो द्वितीयः पुरुषार्थः । तृतीयश्च व्यावहारिकोऽन्तिमः कामः पुरुषार्थः । एतत्त्रितय-निदानभूतो व्यावहारिको मोक्षः परमः पुरुषार्थः । एवम्भूता पुरुषार्थाः । तत्र प्राधान्येन धर्मनिरूपणपराणि शास्त्राणि तथैवाऽर्थनिरूपणपराणि त्वर्थशास्त्राणि । अथ तथैव कामनिरूपणपराणि कामशास्त्राणि । पुनः शास्त्रे "श्रीराष्ट्रालोके" एतत्त्रितयनिदानभूतो व्यावहारिकः परम-पुरुषार्थो मोक्षः प्राधान्येन निरूपयिष्यते इति तदिदं "श्रीराष्ट्रलोक" नामकं मोक्षशास्त्रम् । तत्फलभूततया तदङ्गत्वेनाऽन्येषामपि निरूपण-मत्र । भवतु । तदेव प्रतिपादयितुमाह–'हेतवे' इति । तेषां पुरुषार्थानां

पुरुषार्थ में ही प्रवृत्त है । यह काम द्रव्य के अधीन है, क्योंकि पुरुष द्रव्य की ही कामना करते हैं । इसीलिए द्रव्य, अर्थ का ही पर्याय बनकर पुरुषार्थ शब्द की सार्थकता को द्योतित करता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जीवलोक का सम्पूर्ण कार्य-कलाप अर्थ एवं काम का ही मूल है । इस प्रकार अपने-अपने देश के काल के, वर्णाश्रम के आचार के अनुकूल कल्याणकारी व्यवस्था को ही धर्म कहा जाता है ।

यह धर्म भी इष्ट एवं पूर्त भेद से दो प्रकार का है । इष्ट धर्म अदृष्ट फलके द्वारा अर्थ एवं काम को प्राप्त कराता है, पूर्तधर्म दृष्ट फल के द्वारा अर्थ एवं काम को प्राप्त कराता है । रहस्य की बात यह है कि धर्म, अर्थ एवं काम का ही मूल है । अतः प्रथम पुरुषार्थ धर्म है । काम एवं धर्म के मध्य स्थितिवाला अर्थ द्वितीय पुरुषार्थ कहलाता है । तीसरा और अन्तिम व्यावहारिक पुरुषार्थ यह काम है । इन तीनों पुरुषार्थों का मूलभूत व्यावहारिक मोक्ष रूप जो पुरुषार्थ है, वही परम पुरुषार्थ है ।

हेतवे–कारणाय । आदिकारणायेति यावत् कारणताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नयावत्कारणकलापमूलभूताय । करणरूपायेति' तात्पर्यम् । पराधीनानां खलु न कोऽपि पुरुषार्थः सम्पद्यते प्रत्युतैतद्विघटनमेव' भवति सिषाधयिषाव्याकुलान्तरङ्गाणामपि पुरुषाणामिति प्रत्यहं दरीदृश्यते लोके । अथ कोऽयं हेतुः पदार्थ इति वर्णयति 'वृषकेतवे' इति । वृषः—धर्मः । "वृषो हि भगवान्धर्मः" (मनु. 8.16,) इत्यादिमन्वादिवचनान्यत्र प्रमाणानि । तस्य केतुः–ध्वजः चिह्नमिति यावत्, तस्मै । यथा पर्वतादौ पक्षे धूमादिलिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो वह्न्यादेः सत्ताऽनुमीयते लोकेन तथैव स्वातन्त्र्यरूपलिङ्गज्ञानेन राष्ट्रे पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य परमधर्मस्याऽपि सत्ताऽनुमीयत इति तात्पर्यम् अथवा षष्ठीबहुव्रीहिसमासमाश्रित्य व्याख्येयमिदं पदम् । वृषः—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितपरमधर्मः केतुः—चिह्नं यस्य सः । व्यावहारिकं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमिति यावत् । पूर्वोक्तलक्षणलक्षितपरमधर्मं दृष्ट्वा तत्रसम्पूर्णस्वातन्त्र्यमनुमीयते लोकेनेति भावः । एवं च त्रिवर्गनिदानभूतपरिपूर्णस्वातन्त्र्याऽपरपर्यायव्यावहारिकमोक्षस्वरूपाय परमधर्मायेति फलितम् । तथा चाऽऽह महर्षि-**याज्ञवल्क्यः**—

इसी प्रकार धर्म का निरूपण करने वाले शास्त्र धर्मशास्त्र तथा अर्थ का निरूपण करने वाले शास्त्र अर्थशास्त्र और काम का निरूपण करने वाले शास्त्र कामशास्त्र कहलाते हैं । इस 'राष्ट्रालोक' ग्रन्थ में व्यावहारिक मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ का ही मुख्य रूप से निरूपण किया गया है । इसीलिए इस राष्ट्रांलोक को मोक्षशास्त्र भी कहा गया है । इस मुख्य पुरुषार्थ के अंगभूत अन्य पुरुषार्थों का भी प्रासंगिक रूप से इस ग्रंथ में निरूपण हुआ है । इसलिए प्रथम कारिका में उन पुरुषार्थों के आदिकारण के लिए 'हेतवे' पद का प्रयोग किया गया है । पराधीन व्यक्तियों का कोई पुरुषार्थ सम्पन्न नहीं होता, अपितु उसे सिद्ध करने के इच्छुक व्याकुलहृदय व्यक्तियों में इसका विघटन ही होता है ।

'वृषकेतवे' का अर्थ धर्म-ध्वज से है । क्योंकि स्मृतियों में वृष को साक्षात् धर्म माना गया है, जैसे पर्वत पर उठने वाले लिङ्ग स्वरूप धुंए आदि से लिङ्ग वह्नि आदि की सत्ता मानी जाती हैं, उसी प्रकार स्वातन्त्र्य रूप लिंग-ज्ञान से राष्ट्र में परमधर्म रूप लिंगी की सत्ता को स्वीकार किया गया है । अथवा इस पद का अर्थ षष्ठी बहुव्रीहि समास से किया जा सकता है । वृष-परमधर्म है, केतु-चिन्ह जिसका, अर्थात् जो त्रिवर्गनिदान स्वरूप पूर्ण स्वातन्त्र्यमय व्यावहारिक मोक्ष रूप परमधर्म के लिए है । महर्षि-याज्ञवल्क्य ने भी इस परमधर्म की

इज्याऽऽचारदमाऽहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्, ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।। (या. स्मृ 1.8)इति

योगेन कर्मकौशलेनोपायभूतेन आत्मनः परिपूर्णस्वातन्त्र्यस्य । दर्शनं विज्ञानं, परमः सर्वोत्तमः, धर्मः त्रिवर्गनिदानभूत आनन्दः, अय तु—अयमेव इज्याऽऽचारादिषु विहितक्रियाकलापेषु । अस्तीति शेषः । अत एव तत्र भवान् महर्षिरापस्तम्बोऽप्याह—"आत्मलाभान्न परं विद्यते" इत्येवंरूपेण । ननु सर्वतः पराधीनानामस्माकं किमनया धर्मादिचर्चयेति परिहरन्नाह—'पितृपुण्यभुवे' इति । मातरश्च पितरश्च-पितरः "पिता मात्रा" (पा. सू. 1.2.70) इत्येकशेषेद्वन्द्वे । ते च पुण्यं पारलौकिकसुखप्राप्तिजनकमदृष्टविशेषः । तेषां भूः भूमिः उत्पत्ति-स्थानमिति भावः तस्यै । अयं भावः–पारतन्त्र्यं हि नाम नाऽस्माकं स्वभावः तस्द हि पितृपुण्यभूत्वाऽभावात् । पितृपुण्यभूः पुनरस्माकं परि-पूर्णं स्वातन्त्र्यं वृषकेतुः, अतः स्वातन्त्र्यं जन्मसिद्धोऽधिकारोऽस्माक-मिति । अथ कोऽयं पदार्थ एतैः सर्वैर्विशेषणैर्वर्ण्यते तदाह—'तस्मै' 'इति' अतिप्रसिद्धाय । परोक्षतया पूर्वोक्तलक्षणलक्षितपरमधर्मप्रचारेणाऽनुमेयाय परमधर्मिरूपिणे इति यावत् तथा चोक्तम्—

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ।।इति ।

प्रत्यक्षपदार्थानाँ ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणाऽधीनम् । परोक्षपदार्थानां ज्ञानमनुमानप्रमाणाऽधीनम् । अपरोक्षपदार्थज्ञानं च शब्द प्रमाणाऽधीन-मित्यादि निरूपितं श्रीलात्मविलासव्याख्यायामिति तत्तत एव समव-

---

व्याख्या की है (याज्ञ. स्मृति 1-8) अर्थात् कर्मकौशलरूपी योगादि उपाय से प्राप्त होने वाला पूर्णस्वतन्त्र-दर्शनादि विज्ञान ही धर्म है । आचार्य-आपस्तम्ब ने भी कहा है—आत्मलाभ से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है ।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हम जैसे पराधीन (किन्तु अब स्वतन्त्र)[1] लोगों को इस धर्म की चर्चा करने से क्या लाभ ? इस शंका का समाधान करने के लिए ही ग्रन्थकर्त्ता ने प्रथम कारिका में 'पितृपुण्यभुवे' विशेषण की योजना की है । इसका भाव है कि यह भूमि हमारे पूर्वजों द्वारा सेवित एवं पुण्य प्रदान करने वाली तथा पारलौकिक सुख देने वाली है । पराधीनता हमार, स्वभाव

---

1. मूल ग्रन्थ सम्वत् 1990 में लिखित ।

लोकनीयं सुधीभिः। प्रसिद्धमेव सर्वसाधारणानां मन्दमतीनामपि ज्ञानदाढर्याय विवृणोति—'स्वराष्ट्राय' इति। स्वेन स्वकीयेन शासनादिना राजते दीप्तिमद्भवति, तस्मै। स्वयन्दीप्तस्वभावाय परिपूर्णस्वातन्त्र्यायेति भावः। 'नमो नमः'–पुनः पुनः प्रणामः समेषां भवितुमर्हति। ईदृशस्यैव परमपुरुषार्थस्य वारं वारं विजय उद्घोषयितुमर्ह इत्युक्तं भवत्यनेन। पक्षान्तरे तस्मै अत्यन्तं परोक्षभूताय। सर्वेषां प्रमाणानामपि परोक्षभूतायेति यावत्। अयं भावः–सर्वेषां प्रमाणानां प्रामाण्यमेव यमवलम्ब्य विजयते सोऽप्रमेयः कथं प्रमाणगोचरः स्यात्। अतो युक्त एव तच्छब्दप्रयोगः। ननु सर्वप्रमाणाऽगोचरस्याऽत्यन्तमसिद्धतया 'तस्मै' इति निर्देशस्याऽप्यसङ्गतत्वं प्रसज्येत इत्याह–'स्वराष्ट्राय' इति स्वप्रकाशस्वभावायेति भावः। एतेन सर्वप्रमाणनिदानभूतः स्वतः सिद्धः सर्वशक्तिस्वरूपः परशिवः सर्वदैव प्रतीयते यस्मै सर्वदा सर्वैः सर्वत्र पुनः पुनः प्रणामः क्रियते। अतो न 'तस्मै' इतिनिर्देशस्याऽनुपपत्तिरिति व्यज्यते। अनेनैव च सर्वशक्तिमत्ता, तया च सर्वप्रमाणगोचरत्वमप्यस्य ध्वन्यते। 'पितृपुण्यभुवे' मातृशब्द इहोपादानकारणताऽवच्छेदकधर्माऽवच्छिन्नमात्रोपलक्षणः, पितृशब्दश्चेह निमित्तकारणताऽवच्छेदक धर्माऽवच्छिन्नमात्रोपलक्षणः तयोर्द्वन्द्वैकशेषः, अनयोः 'पुण्यभूः' सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहाऽनुग्रहेति पञ्चविधकृत्याऽधिष्ठानं महाबिन्दुः पुण्यशब्दोऽत्र सुन्दराऽपरपर्यायः। सौन्दर्यं चाऽभिनवरमणीयतया, पञ्चविधकृत्यैश्च तदुपभोग

नहीं है, क्योंकि उसमें पवित्र पितृभूमित्व का भाव नहीं है। स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार, है क्योंकि इसमें पितृभू का भाव है और इसमें परिपूर्ण स्वतन्त्रता का धर्मकेतु विद्यमान हैं। कारिका में 'तस्मै' पद अति प्रसिद्धि को व्यक्त करता है अर्थात् जो पूर्वोक्त लक्षण-लक्षित परमधर्म के प्रचार से अनुमेय है।

प्रत्यक्षपदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से होता है तथा परोक्ष पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से। प्रत्यक्ष पदार्थ का ज्ञान शब्दप्रमाण से ही हो जाता है–यह बात श्री आत्मविलास की व्याख्या में कही गई है। इस प्रथम कारिका में 'स्वराष्ट्राय' पद का अभिप्राय है कि जो स्वयं दीप्तिमान् होता है, स्वातन्त्र्यादि गुणों से सुशोभित होता है, जिसमें स्वतःसिद्धता सर्वशक्तिमत्ता एवं कल्याण का भाव है। 'नमो नमः से तात्पर्य है कि ऐसे राष्ट्र के लिए हमारा पुनः पुनः प्रणाम है। 'पतृ-पुण्यभुवे' पद का अभिप्राय है-जिसमें सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह रूप पञ्चविध अधिष्ठान हो, जो अभिनव सोन्दर्यादि से रमणीय हो। पितृ पद से मातृ पद की भी अनुवृत्ति होने से यहां मातृपितृपदशक्ति-भगवान्

इत्यलं सिद्धाऽऽचाररहस्योद्धाटनेनेति प्रकृतं प्रस्तूयते । अत्रेदमपि बोध्यम्– मातृशब्देनाऽत्र भगवतोऽष्टविधा प्रकृतिर्ज्ञेया पितृशब्दश्च जीवरूपैकविध-प्रकृतिं बोधयति, पुण्युभूशब्दश्च द्विविधप्रकृत्यधिष्ठातारं परमात्मानं बोधयति, तेन च स्वप्रकृत्यधिष्ठानमिति फलितम् तादृशाय 'वृषकेतवे' पूर्णाऽनुग्रहप्राप्याय तद्रूपायैव वा परशम्भवे । वृषकेतुशब्दः शिववाचकः सर्वत्र प्रसिद्धः । सोऽयं परशम्भुरेव धर्माऽर्थकाममोक्षेति चतुर्विधपुरुषा-र्थानां निदानम् । अतो वारं वारमस्मै प्रणामो योग्य एवेति फलितम् । अत्रेदमपि बोध्यम्—व्यावहारिक चतुर्विधपुरुषार्थानां साधनं शरीरमिदं यथायोग्यरसरक्तादि धात्वाश्रयम् । ते च धातवः सप्ताऽपि पूर्णजीवातु-भूतमोजोरूपमष्टमं धातुमवलम्बन्ते, तच्चौजो गव्यदुग्धदधिघृतमूत्रशकृत्सु सर्वतोऽधिकतया समुपलभ्यते इति समस्तचिकित्सकानां निर्विचिकित्सः सिद्धान्तः । अतः सर्वथाऽपि ओजसो योगक्षेमपरेण सर्वदा सर्वेण भाव्य-मित्युपदिष्टं भवति । ओजसोश्च योगक्षेमौ गोसंरक्षणेन भविष्यतः । एतदेव ध्वनयितुमाह—'वृषकेतवे' इति । अयं भावः–तत्र तत्र फुरफुरायमाणाः केतवो यथा तत्रत्यं वैशिष्ट्यं बोधयन्ति, तथा 'वृषः'

शिव को अष्टविधा-प्रकति ही है । पितृ शब्द जीव रूप प्रकृति का बोधक है । पुण्यभू शब्द, दोनों प्रकार के प्रकृति के अधिष्ठाता परमात्मा का बोध कराता है । 'वृषकेतवे' पद पूर्ण-अनुग्रह रूप परःशिव का वाचक है, जो धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप चतुर्विध पुरुषार्थों का मूल है । अतः पुनः पुनः प्रणम्य है ।

प्रकारान्तर से यहां कहा गया है कि चतुर्विध पुरुषार्थों का साधन यह शरीर है, जो रस रक्तादि सप्त धातुओं से बना हुआ है । चिकित्सकों का मत है कि ये सप्त धातु ओजो रूप अष्टम धातु के आश्रित है । यह ओज [वीर्य] दुग्ध-दधिकृतादि पदार्थों में अधिकमात्रा में मिलता है । अतः ओज को योग-क्षेम से युक्त होना चाहिए । ओज का योगक्षेम गो-संरक्षण से सम्भव है । इसी अभिप्राय का निरूपण करने हेतु यहां 'वृषकेतवे' पद का प्रयोग हुआ है । वृष (वृषभ) सर्वत्र अपनी ओजस्विता को प्रकट करता है । जब तक कोई राष्ट्र पराधीन है,[1] तब तक उस में ओजस्विता या आर्यता का भाव कहाँ ? अथवा अपना राष्ट्र कहां ? अतः सर्वप्रथम हमें अपनी इस पितृभूमि को निर्मुक्त-बन्धन करना चाहिए ।[2] इस ग्रन्थ में राष्ट्रविषयिणी सांगोपांग विवेचना रूपी विषय-वस्तु का

---

1. अब हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र है ।
2. अब यह पितृभूमि निर्मुक्त बन्धन है ।

गोत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नः केतुरिव सर्वत्र निर्भयः परिस्फुरँस्तत्रत्यामोजस्वितां सूचयति । तदेवौजस्वितया आर्यत्ववत् स्वराष्ट्रं भवितुमर्हति । राष्ट्रं राजमानः शासनीयः प्रदेश इति यावत् । तदेव स्वशासनाऽधीनं वस्तुतः स्वराष्ट्रं भवतीति भावः। भृत्यभावमापन्नानां ननु कुत ओजस्विता कुतो वा आर्यता? किं वा स्वं राष्ट्रं ? अतः सर्वादौ स्वराष्ट्रं स्वराष्ट्रं कार्यमित्यप्युपदिष्टं भवति । कतमद्राष्ट्रमेतादृक्कार्यमित्युपपादयितुमाह– 'पितृपुण्यभुवे' इति । अयमभिप्रायः—यः किल पित्राऽद्यभिजनजन्मभूत्वेन यज्ञियभूत्वेन चाऽभिमतः शासनीयः प्रदेशस्तद् राष्ट्रं तत्तादृक्कार्यमिति । सर्वं चेदं यथायथमेतद्ग्रन्थे विवेचयिष्यते । एतादृग्राष्ट्रस्य वारं वारं विजयोद्घोषः सर्वदा भाव्यमेवेति न तिरोहितं केषामपि विदुषामिति ध्वनयितुमुपात्तं 'नमो नमः' इति सर्वं समञ्जसम् ।

धर्मपदार्थविवेचनं प्रस्तुतग्रन्थकृता विस्तरेण "कल्याणसौगन्धिक" व्याख्यायां कलायां विहितमिति तत्तत एव समवलोकनीयम् । अत्र कारिकायां सर्वत्र नमोयोगे 'नमः स्वस्ति" (पा. सू. 2/3/16) इति चतुर्थी बोध्या । त्रिविधमङ्गलाऽन्यतममत्र नमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरितमाचार्येण । मङ्गलत्रैविध्यमुक्तं यथा—

आशीर्वादनमस्कारवस्तुनिर्देशभेदतः ।
मङ्गलं त्रिविधं प्रोक्तं ग्रन्थादौ तत्सुखाऽऽवहम् ।इति।

अथैतच्छास्त्रीयमनुबन्धचतुष्टयमपि प्रेक्षावतां प्रवृतये निरूपितमत्रैव कारिकायाम् । तथाहि–'स्वराष्ट्राय नमो नमः' इत्यनेनाऽत्र शास्त्रे राष्ट्रविषयिणी साङ्गोपाङ्गा विवेचना विषय इति बोध्यते । अत्रैव

विवेचन किया जायेगा । ग्रन्थ के आदि में ग्रन्थकर्ता ने नमस्कारात्मक मंगल किया है, जो 'नमोः नमः' पद से द्योतित है ।

धर्म का पदार्थ-विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता ने विस्तारपूर्वक 'कल्याणसौगन्धिकम् की व्याख्या में किया है । अतः वहीं अवलोकनीय है । 'नमः' के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है ।

शास्त्रीय अनुबंधचतुष्टय का द्योतन 'स्वराष्ट्राय नमोः नमः' से व्यक्त किया गया है । चतुर्थीयुक्त स्वराष्ट्र पद स्वातंत्र्य-प्राप्ति रूप प्रयोजन का बोध कराता है । इसका भी प्रयोजन पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति है, जो 'चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे' से स्पष्ट है । इससे विषय का ग्रन्थ के साथ प्रतिवाद्य-प्रतिवादक सम्बन्ध ज्ञात होता है । स्वराष्ट्र-सम्पन्न ही धर्मादिचतुर्वर्ग के सम्पादन में 'अधि-

तादर्थ्ये चतुर्थीमाश्रित्य स्वराष्ट्र–स्वशासनस्वातन्त्र्यं प्रयोजनमिति बोध्यते। एतस्याऽपि प्रयोजनं चतुर्विधः पुरुषार्थ इति साक्षादेवोक्तं "चतुर्णां पुरुषार्थानां हेतवे' इत्यनेन विषयस्य ग्रन्थेन सह प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः। चतुर्विधप्रयोजनो जीवलोकोऽत्र पठनेऽधिकारी। स्वराष्ट्रसम्पन्नो धर्मादिचतुर्वर्गसम्पादनेऽधिकारीति च बोध्यते। अन्यदप्यत्राऽनुबन्धचतुष्टयं विस्तरभियाऽनुक्तमपि यथायथमाकलनीयं विद्वद्भिः। इदं चाऽनुबन्धचतुष्टयमवश्यं वर्णनीयं ग्रन्थादौ तदुक्तम्—

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥इति।1॥

अथैवं मङ्गलाऽऽचरणं तन्त्रेणाऽनुबन्धचतुष्टयनिरूपणं च विधाय समस्तपुरुषार्थनिदानभूतस्वराष्ट्रस्य स्वराष्ट्रीकरणायाऽत्यन्ताऽवश्यकराष्ट्रदृष्टिं प्रस्तुवंस्तन्त्रेण मुख्यतयाऽनुबन्धचतुष्टयं च वर्णयन्नाह—

राष्ट्रदृष्टिं नमस्यामो राष्ट्रमङ्गलकारिणीम्॥
यया विना न पश्यन्ति राष्ट्रं स्वनिकटस्थितम् ॥२॥

[राष्ट्रका मङ्गल करने वाली राष्ट्रदृष्टि को हम नमस्कार करते हैं। जिस राष्ट्र-दृष्टि के विना अपने पास ही रहने वाले भी राष्ट्र को नहीं देखते हैं ॥२॥

[राष्ट्रमङ्गलकारिणीम्—राष्ट्रदृष्टिं–नमस्यामः । यया–विना–स्वनिकटस्थितं–राष्ट्रं–न–पश्यन्ति। इति पदयोजना।

कारी' है। विस्तारभय से अनुबन्ध-चतुष्टय की चर्चा किये बिना भी विद्वान् उसका आकलन कर लें। ग्रन्थ के प्रारम्भ में अनुबन्धचतुष्टय का वर्णन करना चाहिए। कहा भी गया है–

ज्ञातार्थं ज्ञात-सम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

इस प्रकार मङ्गलाचरण और अनुबन्धचतुष्टय का तन्त्रतः निरूपण करके समस्त पुरुषार्थों के आदिकारणस्वरूप अपने राष्ट्र के स्वराष्ट्रीकरण के लिए अत्यन्त आवश्यक राष्ट्रदृष्टि को प्रस्तुत करते हुए मुख्यतः अनुबन्ध चतुष्टय का वर्णन करते हैं—

कारिका–2

शासन करने योग्य प्रदेश को राष्ट्र कहते हैं। जो स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, सैन्य, दुर्ग. आदि से दीप्यमान एवं लोककल्याण का साधन होने से राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्रवादी लोगों के मत में जिस सीमायुक्त भू-प्रदेश में मनुष्य

राष्ट्रदृष्टिम्' इति । राष्ट्रं—राजमानः शासनीयः प्रदेशः । स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशसैन्यदुर्गादिभिर्दीप्यमानतया जीवलोककल्याणसाधनतया च राजमानत्वं राज्यवादिमते बोध्यम् । राष्ट्रवादिमते तु सीमाविशेषविशिष्टो मनुष्याऽधिष्ठितो राजमानो भूप्रदेशो राष्ट्रम् । तस्य दृष्टिः—ज्ञानम् । दृशिरत्र ज्ञानार्थः । राष्ट्रकर्मकज्ञानमिति भावः । कर्मणि षष्ठी ततस्तत्पुरुषः । सा तावद्दृष्टिस्त्रिविधः मित्रदृष्टिः शत्रुदृष्टिरुदासीनदृष्टिश्चेति । मित्रादयोऽपि द्विविधाः । ते यथा—सहजं मित्रं, कृत्रिमं मित्रं, सहज उदासीनः, कृत्रिम उदासीन इति । सर्वतोभद्रनीति प्रधाना आर्याः किल सहजानि मित्राणि सर्वेषां राष्ट्राणां भवन्ति । सर्वतोऽप्यभद्रनीतिप्रधाना अनार्या–पुनः सहजाः शत्रवः सर्वेषां राष्ट्राणां भवन्ति । आर्या अपि द्विविधाः राष्ट्रदृष्टय एके राज्यदृष्टयश्चान्ये इत्यादि निरूपितं श्रीक्रान्तिकौमुद्यामेव प्रस्तुतभाष्यकृतेति तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् । तत्र राज्यदृष्टय आर्या अनार्याणां जातु कारणवशान्मित्राणि भवन्ति । कारणवशाच्च कदाचिच्छत्रवो भवन्ति । एवमेव कदाचिदुदासीना भवन्ति । त एते कृत्रिममित्रशत्रूदासीना बोध्याः । राष्ट्रदृष्टय आर्या एवाऽनार्याणां सहजोदासीनाः । अतस्तेऽनार्यराष्ट्राणामपि सहजोदासीना बोध्याः । अनार्या अपि राष्ट्रदृष्टयो राज्यदृष्टयश्चेति द्विविधा उत्सः "श्रीक्रान्तिकौमुद्या" मेव वर्णिताः । ते किल कस्याऽपि राष्ट्रस्य न सहजमित्राणि भवन्ति । कारणवशात् पुनर्मित्राणि वोदासीना वा भवन्ति । शत्रुभावश्च-

---

रहते हैं, वह राष्ट्र है । राष्ट्रकर्मक ज्ञान को राष्ट्रदृष्टि कहा गया है । यह दृष्टि तीन प्रकार की है मित्रदृष्टि, शत्रुदृष्टि, उदासीनदृष्टि । ये मित्र आदि दो-दो प्रकार के हैं, जैसे सहजमित्र-कृत्रिम मित्र, सहजशत्रु-कृत्रिमशत्रु, सहज उदासीन-कृत्रिम उदासीन है ।

सब ओर से कल्याण करने वाले सर्वतोभद्रनीतिप्रधान आर्य सभी राष्ट्रों के सहजमित्र होते हैं । इसी प्रकार अकल्याणकारक अनार्य भी सभी राष्ट्रों के सहज शत्रु होते हैं । आर्य भी दो प्रकार के होते हैं-राष्ट्रदृष्टि वाले तथा राज्यदृष्टि वाले इत्यादि (समस्त) निरूपण ग्रन्थकर्ता ने 'श्रीक्रान्तिकौमुदी' में किया है । राज्यदृष्टि वाले अनार्यो के कभी कारणवश मित्र भी हो जाते हैं, कभी शत्रु भी हो जाते हैं एवं कभी उदासीन हो जाते है । इन्हें कृत्रिम मित्र, कृत्रिम शत्रु और कृत्रिम उदासीन कहते हैं । राष्ट्रदृष्टि वाले आर्य ही अनार्यों के सहज उदासीन होते हैं । इसी प्रकार अनार्य भी राष्ट्रदृष्टि वाले एवं राज्यदृष्टि वाले होते हैं । ये

नैसर्गिकस्तेषाम् । एवमेव 'राष्ट्रदृष्टिम्' इत्यत्र कर्तृषष्ठीतत्पुरुषमाश्रित्य राष्ट्रकर्तृका दृष्टिरपि विज्ञेया । एवमेतां सर्वविधां राष्ट्रस्य दृष्टिताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नां दृष्टिम् 'नमस्यामः—नमस्काररूपेण स्तोत्रेण प्रस्तुमः । "नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्" (पा.सू. 3.3.19) वयमिति शेषः । निखिल जीवलोकाऽभिलषिततमचतुर्विधपुरुषार्थनिदानभूतया राष्ट्रदृष्टेस्तस्या अस्माभिर्नमस्करणं योग्यमेवेति भावः । स्वनिरूपितकर्तृताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नकर्तृनिष्ठाऽपकृष्टताज्ञानपूर्वकस्वनिरूपितकर्मताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नकर्मनिष्ठोत्कृष्टताबोधको व्यापारो नमस्यापदार्थः । तेन नमस्याव्यापारेण वयमपि तां समस्तनमस्करणीयां सभाजयामः । तस्याः सर्वतः समुत्कृष्टतामनेन व्यापारेण द्योतयन्तस्तस्याः सर्वथा सार्वदिकं विजयमुद्घोषयाम इति यावत् । अयं व्यापारोऽपि कायिको वाचिको मानसिकश्च भवति । तत्र त्रिविधेनाऽपि व्यापारेण सभाजनं परमोत्तममित्याद्यन्यत्र ग्रन्थान्तरेषु सविस्तरं निरूपितं प्रस्तुतभाष्यकृतेति तद्विषयेऽत्र विरम्यते । 'राष्ट्रदृष्टिम्' इति कर्मणि द्वितीया । ननु कथमत्र नमोयोगे "नमः स्वस्तिस्वाहा स्वधाऽलंवषड्योगाच्च" (पा. सू. 2.3.16) इति पाणिन्याचार्यनियमिता चतुर्थी न कृता ? इति चेच्छ्रूयतां समाधानम्—अत्र हि न नमः शब्दः किन्तु 'नमस्याम' इति शब्दः । एकदेशमाश्रित्य तु

किसी भी राष्ट्र के सहज मित्र कभी भी नहीं हो सकते, कभी कभी सकारण मित्र या उदासीन हो जाते हैं । उनमें शत्रुभाव स्वाभाविक होता है । ऐसे राष्ट्रदृष्टि वाले मित्रों को नमस्कार करना ही चाहिये, आदर सत्कार करना ही चाहिये । उन मित्रों का यह सम्मान भी तीन प्रकार का होता है, कायिक, वाचिक एवं मानसिक । ऐसे सहज-मित्रराष्ट्रों का हमें सर्वतोभावेन सम्मान करना चाहिए । मैंने अपने अन्य ग्रन्थों में इसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया है ।

इससे यह ध्वनित होता है कि पहले अपने राष्ट्र का मान दृष्टि या ज्ञान से होना चाहिए । पुनः उस सम्मानित राष्ट्र से अपने चतुर्विध पुरुषार्थ की संसिद्धि करनी चाहिए । व्यक्ति का कल्याण समष्टि के कल्याण में समाहित होता है–इस दृष्टि से भी राष्ट्रकल्याण की संकल्पना करनी चाहिए । राष्ट्रकल्याण से समस्त कल्याण अवश्यम्भावी है । अतः राष्ट्र शब्द में सर्वात्मकता स्वाभाविक है । इसी समष्टि का बोध कराने के लिए यहां 'राष्ट्राणि' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है ।

नोचिता चतुर्थी एकदेशस्याऽनर्थक्यात्। 'अर्थवद्ग्रहणे नाऽनर्थकस्य ग्रहणम्' इति परिभाषितत्वादनर्थकस्याग्रहणनियमात्। व्रश्चभ्रस्ज" (पा. सू. 8.2.3) इत्यादिपाणिनिसूत्रे राजेः पृथग्भ्राजिग्रहणमेतां परिभाषां ज्ञापयतीति सर्वमिदं व्याकरणतन्त्रे परिभाषेन्दुशेखरादौ स्पष्टम्। परिभाषाया अनित्यत्वे तु "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इति नियमात् द्वितीयाऽत्र बलीयस्तया बोध्या.। उपपदविभक्तिश्च नमोयोगे चतुर्थी कारकविभक्तिश्च कर्मणि द्वितीयेत्याद्यपि शब्देन्दुशेखरादौ स्पष्टम्। स्तोत्राऽन्यतमप्रकारभूतेन नमस्कारेण प्रस्तुता राष्ट्रदृष्टिः। "यः स्तूयते स विधीयते" इति जैमनीयमीमांसानीत्या "राष्ट्रदृष्टिं नमस्यामः" (रा. 2) इत्यनेन 'राष्ट्रज्ञानमवश्यं कर्त्तव्यम्' इत्येवंरूपेण विधीयते। स्तोत्रलक्षणमुक्तं शास्त्रान्तरे—

नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः।
विभूतिः प्रार्थना चेति षड्विधं स्तोत्र-लक्षणम् ।।इति।।

तदेनं विधिवाक्यं निष्पन्नम्—दृष्ट्या—ज्ञानेन राष्ट्रं भावयेत्। भावितेन च राष्ट्रेण चतुर्विधपुरुषार्थं भावयेत्' इति एवं राष्ट्रज्ञानं

जैसे ब्राह्मवेद में एक कामना की सिद्धि के लिए एक कर्म किया जाता है तथा कभी समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए एक कर्म किया जाता है–इस सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि जिस कामना की सिद्धि के लिए जो कर्म किया जाता है, वह कर्म ही उस कामना को पूर्ण कर सकता है, उसी कामना की पूर्ति उस कर्म से सम्भव है। समस्त कामनाओं की पूर्ति-हेतु जहां एक कर्म बतलाया गया है, वहां वह उस एकमात्र कर्म से भी सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति कर सकता है, किन्तु एक बार किया हुआ सार्वकामिक कर्म सब कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता है। यदि बार बार वह कर्म किया जाय, तो समस्त कामनाओं की पूर्ति हो सकती है।

आयुर्वेद में कही एक रोग की निवृत्ति हेतु एक ओषधि का विधान है और कहीं एक ही ओषधि समस्त रोगों को दूर कर देती है—वहां यह निर्णय किया है कि जो ओषधि जिस रोग को दूर करती है वह औषधि उस रोग को तो अवश्य ही दूर करती है–परन्तू इसका यह अर्थ नहीं है कि वह ओषधि केवल उसी रोग को दूर कर सकती है। सार्वकामिक वैदिक प्रयोगवत् यहां नियम नहीं है। यथा एक बार प्रयुक्त रसायन—औषध सभी रोगों को दूर करने में समर्थ होता है—प्रत्येक रोग के लिए उस औषध का प्रयोग नहीं करना पड़ता।

कर्त्तव्यतया प्रस्तुत्य तत्फलं तदधिकारिणं च निरूपयितुमाह—'राष्ट्रमङ्गलकारिणीम्' इति । राष्ट्रशब्दस्तावदत्र योगेन चिन्मात्रं बोधयितुमीष्टे । चिद्रूपत्वं च सर्वस्याऽपि स्वरससिद्धमिति राष्ट्रशब्दोऽत्र सर्वपर्यायः । अथवा योगरूढ एवाऽस्तु राष्ट्र शब्दो राष्ट्रत्वाऽवच्छेदकाऽवछिन्न परः । व्यष्टिकल्याणस्य समष्टिकल्याणाऽधीनतया राष्ट्रकल्याणेन समस्तकल्याणस्याऽवश्यम्भावात् राष्ट्रशब्दः सर्वमेव स्वभावतः सङ्गृह्णाति सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नमिति स्थितेः । ततश्च 'राष्ट्राणि'—समस्तान्युपादेयतयेष्यमाणताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नानि । तान्येतानि किल चतुर्षु विभागेषु विभक्तानि धर्मार्थकाममोक्षेति पुरुषैरर्थ्यमानत्वात्पुरुषार्था इत्युच्यन्ते । मङ्गलानि—कल्याणानि । व्यापारमात्रं प्रत्यानन्दस्यैवोद्देश्यताऽवच्छेदकताया विदुषामनुभवसिद्धतया सर्वमपीष्यमाणं मङ्गलमेवेति विदितमेव समेषां सचेतसां विदुषाम् । तानि कर्तुं कारयितुं च शीलमस्याः सा समस्तमङ्गलनिष्ठकर्मतानिरूपितकर्तृतावत्व, समस्तमङ्गलनिष्ठप्रयोज्यकर्मतानिरूपितप्रयोजककर्तृतावत्वं च स्वाभाविकमेवाऽत्रविराजते नारोपितमिति ताच्छील्यणिनिना बोध्यते । अत्रेद बोध्यम्—यथा ब्राह्मवेदेषु एकैकस्मै कामायैकैकं कर्म क्वचिद्विहित क्वचित्सर्वस्मै कामायाऽप्येकं कर्म विहितं तत्रैवं निर्णीतमपि यत् यं काममुद्दिश्य यत्कर्म विधीयते तत्कर्मैव तं कामं भावयितुं शक्नोति, स एव कामस्तेन कर्मणा भावनीय इति च । सर्वस्मै कामाय च यत्रैकं कर्म विहितं तत्र सर्वानपि कामान् भावयितुं तत् शक्नोति, परं तत्राऽयं विशेषः—एकवारमाचरितं

इस विषय में वैशिष्ट्य यह हैं कि रोगनिवृत्ति के पश्चात् कालान्तर में पुनः प्राणी रोगग्रस्त हो सकता है । यह नियम इस सन्दर्भ में लागू नहीं होता । आत्मज्ञान में निष्णात व्यक्ति कभी भी परतन्त्र नहीं होता । एक बार आत्मज्ञान हो जाने पर वह समस्त कामनाओं को सम्पादित कर लेता है । इसके लिए उसे अन्य प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती । एक बार राष्ट्रज्ञान में निष्णात राष्ट्र सब पुरुषार्थों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है–प्रत्येक पुरुषार्थ को प्राप्त करने हेतु अन्य प्रयोग की अपेक्षा नहीं होती । वह राष्ट्र कभी भी पुरुषार्थसाधन में अक्षम नहीं हो सकता है । राष्ट्रज्ञान के अभाव में पुरुषार्थों को सिद्ध करने में वह असमर्थ हो जाता है ।

इस प्रकार व्यावहारिक समस्त फलों की प्राप्ति हेतु राष्ट्रज्ञान ही एकमात्र साधन है । इस प्रकार राष्ट्रज्ञान के फल का निरूपण करके अब इसका कौन

सार्वकामिकं कर्म न सर्वान् कामान् भावयति, किंतु प्रतिकामं वारं वारं तस्यैव प्रयोगः । एवं नाऽत्र । यथा वा ग्रायुर्वेद क्वचिदेकैकरोगनिवृत्तये एकैकं भेषजं विहितं, क्वचिदेकमेव भेषजं समस्तरोगनिवृत्तये विहितं, तत्रैवं निर्णीतमपि यत्—यद्भेषजं यं रोगं निवर्तयितुं विहितं तद्भेषजं तं रोगमवश्यं निवर्तयितुं शक्नोति । परमत्र नाऽयं नियमः, तदेव भेषजं तमेव वा रोगं निवर्तयितुं शक्नोतीति । अथ सार्वकामिकवैदिकप्रयोगवदपि नाऽत्र नियमः, यथा—एकमेव रसायनमौषधमेकवारमेव प्रयुक्तं सर्वानपि रोगान्निवर्तयितुं प्रभवति प्रतिरोगं न प्रयोगाऽऽवृत्तिः । अत्राऽपि परमय विशेषः—यद् रोगनिवृत्त्यनन्तरमपि कालान्तरेण पुनरपि रोगग्रस्तता सम्भवति । एवमपि नाऽत्र । आत्मज्ञाननिष्णातो यथा जात्वपि न पारतन्त्र्येण संसरति एकबारमेवात्मज्ञानं सम्पादितं समस्तकामान् सम्पादयितुं प्रभवति न प्रयोगाऽन्तरमपेक्षते, तथैवाऽत्राऽपि, एकवारमपि राष्ट्रज्ञाननिष्णातीभूतं राष्ट्रं सर्वानपि पुरुषार्थान् सम्पादयितुं प्रभवति, प्रतिपुरुषार्थं न प्रयोगाऽन्तराऽऽपेक्षा तस्य । जात्वपि पुरुषार्थसाधनाऽक्षमं न भवति तद्राष्ट्रमिति भावः । राष्ट्रज्ञानाऽभावे तदसमर्थं भवति पुरुषार्थसाधने इति त्वन्यदित्यलं प्रपञ्चेन ।

एवं च व्यावहारिकसमस्तफलाऽवाप्तये एकमेव राष्ट्रज्ञानं साधनतया विधीयते इति फलितम् । एतेन नित्यकाम्यविधिरयमिति

अधिकारी है ? इसका निरूपण किया जाता है । इसीलिए 'राष्ट्रमंगलकारिणीम्' पद का प्रयोग किया गया है । इस राष्ट्रज्ञान को प्राप्त करने का अधिकार मानव का ही है, न कि तिर्यगादि का । नर हो अथवा नारी—कोई भी इस राष्ट्रज्ञान को प्राप्त कर सकता हैं । इस ज्ञान को प्राप्त करने में वर्णाश्रम भी बाधक नहीं हो सकता है । इसे ग्रन्थकर्ता आचार्य राष्ट्रालोक की 42 तथा 43 कारिकाओं में स्पष्ट करेंगे । जन्म से 4 वर्ष पश्चात् सामान्यतया सभी बालकों में पढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है । चार वर्ष से अधिक आयु वाला प्रत्येक प्राणी जिसने राष्ट्रज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वह इस ज्ञान का अधिकारी है । इस प्रकार अन्वयमुख से राष्ट्रज्ञान की महत्ता बतलाने के बाद अब निषेधमुख से भी उसे बताया जा रहा हैं—राष्ट्रज्ञान न होने से जो हानि होती है, उसे जानना आवश्यक है । लाभ बतलाने से जिस प्रकार मनुष्य राष्ट्रज्ञान में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार राष्ट्र के अज्ञान का वर्णन करने से भी वह राष्ट्राज्ञान से हटकर

बोध्यते । 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इतिवत् । 'फलं निरूप्या'धिकारिणं निरूपयति तेनैव पदेन व्याख्यान्तरमाश्रित्य, यथा—'राष्ट्रमङ्गलकारिणीम्' इति, राष्ट्रस्य—निखिलजीवलोकस्य । 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' इति मोमांसानोत्यां मनुष्यस्यैवाऽत्राधिकार इति सूच्यते । मनुष्याऽतिरिक्तस्य तिर्यगधिकरणन्यायेन ज्ञानेऽनधिकार इति तु स्फुटमेव । अत्र पुनः पुंस्त्वादिलिङ्गमविवक्षितम् । वर्णाश्रमादेरपि न निर्वन्धः। एतत् स्वयमाचार्यों ग्रन्थ एव वक्ष्यति—"नरा नार्यश्च" (रा. 43) "कृषाणा जल" (रा. 42) इत्यादिना । जन्मतो वर्षचतुष्टयादूर्ध्वं पठनेऽधिकारस्य स्वभावसिद्धतया ·चतुर्वर्षाऽधिकवयस्कोऽनर्जितराष्ट्रज्ञानो मनुष्यमात्रोऽत्र ज्ञानेऽधिकारोत्यपि बोधितं भवति । 'मङ्गलकारिणीम्' इति समानं पूर्वेण । एवं राष्ट्रज्ञानेन भावनीयो लाभः सूपपादितः । तेनाऽन्वयमुखेन विधिमहत्ता बाधिता । इदानीं तद्दाढ्र्याय निषेधमुखेनाऽपि विधिमहत्ता बोधनोया । राष्ट्रज्ञानाऽकरणे का हानिरिति बोधनीयमिति यावत् । लाभबोधनं यथा राष्ट्रज्ञाने प्रवर्तयति पुरुषं, तथैव हानिबोधनं राष्ट्रऽज्ञानान्निवर्तयन् राष्ट्रज्ञाने प्रवर्तयति । विधिवाक्यानां निषेधवाक्यानां च विधिमुखेनैव प्रवृत्तिरिति सिद्धान्तात् । प्रवृत्तिताऽवच्छेदकाऽवछिन्नं प्रति यथा इष्टसाधनताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नज्ञानस्य कारणता तथैव निवृत्तिताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं प्रत्यपि अनिष्टसाधनताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नज्ञानस्य कारणता सर्वजनविदिताऽस्ति । एवं विधि-

---

राष्ट्रज्ञान में प्रवृत्त होगा । इस प्रकार विधिनिषेध इन दोनों का महाविधि में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति दूरस्थित अन्य वस्तु को नहीं जानता, किन्तु दृष्टि के बिना भी अपने हाथ पैरों को तो जानता ही है । इसी प्रकार राष्ट्रदृष्टिहीन मनुष्य दूसरे राष्ट्रों को न जाने, किन्तु अपने राष्ट्र को तो जान ही सकता हैं । जो राष्ट्रदृष्टिहीन व्यक्ति हैं, वे उस राष्ट्र से लाभ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं । यदि निर्धन मनुष्यों के समीप ही पारसमणि पड़ी हो, तो भी वे उससे अपरिचित होते हुए, उसके लाभ को प्राप्त न कर पाते हुए, भूख-प्यास से व्याकुल, एक घर से दूसरे घर तक घूमते—भटकते धन-धान्यकणों को मांगकर अपनी उदरपूर्ति करते हैं । इसी प्रकार राष्ट्रदृष्टिहीन पुरुष भी पराधीन होकर दासत्व को प्राप्त कर अपने निकटस्थ राष्ट्र को न देखते हुए सब ओर से अपने राष्ट्र में उत्पन्न सुखों व लाभों से भी वंचित रहते है तथा वे आर्यों और अनार्यों

निषेधद्वयस्याऽपि महाविधावेव पर्यवसानमन्त इति सुतरां पारोवर्यविदां प्रवादः । तदेव निरूपयन्नाह—ययेति । 'मया'—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितया राष्ट्रदृष्ट्या । 'विना'—अन्तरेण "पृथग्विनानानाभिः"(पा. सू. 2.3.32) इत्यादिना तृतीया । 'न'—नहि । 'पश्यन्ति'—अवलोकयन्ति जानन्तीति यावत् । किं न पश्यन्तीत्याह—'राष्ट्रम्' इति—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम् । ननु यथा अन्धोऽपि दूरे स्थितमन्यदीयं वस्तु न जानाति स्वीयं हस्तपादादि तु दृष्टिं विनाऽपि जानात्येव । तथा राष्ट्रदृष्टिहीनोऽपि राष्ट्रान्तरं मा पश्यतु, स्वीयं तु पश्येदेवेति स्वराष्ट्रज्ञानं तु सम्भवेदेवेति परिहरन्नाह—'स्वनिकटस्थितम्' इति । स्वस्य—आत्मनः दर्शकस्येति यावत् । निकटं आसन्नं तस्मिन् स्थितं—विद्यमानम् । अयमभिप्रायः—यदा नु खलु पुरुषाः स्वनिकटस्थमपि द्रष्टुमसमर्थास्तदा परनिकटस्थं कथङ्कारं द्रष्टुं समर्था भवेयुः । स्वपदेन परनिकटस्थस्याऽदर्शने आश्चर्याऽभावो व्यज्यते । निकटपदेन दूरस्थस्याऽदर्शने तादृशी हानिर्नास्तीति ध्वन्यते । निश्चलार्थकस्थितपदेन अस्थिरस्याऽदर्शने न तादृग्विस्मयः किन्तु स्थितमपि पश्यन्तीति विस्मयाऽतिशयो ध्वन्यते । एवं च ये राष्ट्रं तद्दृष्टिहीनतया पश्यन्त्येव, न ते कथं तस्माल्लाभान् प्राप्नुयुरिति बोध्यते । यथा खलु स्वनिकटस्थमपि स्पर्शमणिं तत्परिचितिदृष्टिहीनाः पुरुषास्तल्लाभानप्राप्नुवाना निर्धनाः पिपासाशनायापीडिता गेहाद् गेहान्तरं बम्भ्रम्यमाणा धनकणान् धान्यकणाँश्च याचन्ते स्वोदरदरीपूरणाय ।

की दृष्टि से पतित, नीच, निन्द्य, जैसे दृष्टिगोचर होते है । इस प्रकार जिस राष्ट्र-दृष्टि से हीन होकर उन्हें इतनी हानि उठानी पड़ती है, उससे किसी को वञ्चित न होना चाहिए । अर्थात् राष्ट्र-दृष्टि मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है ।

इस प्रकार यहां राष्ट्र-ज्ञान विषय है, चतुर्वर्गसिद्धि प्रयोजन है, चार वर्ष से अधिक आयु वाला राष्ट्र-ज्ञान-हीन नर-नारी अविशेष मनुष्य मात्र अधिकारी है और प्रतिपाद्य-प्रतिपादक कार्य-कारण भावादि सम्बन्ध है– यह अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण है ।

मनुष्य मात्र के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें राष्ट्र का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, जिससे हमारी सभी कामनाएं पूर्ण होती है । राष्ट्र-दृष्टि से हीन-मनुष्य महती हानि प्राप्त करता है । संक्षेप में इस विषय का निरूपण पूर्ण हुआ । अब राष्ट्र कितना बड़ा होना चाहिए अथवा राष्ट्र कैसा होना चाहिए— इसका विवेचन किया जायेगा । चूंकि शासकीय प्रदेश बहुत होते हैं, तो उनमें से कितने राष्ट्र हो सकते है ? इस प्रश्न के समाधान हेतु यह कारिका प्रस्तुत है—

एवमेव राष्ट्रदृष्टिहीनाः पुरुषा अपि पराधीनाः सन्तो भृत्यभावमापन्नाश्च सन्तः स्वनिकटस्थमपि राष्ट्रमपश्यन्तः सर्वत एव स्वराष्ट्रसम्भवैर्लाभैर्वञ्चिताः सर्वेषामार्याणामनार्याणामपि दृष्टौ पतिता इव नीचा इव दरिद्रा इव उपानत्प्रहारयोग्या इव भवन्ति। एवं यया राष्ट्रदृष्ट्या हीना इयतीं हानिमनुभवन्ति, तया विना केनाऽपि जात्वपि न स्थातव्यमिति व्यतिरेकमुखेन राष्ट्रदृष्टिरवश्यं प्रापणीयेति बोधितम्। एवं चाऽत्र राष्ट्रज्ञानविषयः, चतुर्वर्गसिद्धिः प्रयोजनम्, चतुर्वर्षाऽधिकवयस्को राष्ट्रज्ञानहीनः स्त्रीपुंससाधारणो मनुष्यमात्रोऽधिकारी, प्रतिपाद्यप्रतिपादक कार्यकारणभावादिः सम्बन्ध इत्यनुबन्धचतुष्टयनिरूपणम् ।।2।।

राष्ट्रज्ञानमवश्यं कर्तव्यम्, तेन च सर्वकामावाप्तिर्भवति, सर्वेषां मनुष्यमात्राणामेतदावश्यकम्, हीनश्च राष्ट्रदृष्ट्या महतीं हानिमापत्स्यते, इति निरूपितं सर्वं समासतः इदानीमिदं निरूपणीयं यत् 'कियत्परिमाणमेकं राष्ट्रं भवति' इति। यतो राजमानाः शासनीयाः प्रदेशा बह्वः, तेषु कियन्ति राष्ट्राणि भवितुमर्हन्ति? इति प्रश्नः सम्भवति तदेव समाधातुमाह—

समानसंस्कृतिमतां यावती पितृपुण्यभूः ।।
तावतीं भुवमावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते ।।3।।

समान संस्कृति वाले लोगों की जितनी पितृ-पुण्य-भूमि होती है, उतनी भूमि को घेरकर एक राष्ट्र कहा जाता है।

[समानसंस्कृतिमतां—यावती—पितृपुण्यभूः—तावतीं भुवं—आवृत्य—एकं—राष्ट्रं—निगद्यते। इति पदयोजना।]

'समान' इति। समं—तुल्यं यथा स्यात्तथा आनयति जीवयति। 'अन प्राणने'। तुल्यताबोधिनीति भावः। एतादृशी या संस्कृतिः वर्णभाषा-

---

कारिका–3

समान संस्कृति वाले व्यक्ति वे कहलाते हैं, जिन्हें वर्ण, भाषा, वेष, परिपाटी आदि बाह्य विधान तथा शरीर के विनष्ट होने पर भी पुण्य पापादि कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म मिलता हैं—इस प्रकार के आन्तरिक विधान एक हों। विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्तियों में अनेकत्व का भान पृथक्ता के बोध के कारण ही होता है। राष्ट्र कीं पृथक्ता के कारण हैं—बीच में महानदियों का आ जाना, पर्वत का आ जाना, बोली की विभिन्नता आदि। यहां महानदी शब्द का तात्पर्य समुद्र से किया गया प्रतीत होता है। ये कारण हैं,

वेषादिविन्यासपरिपाटीसंस्काररूपा बाह्या, एतच्छरीरपाताऽनन्तरमेवमेवं भवतीत्याकारकविश्वासरूपा आन्तरा च विद्यते येषां, तेषां पदार्थानाम्। अयं भावः—अनेकेषु भूप्रदेशेषु अनेकत्वबोधनं तावत् तेषां परस्परं पार्थक्यबोधनेन भवति। पार्थक्यकारणानि च उक्तान्यन्यत्र यथा—

महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः।
वाचां विभेदो वा यत्र तद्देशान्तरमुच्यते॥

अत्रत्यं महानदीपदं समुद्रस्याऽप्युपलक्षणम्। इमानि खलु देशान्तरकरणानि कारणानि भवन्ति। एवमेव राष्ट्रान्तरकरणे—राष्ट्र-पार्थक्यकरणे प्रायः संस्कृतेः प्राधान्यं दृश्यते। संस्कृतिः—संस्कारः। सभ्यीकरणमिति यावत्। यया युक्ताः सभ्या भवन्ति इति भावः सा किल संस्कृतिर्द्विविधा बाह्यसंस्कृतिरान्तरसंस्कृतिश्चेति। तत्र बाह्या तु तत्तद्देशीयवातावरणपरिस्थित्यधीना शारीरिकवर्णवेषादिकारणम्। यथा भारतीयाः प्रायः श्यामगौरवर्णाः यूरोपीयाश्च प्रायो गौरताम्राः देशसम्बन्धिवातावरणेन दृश्यन्ते। आन्तरा च तत्तद्धृदयसम्मतधार्मिक-विश्वासाधीना। यथा मोहम्मदानां विश्वासः पृथक्, वैदिकानां च पृथक् दृश्यते हृदयसम्बन्धिविश्वासभेदेन। एषा द्विविधाऽपि संस्कृतिर्येषां समाना ते समानसंस्कृतिमन्तो भवन्ति। इदमप्यत्र बोध्यम्—

परस्परविग्रहकारणं खल्वाग्रहग्रहिलत्वमेवेति समेषां विपश्चिद-पश्चिमानां चरमः सिद्धान्तः। तत्र यस्यां संस्कृतौ यावत्येवाग्रहग्रहिलता

जो राष्ट्र को परस्पर विभक्त कर देते हैं। इस प्रकार संस्कृति की भिन्नता भी एक प्रमुख कारण है। संस्कृति दो प्रकार की है—बाह्य संस्कृति, आन्तरिक संस्कृति। बाह्य संस्कृति, उस देश के वातावरण एवं परिस्थिति के अधीन होती है, जैसे भारतीय श्याम तथा गौरवर्ण के होते हैं, यूरोपीय गौर तथा ताम्रवर्ण के। आन्तरिक संस्कृति निवासियों के हृदय में विद्यमान धार्मिक विश्वासों के अधीन होती हैं। जैसे अवैदिकों के आन्तरिक विश्वास एवं वैदिकों के आन्तरिक विश्वास में अन्तर है। यह आभ्यन्तर और बाह्य संस्कृति, जिनके समान होती हैं, वे समान संस्कृति वाले कहलाते है।

परस्पर लड़ाई-झगड़े का कारण मिथ्या-आग्रह युक्त होना ही हे। जिस संस्कृति में जितना आग्रह होगा, उसमें उतनी ही असमानता भी होगी। जितनी असमानता होगी, उतनी ही पृथक्ता भी होगी। राष्ट्र की पृथक्ता में बाह्य संस्कृति

तावत्येवाऽसमानताऽपि । यावत्येव चाऽसमानता तावत्येव च पृथक्ताऽपि भवेदेव । राष्ट्रपृथक्तायां किल बाह्यसंस्कृतेः प्राधान्यं दृश्यते प्रायः । साधारणजनाऽनुल्लङ्घ्यैः स्थावरपदार्थविशेषैः पुनः सीमा भवति राष्ट्राणाम् । याताऽऽयातप्रचारतारतम्यमवलम्ब्य भवति च विचाराऽऽचाराऽऽदानप्रदानादि । बाह्यविचाराचारेषु चाऽसमानतायाः कारणं प्राधान्येन सीमितभूप्रदेशभवं वाताऽऽवरणमेव । एतदेव प्रायो वेषविन्यासादेरपि मूलं विद्योतते । बाह्य वातावरणमेव प्रायः करणपाटवाऽपाटवयोः कारणं भवति । तेन च वर्णोच्चारादिष्वसमानता समुत्पद्यते । तत एव च भाषास्वप्यसमानता सम्भवति । एवं चाऽसमानतया पार्थक्यं समानतया चैक्यं भवतीत्यपि सुज्ञेयं सुधीवरैः ।

अथ द्वितीया संस्कृतिरप्येतस्याः सहकारिणी । एतस्याः कारणं तु प्रायो हृदयविश्वास एव भवतीप्युक्तचरमेव । इयं किल मस्तिष्केन निर्मीयते हृदयेन च परीक्ष्यते । इदमप्यत्र बोध्यम्—

मनुष्यमात्रस्तावद्द्विविधो भवति । तत्रैको मस्तिष्कप्रधानोऽपरश्च हृदयप्रधानः । मस्तिष्कमपि शुद्धाऽशुद्धभेदेन द्विविधम् । एवं चतुर्विधो भवति मनुष्यः यथा– 1 शुद्ध मस्तिष्कशुद्धहृदयः, 2 शुद्धमस्तिष्काऽशुद्धहृदयः 3 अशुद्धमस्तिष्कशुद्धहृदयः, 4 अशुद्धमस्तिष्काऽशुद्धहृदयः इति । शुद्धत्वमपि द्विविधं भवति, सांसिद्धिकाऽऽहार्यभेदेन । अयं भावः– केषुचित्तावत्पुरुषेषु प्राग्भवसञ्चितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशात् विनैव तावत्

की प्रधानता होती है । यातायात-व्यवस्था, प्रचार-तंत्र में भी विचार-धारा के संवाहक तत्त्व कहे जा सकते हैं । सीमित भू-प्रदेश का वातावरण ही बाह्य आचार-विचारों में असमानता का प्रमुख कारण होता है । प्रायः यही वेष विन्यासादि का भी मूल होता है । बाह्य वातावरण ही कुशलता एवं अकुशलता का कारण होता हे । इसी प्रकार से वर्णों के उच्चारण आदि में असमानता उत्पन्न हो जाती है । भाषा आदि की भी असमानता इसी से उत्पन्न होती है । असमानता में पृथक्ता एवं समानता में एकता का वास है ।

आन्तरिक संस्कृति भी इसके समान ही है । इसका कारण हृदय का विश्वास है । इस संस्कृति का निर्माण मस्तिष्क से होता है तथा हृदय से इसकी परीक्षा होती है ।

मनुष्य मात्र दो प्रकार के होते हैं—मस्तिष्क प्रधान एवं हृदय प्रधान । मस्तिष्क भी शुद्ध-अशुद्ध भेद से दो प्रकार का होता है । इस प्रकार यह मनुष्य चार प्रकार का है—

गुरुशास्त्रसहायतया शुद्धत्वं दृश्यते ते साँसिद्धिकशुद्धिमन्तः। अथ ये जन्माऽनन्तरं गुरुशास्त्र-सहायतामाश्रित्य प्रबोधमुपलभ्य शुद्धा भवन्ति, त आहार्य शुद्धिमन्तो भवन्ति। एवमेतेऽष्टविधा भवन्ति पुरुषाः। तत्र सांसिद्धिकशुद्धिप्रधानाः श्रेष्ठा आहार्यशुद्धिप्रधानाः कनिष्ठाः। इदमप्याकलनीयमेव-मस्तिष्कशुद्ध्यशुद्धिविषये तावत् गुरुशास्त्रयोर्द्वयोरपि सम्बन्धो दृश्यते। हृदयशुद्ध्यशुद्धिविषये च पुनर्गुरोरेव सम्बन्धो न शास्त्रस्येति। शुद्ध्यशुद्धितारतम्येन चाऽनन्तविधत्वं पुरुषेषु। तत्राऽपि यावत्येवांशे शुद्धताया विकासस्तावत्येवांशे आग्रहग्रहिलताया न्यूनत्वम्, यावत्येव चांशेऽशुद्धताया विकासस्तावत्येवांशे आग्रहग्रहिलताया आधिक्यमपि भवत्येव। इयमाग्रहग्रहिलतैव खलु शास्त्रं गुर्वोर्निकषग्रावा सम्पद्यते। अयं भावः—यस्मिन्नेव शास्त्रे गुरौ च यावत्येवांश आग्रहग्रहिलता भवति तावत्येवांशेऽसत्त्वमपि तत्र, यावत्येव चांशे आग्रहग्रहिलताया अभावस्तावत्येव चांशे सत्त्वमपि तत्र भवितुमर्हति। ननु का नाम खल्वाग्रहग्रहिलता यस्या विकासाऽविकासतारतम्यमवलम्ब्य निर्णीयते शास्त्रगुर्वोः सत्त्वासत्त्वविचारः असत्परिग्रह इति चेदन्योन्याश्रयचक्रकदोषाऽऽक्रान्तत्वं समापन्नम्। तथाहि असत्त्वनिर्णयस्तावत्सत्त्वनिर्णयमुपजीवति, अन्तरेण प्रतियोगिज्ञानमभावज्ञानस्याऽनुदयात्। सत्त्वनिर्णयश्चाऽवलम्बत आग्रहग्रहिलताऽभावज्ञानम्। तच्चाग्रहग्रहिलताज्ञानमाश्रयते, तच्च पुनरसत्त्वज्ञानमेव। ततश्च कथमयं निर्णयपथमवतरेत्सत्त्वाऽसत्त्वविचार

---

(1) शुद्ध मस्तिष्क शुद्ध हृदय (2) शुद्ध मस्तिष्क अशुद्ध हृदय

(3) अशुद्ध मस्तिष्क शुद्ध हृदय (4) अशुद्ध मस्तिष्क अशुद्ध हृदय

शुद्धता भी दो प्रकार की होती है—सांसद्धिक एवं आहार्य। जिन मनुष्यों में पूर्व जन्म के पुण्यों के परिपाक से, बिना गुरु एवं शास्त्रों के उपदेश से ही शुद्धता देखी है, वे सांसिद्धिक शुद्धिवाले मनुष्य हैं। जो जन्म ग्रहण के बाद गुरु एवं शास्त्रों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर शुद्ध होते हैं, वे आहार्य शुद्धि वाले मनुष्य हैं। ये पुरुष आठ प्रकार के होते है, सांसिद्धिक शुद्धि प्रधान पुरुष श्रेष्ठ होते हैं, आहार्य शुद्धिप्रवान कनिष्ठ होते हैं। मस्ष्तिक की शुद्धि एवं अशुद्धि का सम्बन्ध गुरु एवं शास्त्र दोनों से है। हृदय की शुद्धि एवं अशुद्धि का सम्बन्ध केवल गुरु से है, न कि शास्त्र से। शुद्धि-अशुद्धि का तारतम्य पुरुषों में अनेक प्रकार का है, उसमें भी जितने अंश में शुद्धता का विकास होता है, उतने अंश में आग्रह-दृढ़ता की न्यूनता तथा जितने अंश में अशुद्धता का विकास

इत्यत्रब्रूमः—सर्वसामञ्जस्यसमन्वयाऽभाव एवाऽऽग्रहग्रहिलता । सर्वसामञ्जस्यसमन्वयश्च स्वकलाषोडश्युपासनाद्वारा स्वात्मसमावेशदाढ्र्येन भवतीति स्वात्मसमावेश एवाऽभ्यसनीयः । तद्योगश्च रहस्यभूत इति श्री गुरुचरणोपासा कार्या । एवं नानाविधपुरुषाणां संस्कृतिरपि नानाविधैव । तत्र येषामियं पुनः समाना तान् समानसंस्कृतिमन्त इति समामनन्ति समाम्नायकोविदाः । तेषां समानसंस्कृतिमताम् राष्ट्रं तावत् राजमानो भूप्रदेश इति हि नाम व्याख्यातचरमेव । तेन हि साकं सम्बन्धा अपि पुरुषाणां बहवः सम्भवन्ति । तत्र समान संस्कृतिमतां कः सम्बन्ध इति व्याख्यानीयं साम्प्रतम् । सम्बन्धे चाऽनुशासिता षष्ठी प्रयुक्ताऽऽचार्येण 'समान संस्कृतिमताम्' इति । तदेव निरूपयितुमाह--यावतीत्यादिना । यावती यावत्परिमाणा । 'पितृपुण्यभूः' शब्दार्थौ व्याख्यातः प्रथमकारिकाभाष्ये । इदं पुनरत्र बोध्यमेव–बाह्यसंस्कृतिसामान्यं किल राष्ट्रे पितृभूसम्बन्धं बोधयति । आन्तरसंस्कृतिसामान्यं च पुण्यभूसम्बन्धं बोधयति । एवं च बाह्यसमानसंस्कृतिमतां च पुरुषाणां राष्ट्रेण पितृभूसम्बन्धः, आन्तर समान संस्कृतिमतां च पुरुषाणां पुण्यभूसम्बन्ध इति संविज्ञायते । एतदेव सम्बन्धद्वयं राष्ट्रे स्वत्वबोधकमित्यग्रे व्याख्यास्यते । अयं भावः–भूप्रदेशस्य सीमावैशिष्ट्यं किल पुरुषाणां बाह्यसंस्कृतिमुत्पादयति ते च पुरुषा जगन्नियन्तुर्विलासवशात् आन्तरसंस्कृतिमुत्पादयन्ति, तामान्तरसंस्कृतिमवलम्बमानास्तदुत्पादकपुरुषाणाँ पितृभुवं पुण्यभुवमात्मनो मन्यन्ते ।

होता है, उतने अंश में आग्रह-दृढ़ता की अधिकता दृष्टिगोचर होती है । यह आग्रह की दृढ़ता ही शास्त्र एवं गुरु को परखने की कसौटी है । अर्थात् जिस शास्त्र और गुरु में जितने अंश में आग्रह-दृढ़ता होगी, उतने ही अंश में वहां असत्य होगा । जितने अंश में आग्रह-दृढता का अभाव होगा, उतने ही अंश में वहां सत्त्व होगा । (इस प्रकार सत्त्व एवं असत्त्व की न्यूनाधिकता का विचार भी इसी आधार पर ही असत्त्व का निर्णय किया जाता है । प्रतियोगि-ज्ञान के बिना अभाव-ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता । सत्त्व-निर्णय आग्रह-ग्रहिलता के अभाव-ज्ञान के आश्रित होता है । वह आग्रह-ग्रहिलता ज्ञान के आश्रित होती है और इस प्रकार वह असत्त्वज्ञान ही है । फिर सत्त्वासत्त्व विचार का निर्णय कैसे हो ? वस्तुतः सब प्रकार के सामञ्जस्य और समन्वय का अभाव ही आग्रह-दृढता (आग्रह-ग्रहिलता) है । यह सब षोड़शी उपासना के द्वारा आत्मा की दृढ़ता से होता है । अतः उसी का अभ्यास करना चाहिए । उसका योग रहस्यमय है । अतः गुरु चरणों की उपासना करनी चाहिए ।

यथा 'अरब' देशस्तदुत्पन्नतदभिजन पुरुषाणां पितृभूमिः, 'भारतं' भारतीयानां पितृभूमिः। अथ ये भारतपितृभूमयोऽपि अरबोत्पन्नाऽरबाऽभिजनाऽरबपितृभूमिपुरुषेण महम्मदेनोत्पादितामान्तरसंस्कृतिमवलम्बन्ते ते तदवलम्बभूतान्तरसंस्कृत्युत्पादकपुरुषमहम्मदपितृभूमि स्वपुण्यभुवं मन्यन्ते न भारतम्। एवमन्येष्वपि बोध्यम्। तावतीं तावत्परिमाणाम्। अन्यूनाऽनतिरिक्तामिति यावत्। भुवम्–प्रदेशम्। 'आवृत्य'–आसमन्तात् स्वीकृत्य, आसमन्ताद्वर्तयित्वा वा। वृञ् वरणे, वृतु वर्तने, द्वयोरपिग्रहणमत्रेति भावः। राष्ट्रं–राजमानो भूप्रदेशः। एकं–एकसङ्ख्याकम्। निगद्यते–परिभाष्यते। राष्ट्रविद्भिराचार्यैरिति शेषः। तदयं निर्गलितोऽर्थः। भूप्रदेशे किल जगन्नियन्तुर्विलासवशात्समुदितेऽनन्तपदार्थसार्थे द्वयमिदं खलु धर्मयोर्नितरां विलसति, तत्रैको धर्म ऐक्यं बोधयति द्वितीयश्च पार्थक्यम्। तत्राऽगम्यजलस्थलप्रदेशविशेषसीमारचनाभिरेकमेव भू-मण्डलं नैकेषु खण्डेषु विभज्यते खण्डान्यपि तानि तथाविधैरेव रचनाविशेषैर्विभज्यमानानि खण्डखण्डतां यान्ति। तत्रत्यानि वातावरणान्यपि परस्परं पृथक्तां कुर्वन्ति। सा पृथक्तैव खल्वेषां तदुद्भूतपदार्थमात्राणां संस्कृतिमपि पृथक्तया बोधयति। तत्राऽपि समुद्भूतपदार्थमात्रेषु स्वातन्त्र्यविकासतारतम्येन जडाऽजडत्वविभागो बोध्यते। यथा चाऽयं जडाऽजडविभागस्तथा सुनिरूपितः श्रीलाऽऽत्मविलासे तद्व्याख्यायां च प्रस्तुतभाष्यकृतैवेति तत्रैव द्रष्टव्यः सुधीभिः। पार्थिवपदार्थताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्ने हि सर्वतोऽधिकविकसितस्वातन्त्र्यवान् मनुष्य एवेति विदितमिदं विदितवेदितव्यानाम्। तेषां मनुष्याणां यावति भूप्रदेशे द्विविधसंस्कृतिसामान्यं दृश्यते

इस प्रकार अनेक प्रकार के पुरुषों की संस्कृति भी अनेक प्रकार की है। जिनकी समान संस्कृति होती है, वे समान संस्कृति वाले कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का ही एक राष्ट्र होता है।

समान संस्कृतिवालों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? राष्ट्र की बाह्य संस्कृति पितृभू-सम्बन्ध बतलाती है तथा आन्तरिक संस्कृति पुण्यभू सम्बन्ध। ये दोनों सम्बन्ध मिलकर ही राष्ट्र के स्वत्वबोधक होते हैं।

भाव यह है कि भू-प्रदेश की सीमा पुरुषों की बाह्य-संस्कृति को उत्पन्न करती है और वे पुरुष विधाता के विलास स्वरूप आन्तरिक संस्कृति उत्पन्न करते हैं। उस आन्तरिक संस्कृति का आश्रय लेने वाले लोग उसके उत्पादक पुरुषों की पितृभू और पुण्यभू को अपनी (निजी) मानते हैं, जैसे अरब देशवासियों का अरब

तावान् भूप्रदेशः ससीम एकं राष्ट्रं भवति। एतेन राष्ट्रस्यैकीकरणाय संस्कृतेरेकीकरणमत्यावश्यकमित्युपदिश्यते। तत्राऽपि बाह्यसंस्कृतेः पुनरेकीकरणं त्वतीवाऽऽवश्यकम् तेन राष्ट्राऽन्तराऽऽक्रमणतो निर्भयता भवति। आन्तरसंस्कृतेरेकीकरणेन च तद्राष्ट्रस्थलोकाः सुखिनो भवन्तीत्यपि ध्वनितं भवतीत्यलमत्राऽधिकेन पल्लवितेन। अग्रे चेदं विशेषतः स्फुटं चर्चयिष्यते ॥3॥

राष्ट्रैक्यं प्रति संस्कृतिसामान्यस्य कारणतोक्ता पूर्वकारिकया। तेन चैतदवगतं यत् राष्ट्राणां परस्परं पार्थक्यव्यवहारस्य राष्ट्रैक्य-

---

भूमि, उसमें उत्पन्न उनके पूर्वजों की पितृभूमि कहलाती है। भारतवासियों की पितृभूमि भारत है। जो भारतवासी विदेश में उत्पन्न है और उसे पितृभू माननेवालो, की आन्तरिक संस्कृति का आश्रय लेते है, वे उस आन्तरिक संस्कृति के उत्पादक की पितृभू को अपनी पुण्यभू मानते हैं, भारत को नहीं। विधाता के विलास स्वरूप उत्पन्न तथा अनन्त पदार्थ सम्पन्न भू-प्रदेश में दो धर्म दृष्टि गोचर होते हैं। एक ऐक्य का और दूसरा पार्थक्य का बोध कराता है। एक ही भूमण्डल अगम्य जल (समुद्र), स्थल (पर्वत) आदि विशेष सीमाओं में विभक्त होकर अनेक खण्डों में विभक्त हो जाता है। वहां के वातावरण भी भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। उनकी संस्कृति भी भिन्न हो जाती है। वहां उत्पन्न समस्त पदार्थों में स्वतन्त्रता के विकास के तारतम्य से चराचर का विभाग हो जाता है। इस विभाग का सम्यक् निरूपण भाष्यकार ने 'आत्मविलास' की व्याख्या में किया है।

पार्थिव पदार्थों में सर्वाधिक विकसित स्वातन्त्र्यसम्पन्न मनुष्य ही होता है— यह सर्वविदित है। उन मनुष्यों की बाह्य आन्तरिक संस्कृति जितने भू-प्रदेश पर दृष्टिगत होती है, उतना ससीम भू-प्रदेश एक 'राष्ट्र' होता है। इस राष्ट्र के एकीकरण के लिए संस्कृति का एकीकरण आवश्यक है। बाह्य संस्कृति के एकीकरण से दो राष्ट्रों में परस्पर आक्रमण का भय नहीं रहता—आन्तरिक संस्कृति के एकीकरण से उस राष्ट्र के लोग सुखी होते है।

राष्ट्रों में परस्पर पृथक्ता एवं राष्ट्रीय—एकता का मूल क्या है? किस राष्ट्र में किसका अधिकार होना चाहिए किसका नहीं? इसकी विवेचना हेतु कहते है—

कारिका–4

जो मनुष्य जिस राष्ट्र को अपनी पितृभूमि मानते हैं या पुण्यभूमि मानते है, उन मनुष्यों का वह राष्ट्र सर्वथा अपना राष्ट्र होता है। इस श्लोक के सभी

व्यवहारस्य च किं मूलमिति। अथैतद्विवेचनीयं कस्मिन् राष्ट्रे केषां स्वत्वं भवितुर्महति केषां च नेति। तदेव विवेचयितुकाम आह—

पितृपुण्यभुवं राष्ट्रं यन्मन्यन्ते च ये नराः ॥
तेषां नराणां राष्ट्रं तत्स्वीयं भवति सर्वथा ॥4॥

जो लोग जिस राष्ट्र को सभी प्रकार से पितृभूमि तथा पुण्यभूमि मानते है, वह राष्ट्र उन लोगों का सभी प्रकार से अपना होता है।

[ये–नराः– यत्,च–राष्ट्रं–पितृपुण्यभुवं–मन्यन्ते–तेषां नराणां–तत् राष्ट्रं–सर्वथा–स्वीयं-भवति। इति पदयोजना। ये–वक्ष्यमाणाः। नराः–पुरुषा;, ज्ञानवन्तः। अत्र यच्छब्देन सामान्यतया मनुष्या गृहीतास्त एव नरशब्देन विशेषिता ज्ञानवन्त एव ग्राह्या इति बोध्यते। त एव किल मननसमर्था यतः। नृ नये। यत्-नैकेषु विवक्षितम्। राष्ट्रं–राजमानं भूप्रदेशम्। 'पितृपुण्यभुवम्' व्याख्यातचरमेतत्पदम्। 'मन्यन्ते'–अवबुध्यन्ते। अयमभिप्रायः—बहुषु राष्ट्रेषु यत् किंचिदेकतमत् स्वेष्टं पितृभूमितया पूण्यभूमितया च द्विविधेनाऽपि प्रकारेण अवबुध्यन्ते इति। कथम्? 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः कायेन वाचा मनसा च। 'मन्यन्ते' इतिपदेन मननशीलत्वं पुरुषाणां ध्वन्यते। तेन च पौर्वापर्यविचारशीलानां तेषां स्वहिताऽहितज्ञानवत्वं ध्वन्यते। मननं खलु पूर्वश्रुतस्यैव सम्भवतीति प्रसिद्धम्। ततश्च 'मन्यन्ते' इति पदं श्रवणमाक्षिपति। तेनेदं निष्पद्यते यत् पूर्वं श्रृणुयात्, किं श्रृणुयात्? राष्ट्रं किन्नाम, तत्पार्थक्यं तदैक्यं च केन हेतुना व्यवह्रियते इति। अनन्तरं च मननपरो भवेत् यत् कतमद्

पदों की पहले व्याख्या की जा चुकी है। केवल सर्वथा पद की व्याख्या करनी है। सर्वथा पद का तात्पर्य है—मन, वचन तथा काया से अर्थात् पूर्ण रूप से। 'मन्यन्ते पद से मननशील? व्यक्तियों का बोध होता है। मनन उस वस्तु का होता है, जिसके सम्बन्ध में पहले सुना गया हो। मनुष्य को पहले सुनना चाहिए कि राष्ट्र क्या है? उसका पार्थक्य और ऐक्य किस कारण व्यवहृत होता है? इसके बाद उसे मनन करना चाहिए कि कौन सा राष्ट्र मेरी पितृभूमि है? और कौन सा पुण्यभूमि? यह मनन सभी प्रकारों से करना चाहिए। ये प्रकार ये हैं—

मेरे शरीर का रंग इस राष्ट्र के बहुत से पुरुषों से मिलता जुलना है या नहीं। मेरे शरीर के नासिका, नेत्र, कर्ण, ओष्ठ, शिर आदि अंगों में अन्य पुरुषों के अंगों जैसी समानता है या नहीं। मेरी वर्णोच्चारण जैसी शैली इस देश के पुरुषों की भाषा-शैली से मिलती है या नही। मेरी जैसी भाषा इस देश के बहुत से पुरुष बोलते हैं या नहीं। इस प्रकार के मनन से पितृभूत्व का अवश्य निश्चय होगा। इस प्रकार का भी मनन आवश्यक है कि मेरे शरीर के विनष्ट

राष्ट्रं मम पितृभूमिः कतमच्च पुण्यभूमिरिति। तच्च मननं सर्वैरपि प्रकारैः कर्तव्यम्। ते प्रकारा यथा—मम शरीरस्य वर्ण एतद्राष्ट्रस्य बहुभिः पुरुषैः समानो न वास्मदीयशरीरस्य नासाक्षिकर्णोष्ठशिर-आद्यवयवा रचनया अत्रत्यबहुभिः पुरुषैः सामान्यं वोधयन्ति न वा? मदीया वर्णोच्चारशैली अत्रत्यान् बहून्पुरुषाननुकरोति न वा? मदीयां भाषामत्रत्यवहवः पुरुषा व्यवहरन्ति न वा? एतादृशप्रकाराणां मननेन किल पितृभूत्वनिश्चयोऽवश्यमेव भविष्यति। अथैतेषामपि प्रकाराणां मननमावश्यकम्—किं ममैतच्छरीरपाताऽनन्तरं भाविविषयकविश्वासोऽत्रत्यानां बहूनां सम्मतो न वा? मम चरित्रविषयक आदर्शपुरुषोऽत्रत्यानां बहूनां सम्मतो न वा? मद्धृदयसम्मतधार्मिकविश्वाससंस्थापकोऽत्रत्यानां बहूनां सम्मतो न वा? मदभिमतधर्मग्रन्थस्य भाषा अत्रत्यबहूनां सम्मता न वा? इति। एतादृशैः किल मननप्रकारैर्मननेन हि पुण्यभूत्वनिश्चयोऽवश्यमेव भविष्यति। 'मन्यन्ते' इति पदं मननसमनन्तरभाविनिश्चयमपि ध्वनयति। तेनाऽयमर्थो बोध्यते यत्—एवं मननपराकाष्ठायां ये नरा यद् राष्ट्रं सर्वथा—पारिपूर्ण्येन पितृपुण्यभूमितया। मन्यन्ते—समवगच्छन्ति यत्—इदमेव राष्ट्रं अस्माक पितृभूमिः पुण्यभूमिश्चेति। 'तेषां नराणां'—तथाविधनिश्चयशालिनां पुरुषाणां 'तत् राष्ट्रं—तथाविधनिश्चयेनाऽभिमतो भूखण्डः सर्वथा'—सर्वैरपि प्रकारैः। प्रकारवचने थाल्। 'स्वीयं भवति' आत्मीयतया अस्ति। सेव्यसेवक सम्बन्धादिभिः स्वकीयं भवतीति यावत्। अत्रेदं च बोध्यम्—यावन्तः किल भारतं पितृपुण्यभूमितया

होने पर भी मेरा परलोक विषयक जो विश्वास है, वह यहां के बहुत से लोगों से सम्मत है या नहीं। मैं जिन आदर्श पुरुषों की कल्पना करता हूं, ऐसी कल्पना मेरे यहां के अन्य पुरुषों की भी है या नहीं। मेरे हृदय सम्मत धार्मिक विश्वास एवं मेरे धर्मग्रन्थों के प्रमाणों को मेरे यहां के अन्य लोग भी प्रामाणिक मानते हैं या नहीं। इस प्रकार की निरन्तर मनन-परम्परा से ही पुण्यभूत्व का निश्चय अवश्य होगा। मन्यन्ते यह पद मनन के अनन्तर होने वाले निश्चय को भी ध्वनित करता है। यहां के जितने भी लोग इस भारतभूमि को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, उन सबका ही यह राष्ट्र अपना राष्ट्र है। जैसे सनातनी, जैन, बौद्ध, सभी भारत को पितृभू और पुण्यभू मानते है। 'पितृपुण्यभवम्' यह पद 'राष्ट्र' का विधेयविशेषण है। अतः राष्ट्र के एकीकरण के लिए पितृभूमिता और पुण्यभूमिता का विचार (उपरिलिखित) समस्त प्रकारों से करना चाहिए।

मन्यन्ते तेषां सर्वेषां स्वीयतयाऽभिमतं भारतं राष्ट्रं भवितुमर्हति । यथा सनातनधर्माऽनुयायिनः, जैना, भारताऽभिजना बौद्धाः एते सर्वेऽपि भारतं पितृपुण्यभुवं मन्यन्ते । 'पितृपुण्यभुवम्' इति हि विधेयविशेषणं राष्ट्रस्य तेन राष्ट्रं स्वीकरणाय पितृपुण्यभूमितया भावयेत् इति बोध्यते । तदपि सर्वैरपि प्रकारैरित्यपि बोध्यमेवेत्यलम् । अग्रे चेदं विशेषतो विवेचयिष्यते ।।4।।

एवं स्वत्वकारणमुपपाद्य राष्ट्रे केषां स्वत्वं न भवतीति निरूपयन्नाह—

पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं द्वयं यस्य न विद्यते ।।
तस्य स्वत्वं तत्र राष्ट्रे भवितुं न किलाऽर्हति ।।5।।

जिस पुरुष के जिस राष्ट्र में पितृभूत्व तथा पुण्यभूत्व दोनों नहीं होते, उस पुरुष का उस राष्ट्र में अपनापन नहीं होता, यही निर्णय है ।

[यत्र]—राष्ट्रे—पितृभूत्वम्—पुण्यभूत्वम्- [एतत्]—द्वयम्—न—विद्यते—तत्र-राष्ट्रे—तस्य—स्वत्वम्—भवितुम्—न—अर्हति—किल । इति पदयोजना ।

पितृभूत्वमिति । यत्र—वक्ष्यमाणप्रकारे तत्रेत्यनेनाऽऽक्षिप्ते । 'राष्ट्रे'—पूर्वोक्तलक्षणलक्षिते भूप्रदेशे 'पितृभूत्वम्' व्याख्यातस्वरूपम् । 'पुण्यभूत्वम्' एतदपि व्याख्यातरूपम् । 'द्वयम्'—द्विकम् । पितृभूत्वं पुण्य भूत्वं चेति यावत् । 'न विद्यते'—न वर्तते 'तत्र राष्ट्रे'—यस्मिन् राष्ट्रे एतद् द्वयं न वर्तते तस्मिन् राष्ट्रे 'तस्य'—तथाविधपुरुषस्य 'स्वत्वम्'—स्वकीयत्वम् । 'भवितुं न अर्हति किल'—नैव भवितुं शक्यमिति यावत् । पूर्वस्यां कारिकायां हि स्वत्वकारणमुपन्यस्तं केन सम्बन्धेन सम्बन्धिनां

जो लोग इस भूमि को न तो पितृभूमि मानते है, न पुण्यभूमि, निश्चित ही वह राष्ट्र उनका अपना राष्ट्र नहीं हो सकता है ।

कारिका–5

इस प्रकार स्वत्व का कारण बतलाकर राष्ट्र में किसका स्वत्व नही होता इसका निरूपण किया जा रहा है—

पितृभूमि एवं पुण्यभूमि का विवेचन हो चुका है तथा किस राष्ट्र पर किसका स्वत्व, होता है ? यह भी बतलाया जा चुका है । इस कारिका में यह बतलाया जा रहा है कि किस सम्बन्ध के अभाव से किसी राष्ट्र का स्वत्व (स्वतन्त्रता) विनष्ट हो जाता है । एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध से स्वत्व उत्पन्न होता है । यह तीन प्रकार का विश्व सांसर्गिक है । जिस वस्तु का जिस वस्तु के साथ जितना निकट का सम्बन्ध होता है, उतना ही उसके साथ

राष्ट्रे स्वत्वं भवतीति । अनया च कारिकया कस्य सम्बन्धस्याऽभावेन राष्ट्रात् स्वत्वं निवर्त्यते इति प्रतिपादितं भवेत् । अत्र कारिकायां 'पितृभूत्वम्, पुण्यभूत्वम्, द्वयम्,' इत्येवंरूपेण निमित्तद्वयं पृथक् पृथगभिधाय, अनन्तरं च तयोः समुच्चयाय 'द्वयम्' इत्युपात्तम् । तस्याऽय भावः—

कस्मिन्नपि वस्तुनि किल वस्त्वन्तरस्य सम्बन्धेनैव स्वत्वादिः समुत्पद्यते । सांसर्गिकं चेदं सकलं त्रिविधमपि विश्वम् । तत्र यस्यैव वस्तुनो येनैव वस्तुना यावानेव सन्निकट- सम्बन्धस्तावानेव स्वत्वाद्यधिकारो भवतीति स्फुटमेव । तत्र सम्बद्धं वस्तुजातं सकलमपि कल्पितजडाऽजडविभागेन विभाजितमस्ति व्यवहारायेत्यपि नाऽतितिरोहितं केषामपि विदुषाम् । तत्राऽपि जडानां भोग्यत्वं पारतन्त्र्यविकासात्, अजडानां च भोक्तृत्वं स्वातन्त्र्यविकासात्, इत्यपि स्थापितं व्यवहारायैवेति स्फुटमेव । अथ भोक्तृणां स्वतन्त्राणामनन्ततया भोग्यानां च पदार्थानां परतन्त्राणामप्यनन्ततया नियत्यभावे महान् कलहः स्यात् भोक्तृषु परस्परं भोग्यानां पदार्थानां भोगविषयमधिकृत्येति नियतिरपि स्थापिता

उसका स्वत्व-सम्बन्ध भी होता है । यह सभी जानते हैं कि उससे सम्बद्ध सम्पूर्ण वस्तु कल्पित जड़, चेतन-विभाग से व्यवहार के लिए विभक्त रहतीं है । चेतन का भोक्तृत्व स्वतन्त्र है और जड़ का भोग्यत्व परतन्त्र । यह स्थापना भी व्यवहार के लिए है । परतन्त्र भोग्यपदार्थ और उन पदार्थों को भोगने वाले व्यक्ति भी अनन्त हैं । अतः भोग्य पदार्थों के भोग विषय के लिए उन भोक्ताओं में परस्पर कलह होना भी स्वाभाविक है । व्यवस्था यह है कि जिस भोग्य-वस्तु से जिस भोक्तृवस्तु का निकट सम्बन्ध होता है, वह उस वस्तु का स्वामी होता है और विक्रय, प्रदान, परित्याग आदि समस्त व्यापारों में पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो सकता है । राष्ट्रवादियों को छोड़ कर परतन्त्र और जड़ होने से राष्ट्र भोग्य पदार्थ हैं, और स्वतन्त्र और अपढ़ होने से पुरुष उस राष्ट्र का भोक्ता है । पुरुष भी अनेक हैं, राष्ट्र भी अनेक हैं, उनमें अवश्यम्भावी परस्पर कलह को रोकने के लिए अर्थात् सन्निकट सम्बन्धी पुरुषों का सन्निकट सम्बन्धी राष्ट्रों में स्वत्व होता है 'परस्पर संस्कृति वाले व्यक्तियों का एक राष्ट्र होता हैं'—ऐसी संकल्पना की गई है । यह सन्निकट सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है—प्राकृत तथा अप्राकृत । इस प्रकार ये दोनों प्रकार भी स्वाभाविक अथवा मौलिक पदों से परिभाषित किये जा सकते हैं । प्रथम सविशेष होने से प्रबलतर हैं और दूसरा सामान्य होने से प्रबल है । इस प्रकार दोनों ही जगन्नियन्ता के द्वारा ही कल्पित हैं । अतः स्वत्व बोध

व्यवहारव्यवस्थापनाय । यत्–'येन भोग्यवस्तुना यस्यैव भोक्तृवस्तुनः सन्निकटः सम्बन्धः स तस्य सर्वथा स्वामो प्रदानविक्रयपरित्यागादिषु-सर्वेष्वपि व्यापारेषु स्वतन्त्रो भवितुमर्हति । यस्य पुनः दूरतः सम्बन्धः स-सन्निकटसम्बन्धिना बाध्यते' इति । अत एव वशिष्ठेनोक्तमपि—"शुक-शोणितसम्भवः पुरुषो मातृपितृनिमित्तकः, तस्य प्रदानविक्रयपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः" इति । तत्र राष्ट्रवादिनो विहाय सर्वेषां मते राष्ट्रं हि भोग्यपदार्थः परतन्त्रतया जडत्वात्तस्य पुरुषश्च भोग्यपदार्थः स्वतन्त्र-तयाऽजडत्वात्तस्य, अथ राष्ट्राणां बहुत्वेन पुरुषाणामपि बहुत्वेन चाऽवश्यंभाविकलहवारणाय स्वत्वसंस्थापने निर्यात पर्यालोच्य स्थापितमेतत् "यत् सन्निकटसम्बन्धिनां पुरुषाणां सन्निकटसम्बन्धिषु राष्ट्रेषु स्वत्वं भवतु' इति । राष्ट्रस्य सन्निकटसम्बन्धिनः पूर्वस्यां कारि-कायां (रा. का. 3) "समानसस्कृतिमताम्" इत्येवमुपपादिताः । सन्निकट-सम्बन्धोऽपि किल द्विविधो भवति व्यावहारिक पारमार्थिकश्चेति । व्याव-हारिकः पुनर्द्विविधः सन्निकटो दूरश्च । तत्र सन्निकटः पुनर्द्विविधः 'प्राकृतः' 'अप्राकृत' इत्येवम् । अयं द्विविधोऽपि "स्वाभाविक" एव "मौलिक" इति वा परिभाषणीयः । तत्र 'सविशेष' इति पूर्वः प्रबलतरः, 'सामान्य' इति द्वितीयः प्रबल इत्येव । एवं च द्विविधोऽप्ययं जगन्नियन्तृकल्पित एवेति मुख्यः स्वत्वबोधने अथ, दूरसम्बन्धो बाध्यते सन्निकटसम्बधेन । स च

में मुख्य है । दूर सम्बन्ध सन्निकट सम्बन्ध से बाधित होता है । इन्हें प्रस्तुत भाष्यकार ने 'काल्पनिक' और 'वाचनिक' के रूप में परिभाषित किया है । शास्त्रों में बारह प्रकार के पुत्र बतलाए गए हैं ।शुक्रशोणित के संयोग से उत्पन्न कुछ पुत्र जगन्नियन्ता द्वारा कल्पित हैं और कुछ में वचनमात्र से पुत्रभाव की संकल्पना की गई है, वे जगन्नियम्य पुरुष द्वारा कल्पित हैं । वहां प्रथम (शुक्रशो-णित से सम्बन्धित पुत्र) से सन्निकट का सम्बन्ध होने से उस सगे पुत्र का, पिता में सभी मुख्य स्वत्व स्वीकार करते हैं और दूसरे दूर सम्बन्ध होने से वाचनिक अर्थात् गौण पुत्र है । इसी प्रकार जिस राष्ट्र पर जिस व्यक्ति का निकट का सम्बन्ध होता है, वह उसका मुख्य राष्ट्र है. अन्य गौण राष्ट्र ।

पारमार्थिक सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है–प्रधान और अप्रधान । अतः प्राकृत अप्राकृत, प्रधान–अप्रधान यह चारों प्रकार का सम्बन्ध मेरा है या नहीं, ऐसा विचार कर और फिर निश्चय हो जाने पर सर्वथा स्वत्व हो जाता है-इसे चतुर्थ कारिका में 'पितृपुण्यमुवम्' पद से व्यक्त किया गया है । इसे ही व्यति-

प्रस्तुतभाष्यकृता 'काल्पनिको' 'वाचनिक' इति परिभाषितः । यथा शास्त्रेषु द्वादशधा पुत्रा प्रतिपादिताः । तत्र शुक्रशोणितसम्भवाः केचित्पुत्रा जगन्नियन्तृकल्पिताः, केचिच्च वचनमात्रेण पुत्रभावमिताः जगन्नियम्य-पुरुषकल्पिताः, तत्र सन्निकटसम्बन्धिनः पूर्वे तदपेक्षया दूरसम्बन्धिनश्च परे । अत एव चौरस्यस्य पुत्रस्य पितरि मुख्यं स्वत्वं स्वीक्रियते सर्वैः । वाचनिकस्य च गौणमिति मुख्यसम्बन्धेन गौणसम्बधेन च स्वत्वं भवितु-मर्हति राष्ट्रे । तत्राऽस्मिन् राष्ट्रे सन्निकटःसम्बन्धोऽस्ति न वा ममेति पर्या-लोच्य निश्चयेनाऽवगते सन्निकटसम्बन्धित्वे सर्वथा स्वत्वं भवति । गौण-सम्बन्धेन गौणम् । अथ पारमार्थिकसम्बन्धोऽपि द्विविधः प्रधानोऽप्रधान-श्चेत्याद्यनुपदमेव चर्चयिष्यते । तत्र प्राकृताऽप्राकृतप्रधानाऽप्रधानेति चतु-र्विधोऽपि सम्बन्धोऽस्ति न वा ममेति पर्यालोच्य निश्चयेनाऽवगते सर्वथा सम्बन्धित्वे सर्वथा स्वत्वं भवतीति 'पितृपुण्यभुवम्' (रा. का. 4) इति कारिकया निरूप्य तदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयितुं मुख्यामुख्यं च स्वत्वं विशकलयितुं सम्बन्धाऽभावे च स्वत्वं निवारयितुं "पितृभूत्वम्" (रा. का.5) इत्यस्याः कारिकाया आरम्भः । राष्ट्रवादिनां मते खलु पुरुषाःकिल राष्ट्रे उत्पद्यन्ते इति राष्ट्रं तेषां माता उपादानकारणतया राष्ट्राऽनुगता राष्ट्रवाताऽवरणनियन्त्री जगदीश्वरस्य विशिष्टा शक्तिः पिता निमित्त-कारणतया तस्याः । एव च मातृत्वं पितृत्वं च द्वयमपि राष्ट्रस्य समुपप-द्यते । अत एव व्यावहारिक सम्बन्धोऽयं पितृभूसम्बन्ध इति सङ्केत्यते ।

रेकमुख से मुख्य स्वत्व को विखण्डित करने के लिए और सम्बन्ध के अभाव में स्वत्व के निवारण के लिए 'पितृभूत्व' से पञ्चमी कारिका का प्रारम्भ हुआ है ।

राष्ट्रवादियों के मतानुसार जो व्यक्ति जिस राष्ट्र में उत्पन्न होते हैं, वह राष्ट्र उपादान-कारण से उसकी माता है । राष्ट्र के वातावरण को नियन्त्रित करने वाली ईश्वर (शक्ति) निमित्त कारण से उसका पिता है । इसी से व्यक्ति का राष्ट्र के साथ पितृभू-सम्बन्ध स्थापित होता है । इस प्रकार राष्ट्र का मातृत्व और पितृत्व सिद्ध होता है ।

जगन्नियन्ता के विलास से संसार में उत्पन्न हुए पुरुष अनेक प्रकार के हैं। वे पुरुष मस्तिष्क और हृदय की शुद्धि-अशुद्धि के तारतम्य से संक्षेप में आठ प्रकार के हैं । जिन पुरुषों ने अपने मस्तिष्क से उत्पादित, हृदय से परीक्षित जिस भू धर्म रूपी संस्कृति की स्थापना की है, वह उसका पितृभू-सम्बन्धितपारमा-र्थिक सम्बन्ध है । पुण्यभू-सम्बन्धी संबंध भी दो प्रकार का है–प्रधान, अप्रधान ।

द्वितीयश्च व्यावहारिकसम्बन्धो दूर इति दुर्बलतमः स्वत्वस्थापनविषये । स च 'वाचनिकः' 'काल्पनिक' इति वा सङ्केतितो जगन्नियम्यपुरुषकल्पित इति 'गौणो' न मौलिक इति द्विविधेनाऽपि सन्निकटसम्बन्धेन बाधविषय इत्येव नियतिविदां महर्षीणां सिद्धान्तः । एवं च प्राकृताऽप्राकृत इति द्विविधसङ्केतित एव सम्बन्धो मुख्यः पितृभूसम्बन्धः । एवमयं पितृभूत्व-सम्बन्धो व्याख्यातः । 'जगति उत्पद्यमानाः पुरुषा जगन्नियम्याः ते च जगन्नियन्तुर्विलासवशान्नानाविधा एव समुत्पद्यन्ते । ते च मस्तिष्क-हृदय-शुद्ध्यशुद्धि तारतम्येन समासतोऽष्टविधा इति पूर्वम् "समान" (रा. का. 3) इत्यस्याः कारिकाया भाष्ये निरूपितम् । तैः पुरुषैः स्वमस्तिष्केन समुत्पाद्य हृदये परीक्ष्य च स्थापिता संस्कृतिर्लोके धर्मपदवाच्या तदनु-यायिनां यस्तत्संस्कृतिसंस्थापकस्य पितृभुवि स्थापितः सम्बन्धः स पार-मार्थिक' इति सङ्केत्यते । अयमेव 'पूण्यभू' सम्बन्धो लोके प्रायः अयमपि द्विविधः । प्रधानोऽप्रधानश्चेति, तत्रान्तरसंस्कृतिसंस्थापकमूलपुरुषनि-मित्तकोऽप्रधानः एवमयं पुण्यभूसम्बन्धोऽपि स्पष्टीकृतः । अत्रेदं च बोध्यम्—किमर्थमिदं पुण्यभूरिति पुण्यस्य भूः पुण्यभूः, पुण्या चाऽसौ भूरिति च । अर्श आद्यजन्तोऽयं पुण्यशब्दस्ततष्टाप् । 'पुण्यं हि तदेव वस्तुतो वस्तु यदभिन-वरमणीयं भवेत् । तदेव च परमार्थः। भासमानं च पुनर्निखिलमपि विश्वं तेनैवोतप्रोतरूपेणाततम् । तत्साक्षात्कारवन्तः पुरुषा अपि पुण्या । तेषा-

---

आन्तर संस्कृति-संस्थापक शाश्वत पुरुषनिमित्तक अप्रधान कहलाती है । जो वस्तु अभिनवरमणीय है, वही पुण्य है । वही परमार्थ है । भासमान सम्पूर्ण विश्व उसी से ओतप्रोत होने के कारण विस्तृत है । उसका साक्षात्कार करने वाले या उसमें उत्पन्न होने वाले पुरुष भी पुण्यशाली हैं । ऐसे पुरुषों की उत्पत्ति-स्थली ही पुण्यभूमि कहलाती है ।

अमृतत्व की इच्छा करने वाले, पुण्य का साक्षात्कार करने वाले धीर पुरुषों की भी यह पुण्यस्थली है । इस प्रकार ये दोनों पुरुष जिस प्रदेश की प्रशंसा करते हैं, वह पुण्यभू है । उस प्रकार के पुरुष जिस धर्म को स्थापित करते हैं, उनके रक्षण के अनुकूल प्रदेश पुण्यवान् होने के कारण पुण्यभू होती है । भोग का अवलम्बन करने वाले अनार्य होते हैं—यह स्थापित मत पुण्य निर्णायक नहीं है, किन्तु पापोद्पादक होने के कारण पापपूर्ण है ।

पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होने के कारण माता—पिता अपने पुत्र को दान करने, त्यागने तथा बेचने के लिए समर्थ हैं, किन्तु पूर्णरूप से स्वतन्त्र होने के कारण भी

मुत्पत्तिस्थली पुण्यभूः। अमृतत्वं समीहमाना आवृत्तचक्षुषो बाह्यरूपदर्शनात् पुण्यस्य प्रत्यगात्मनः साक्षात्काराय ये धीरा यतन्ते, तेऽपि पुण्या एव। तेषामुत्पत्तिस्थल्यपि पुण्यभूः। एवमेते द्विविधा अपि पुरुषा यं प्रदेशं प्रशंसन्ति सा पुण्यभूः तथाविधाः पुरुषा यं धर्मं व्यवस्थापयन्ति तद्रक्षणाऽनुकूलः प्रदेशः पुण्यवत्तया पुण्यभूर्भवति। भोगप्रवणाः पुनरनार्या इति न तत्स्थापितं मतं वस्तुतः पुण्यनिर्णायकं, किंतु पापं तत् पापोत्पादकतया। तदपि धर्मोऽयमिति सरभसं शस्त्रादि साहाय्येन लोकानां शिरसि भारतभूतं वस्तुतः पापमपि पुण्यत्वेन प्रख्याप्यारोपयन्ति ये न पुण्यास्ते। किंतु पापा एव। तेषामुत्पत्तिस्थलं तदभिजनस्थल च न पुण्यभूः। दण्डेन च ते पापा वशीक्रियन्तो। यत्र सा तु पुण्यभूरेव इदमप्याकलनीयम्—भूस्वत्वविषये तावत् लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति प्रमाणत्रयं स्वीक्रियते महर्षिभिः। तत्र पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरं दुर्बलं त्रिष्वेतेषु प्रमाणेषु प्रमाणम्। राष्ट्रवादिनां मते भुवः पितृतया भोग्यत्वं नैव सम्भवत्यथाऽपि तदुत्पन्नभोगयोग्यवस्तुजातस्य मातृस्तनगतपयस इव भोग्यत्वमवलम्ब्य भुक्तिप्रमाणविषयत्वमित्यार्यजुष्टः पन्थाः। अन्येषां मते तु भुक्तेः प्रामाण्यं स्फुटमेव।

पुत्र अपने माता-पिता को दान करने-त्यागने तथा बेचने को समर्थ नहीं होता है। राज्यवादियों के मत में राष्ट्र का पुत्र होने के कारण राष्ट्र का भोग्यत्व है, किंतु राष्ट्रवादियों के मत में राष्ट्र का पुत्रत्व नहीं, अपितु पितृत्व होता है, अतः भोग्यत्व न होकर उसका भोक्तृत्व होता है। आंशिक स्वत्व के द्वारा बोधित होता है। इसे दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। जैसे इस समय भारतवर्ष में सनातनधर्मानुयायी समस्त ब्राह्मणों का स्वत्व प्राकृत-अप्राकृत संकेतित पितृभू सम्बन्ध से और प्रधान-अप्रधान संकेतित पुण्यभू-सम्बन्ध से स्वोकार किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यह भारत में रहने वाले बौद्ध जैनादि जातियों का भी ब्राह्मणों की तरह ही भारत में पूर्ण स्वत्व है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, देवसमाज, सत्यशोधकसमाज, प्रार्थनासमाज, राधास्वामी, सिक्ख, दादूपंथी, रैदासी, कबीरपंथी आदि सनातन विघटन भी इसी सनातनधर्म के घटक है। अतः भारत में इन सभी का स्वत्त्व हो सकता है। भारत में हीनयान, महायान, वज्रयान ये बौद्धधर्म के भेद हैं! श्वेताम्बर, दिगम्बर, ढूंढक आदि जैन धर्म के भेद है। जरथोष्ट्रमतानुयायियों का भारत में मौलिक पितृभू-सम्बन्ध नहीं है, केवल मात्र वाचनिक सम्बन्ध है। इतिहासकार यह अच्छी तरह जानते हैं कि विगत 700 वर्ष पूर्व मोहम्मद के अनुयायियों से पीड़ित होकर उन पारसियों ने अपनी

लिखितं तु सर्वतोऽधिकं प्रमाणमिति तु न विस्मर्तव्यम् । तत्रायलेखः प्रमाणमनार्यलेखमपेक्ष्य । सर्वथापि सर्वत्राऽप्यार्यव्यवस्थैव श्रेयस्करोति तत्स्थापितमेव पुण्यभूत्वं वास्तवम् भोगस्तु प्राचीनोऽपि न वस्तुतः प्रामाण्यमवलम्बते भूस्वत्वविषये तस्याऽनार्य—परिगृहीतत्वात् । एवं च पुण्यभूत्वं-द्विविधमपि सर्वदाऽऽर्यजुष्टमेव प्रमाणमिति । इदमपि बोध्यम्—पुत्रं प्रदातुं त्यक्तुं विक्रेतुं वा मातापितरौ प्रभवतः पूर्णस्वत्ववत्तया, परन्तु पूर्णस्वत्ववत्वेऽपि पुत्रो न प्रभवति मातापितरौ प्रदातुं त्यक्तुं विक्रेतुं वेति समस्तमहर्षीणां सिद्धान्तः । ततश्च राज्यवादिमते राष्ट्रस्य पुत्रत्वात् भोग्यत्वं राष्ट्रस्य, राष्ट्रवादिमते तु न पुत्रत्वं राष्ट्रस्य किन्तु पितृत्वमिति न भोग्यत्वं किन्तु भोक्तृत्वं तस्येति, सर्वमपीदं यथा तथा यथाऽवसरं निवेदयिष्यते । अत्र कारिकायामपि पूर्वकारिकातः 'सर्वथा' इति पदमनुवर्त्य "यत्र राष्ट्रे यस्य पुरुषस्य पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं च द्वयमपि" 'सर्वथा' सर्वैरपि प्रकारैः प्राकृताऽप्राकृतप्रधानाऽप्रधानेति चतुर्विधैरपि न विद्यते" इत्येवं व्याख्येयम् । इदं पुनः स्फुट मेव यत् आंशिकं स्वत्वपूर्णेन स्वत्वेन बाध्यते । सम्प्रति दृष्टान्तेनेदं स्फुटी करिष्यते—यथा साम्प्रतं भारतवर्षे सनातनधर्माऽनुयायिनां ब्राह्मणादीनां सर्वेषां द्विविधेनाऽपि प्राकृताऽप्राकृतेति सङ्केतितेन पितृभूसम्बन्धेन, प्रधानाप्रधानेति सङ्केतितेन द्विविधेनाऽपिपुण्यभूसम्बधेन च स्वत्वमस्त्येव, अत एतेषां सर्वथा स्वत्वं भारते । एवमेव भारताऽभिजनानां बौद्धानां, जैनानां च भारते सनातनानामिव पूर्णं

आन्तरिक संस्कृति की रक्षा के लिए अपनी पितृभू को छोड़कर तत्कालीन भारत के अङ्ग लाट, सौराष्ट्र, आनर्त के शासकों की आज्ञा से भारत में वाचनिक पितृभूत्त्व स्थापित या स्वीकार किया । उस दिन से लेकर आज तक वे लोग इसका निर्वाह करते आ रहे है । उन्होंने भारत की बाह्य संस्कृति को स्वीकार कर रक्खा है । इस समय वे शारीरिक रंग, नासिका आदि अगों की रचना, वर्णोच्चारण शैली और व्यवहार भाषा आदि से बिल्कुल भारतीय से लगते हैं, किन्तु वे आज भी स्वयं को पारसी ही कहते हैं । अतः उनका भारत में आज भी वाचनिक एवं गौण पितृभू-सम्बन्ध ही है । उनका पुण्यभू सम्बन्धी प्रधान सम्बन्ध तो अभी भी पारस देश में ही है । उन्होंने भारत में अभी तक भी अप्रधान पुण्यभू—सम्बन्ध स्थापित कर रक्खा है । इसीलिए इनका पूर्ण स्वत्त्व भारत में नहीं है । भारत से अन्यत्र दूसरे देशों में रहने वाले बौद्धों का भारत में दोनों प्रकार का पितृभू सम्बन्ध नहीं है । पुण्यभू सम्बन्धी प्रधान सम्बन्ध तो

स्वत्वं भवति । ब्रह्मसमाज-आर्यसमाज-देवसमाज-सत्यशोधकसमाज-प्रार्थनासमाज-राधास्वामि-सिख-दादूपन्थी-रैदासी-कबीरपन्थी इत्यादयः सर्वेषामेषां स्वत्वं भवितुमर्हति भारते । हीनयान-महायान-वज्रयानादयो बौद्धभेदाः । श्वेताम्बर-दिगम्बर-ढूंढकादयो जैनभेदाः जरथोष्ट्रमताऽनुयायिनां पुनर्भारते न मौलिकः पितृभूसम्बन्धः, किन्तु वाचनिकः । इतिहासकोविदाः किल जानन्त्येतत् यत् गतसप्तशतवर्षेभ्यः पूर्वं हि तैर्महम्मदाऽनुयायिपीडितैः स्वकीयाऽऽन्तरसंस्कृतिरक्षायै स्वकीयां पितृभुवं विहाय तदानीन्तनभारताऽवयव लाट-सौराष्ट्र-आनर्त-शासकानामनुज्ञया भारते वाचनिकं पितृभूत्वं संस्थापितम् । तदारभ्य चाद्य यावत् तैः सम्यक् तन्निर्वाहितमपि । भारतीया बाह्यसंस्कृतिः स्वीकृता तंः इदानीं हि ते शारीरिकवर्णनासाद्यवयवरचनावर्णोच्चार—शैली—व्यवहारभाषादिभिः प्रकारैर्भारतीयाननुकुर्वन्तो भारतीया इव भान्ति । परमिदानीमपि ते स्वात्मानं 'पारसीका' इति व्यपदिशन्ति । अत एतेषां वाचनिको गौणो-वा पितृभूसम्बन्धो भारते वर्तते । पूण्यभूसम्बन्धयोः प्रधानः सम्बन्धस्त्विदानीमपि पारसीकदेश एवेति सर्वेऽपि विद्वांसो जानन्त्येव । अप्रधानः पूण्यभूसम्बन्धःपुनर्भारतेऽपि तैः स्थापितः स्यादेवेति सम्भावयामहे । अत एतेषामपि सर्वथा स्वत्वं भारते नाऽस्ति । भारतेतरराष्ट्राऽभिजनानां बौद्धानां भारते द्विविधोऽपि पितृभूसम्बन्धो नास्त्येव । पुण्यभूसम्बन्धयोः प्रधानस्वत्वमस्त्येव । अप्रधानः पुनर्भारतेऽपि तेऽपि तेषां पितृभुव्यपि । अतस्तेषामपि न स्वत्वं भारते । भारताऽभिजनानामीशवीयानां पितृभूसम्बन्धेन स्वत्वं वर्तत एव भारतेऽथापि प्रधानपुण्यभूसम्बन्धेन पुनर्नास्त्येव भारते स्वत्वमिति तेषामपि न सर्वथा स्वत्वं भारते । एवमेव महम्मदाऽनुयायिनामपि । एतेषां हि प्रधानः पुण्यभूसम्बन्धः 'अरब' देशे-

---

है ही । उनका अप्रधान सम्बन्ध तो पितृभू भारत में भी है । अतः उनका भी स्वत्व भारत में नहीं है । भारत में निवास करने वाले विदेशियों का पितृभू के सम्बन्ध से भारत में स्वत्व है, किन्तु प्रधानपुण्यभू के सम्बन्ध से उनका भारत में स्वत्व नहीं है । इसी प्रकार मुसलमानों का भी । इनका प्रधानपुण्यभू सम्बन्धी सम्बन्ध अरब देश में है । अतः पूर्णरूप से उनका स्वत्व भारत में नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त अंग्रेजों आदि का भी भारत में सम्बन्ध-चतुष्टय के अभाव में आंशिक स्वत्व भी नहीं हो सकता है । इसी प्रकार से अन्यत्र दूसरे देशों में रहने वाले मुसलमानों का भी भारत में आंशिक स्वत्व नहीं है । इस

वर्तत इति न सर्वथा स्वत्वं भारते भवितुमर्हति । एतदतिरिक्तानामांग्ला-दीनां सम्बन्धचतुष्टयाऽभावात् आंशिकमपि स्वत्वं भवितु न किलाऽर्हति । एवमेव भारतेतरराष्ट्राभिजनानां माहम्मदानामपि नांशिकमपि स्वत्वं भारत । एवं च चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धवतामेव राष्ट्रे राष्ट्रियत्वम् । अनेवंविधस्य च न राष्ट्रियत्वम् । ननु भारतीयानां भारते 'अप्राकृतः' पितृभूसम्बन्धो नैव युज्यते वक्तुम्, प्राकृताऽप्राकृतयोः पितृभू-सम्बन्धयोः समानाऽधिकरण्याऽसम्भवात् इति चेदत्रोच्यते समाधानम्—

भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चेत् पुत्रवान् भवेत् ।
सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् । इति
सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तां स्तेनपुत्रेण पुत्रिणीर्मनुरब्रवीत् ।।इति च

करतललुलितबदरफलनिर्विशेष साक्षात्कृतात्मरहस्यानाँ महर्षीणां निर्विरोधः सिद्धान्तः । ततश्च भारतैकदेशाऽवच्छेदे न समुपपत्स्यते व्यव-स्था । तथाहि—भारतैकदेशभूत 'महाराष्ट्रोऽभिजनस्य 'महाराष्ट्रे प्राकृतः' फ्तिृभूसम्बन्धः, तदितरेषु भारतैकदेशेषु वाराणस्यादिषु

प्रकार सम्बन्धचतुष्टय वाले लोगों का ही किसी राष्ट्र में स्वत्व होता है। प्राकृत और अप्राकृत पितृभू सम्बन्धों के सामानाधिकरण्य के असम्भव होने के कारण भारतीयों का भारत में ही अप्राकृत पितृभू सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता । इसका समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है । मनु ने भी कहा है—

"एक ही माता से उत्पन्न भाइयों में से एक भाई भी यदि पुत्रवान् होता है, तो उस पुत्र से वे सभी भाई पुत्रवान् हो जाते है । उन भाइयों की सभी पत्नियों में से एक पत्नी के पुत्र हो जाय, तो उस पुत्र से सभी स्त्रियां पुत्रवती कहलाती है ।"

हथेली पर रखे बदरीफल के समान आत्म साक्षात्कार करने वाले महर्षियों का यह निर्विरोध सिद्धान्त है । भारत के एक प्रान्त महाराष्ट्र में रहने वाले महाराष्ट्रियों का महाराष्ट्र से प्राकृत पितृभूसम्बन्ध है । वाराणसो आदि भारत के ही अन्य प्रान्तों के साथ उसका सामान्य या अप्राकृत-पितृभू सम्बन्ध है । इसी प्रकार सारस्वत-कान्यकुब्ज-गौड़-वाहीक काश्मीर-त्रैगर्त-द्विगर्त-मद्र-कौलूत-कैकय, गान्धार-कौभ-कर्क-सिन्धु सौवीर-आनर्त-लाट-सौराष्ट्र आभीर-कोङ्कण-केरल-चोल आन्ध्र-पाण्ड्य-कर्णाट-उत्कल-अङ्ग—वङ्ग-मैथिल-पौण्ड्र-सुह्म-मालव-चेदि-मत्स्य-शूर-अवन्ति-पञ्चाल आदि अन्य प्रान्तवासियों का भी भारतभूमि के साथ

'सामान्य' इत्यपरपर्याया: 'अप्राकृत' इति सङ्केतितः पितृभूसम्बन्धो विद्यते स्वभावात् । एवमेव 'सारस्वत-कान्यकुब्ज-गौड-वाहोक-काश्मीरक-त्रैगर्त-द्विगर्त-मद्र-कौलूत-कैकय-गान्धार-कौभ-कर्क--सिन्धु-सौवीर-आनर्त-लाट-सौराष्ट्र-आभीर-कोङ्कण-केरल-चोल-आन्ध्र-पाण्ड्य-कर्णाट-उत्कलअङ्ग-वङ्ग-मैथिल-पौण्ड्र-सुह्म-मालव-चेदि---मत्स्य-शूर-अवन्ति-पञ्चाला-दीनां समस्तानां विषये बोध्यम्। एव चैकराष्ट्र एव चतुर्विधोऽपि सम्बन्धो भवितुमर्हत्येवेति समुपपद्यते । अयमप्राकृतः सम्बन्धो न वाचनिक इति 'मौलिक' इति 'स्वाभाविक' इति सन्निकटसम्बन्ध एव। अत एव पारसीक-'जरथोष्ट्र' मताऽनुयायिनां भारताऽवयव अत एव वशिष्ठेन-'पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन् बन्धूनाहूय राजनि चावेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृति-भिर्हुत्वा अदूरबान्धवं वन्धुसन्निकृष्टमेव प्रतिगृह्णीयात् न स्त्री पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्राऽनुज्ञानाद्भर्तुः' इति यदुक्तं तद्युक्तियुक्त-मेवेति—

लाटादिष्वेव तदानीन्तत्तत्तच्छासकाऽनुज्ञया संस्थापितो वाचनिक इत्येवेदानीमाभिजन्येन सम्भाव्यमानोऽपि गौण इत्येव कृत्वा लाटाद्यन्यत्र भारताऽवयवेषु गौणतर एवेति न स्वाभाविकतामवगाहते। तदिदं समीचीनमेव सम्पन्नं यच्चतुर्विधसम्बन्ध एव स्वत्वसंस्थापने पूर्णतया हेतु-रिति। इदमप्यत्र बोध्यम्—सनातनानां किल येषामान्तरसंस्कृतिसंस्थापको

सम्बन्ध जान लेना चाहिए। सारांश यह है कि राष्ट्र के लिए सम्बन्ध-चतुष्टय की नितान्त आवश्यकता है। यह अप्राकृत सम्बन्ध न वाचनिक है, न मौलिक है, न स्वाभाविक है, अपितु सन्निकट सम्बन्ध ही है। अतः जरथोष्ट्रमतानुयायी पारसीयों का भारत के अंगभूत लाट आदि प्रदेशों में गौणतर सम्बन्ध हैं, अतः स्वाभाविकता का वहन नहीं करते। अतः यह कथन समीचीन है कि सम्बन्ध चतुष्टय ही स्वत्व-स्थापना में मूल हेतु है।

जो सनातनी अपनी आन्तरिक संस्कृति का संस्थापक मूलपुरुष परमात्मा को मानते हैं, उनका सभी राष्ट्रों में प्रधान पुण्यभूसम्बन्ध समझना चाहिए। परन्तु किसी कारण से जहां-जहां उसे स्वीकार नहीं किया गया, वहां-वहां पुण्यभू-सम्बन्ध नहीं है। जैसे सम्बन्ध वचन से स्थापित किये जाते हैं, वैसे ही तोड़े भी जाते हैं।

सारांश यह है कि राष्ट्र के स्वत्व के लिए सम्बन्ध-चतुष्टय की स्थापना आवश्यक है। यह सस्थापन आर्यविधि से ही सम्भव है, इसे विस्मरण नहीं

मूलपुरुषः परमात्मैव स्वीक्रियते तेषां सर्वेष्वपि राष्ट्रेषु प्रधानः पुण्यभू-सम्बन्धोऽवगन्तव्यः । परन्तु कारणवशाद्यत्र यत्र स निवारितस्तत्र तत्र न पूण्यभूसम्बन्धः यथा खलु सम्बन्धो वचनेन स्थाप्यते तथा निवार्यतेऽपि । इति । सारांशस्तु – राष्ट्रस्वत्वाय चतुर्विधस्याऽपि सम्बन्धस्य संस्थापन-मावश्यकम् । संस्थापनं चाऽऽर्यविधयैव संभवतीति तु न विस्मर्तव्यम् । एवं चतुर्विधं सम्बन्ध संस्थापयन्तो मनुष्या एव 'पितृपुण्यभुवम्' (रा. 4) इति कारिकायां 'नरा' इत्यनेन ध्वन्यते । चतुर्थीकारिका किल स्वत्वबो-धिका पञ्चमी पुनरियं स्वत्वनिषेधिनीत्यपि विषय-विभेद इति पौनरुक्त्य भावः । एवं रीत्या सर्वेष्वपि राष्ट्रेषु स्वत्वनिर्णयः कर्तव्य इत्येवं सुधीभिरतोऽधिकं विभावनीयम् ।।5।।

तदनुसारेणैव प्रस्तुतभाष्यकृता व्यवस्थापितं स्वत्वमेव वास्तवं निर्णायकमित्यवगन्तव्यमेव ।

एवं राष्ट्रदृष्टिं प्रस्तुत्य (रा. 2) राष्ट्रलक्षणं तदेकत्वाऽनेकत्वलक्षणं च निरूप्य (रा. 3) राष्ट्रे स्वत्वकारणं (रा. 4) तत्रैव स्वत्वाऽभाव-कारणं च (रा. 5) निर्वर्ण्य "किं परतन्त्रं राष्ट्रं सुखकरं भवति स्वतन्त्रं वा तादृक्' इत्यप्रबुद्धस्याऽपि शिष्यजनस्य शङ्काऽवश्यमेव दूरीकरणीयेति प्रबुद्धान् स्वराष्ट्रस्य स्वतन्त्रीकरणाय सन्नद्धयितुं चाऽऽचार्यः प्राह—

पुमर्थसाधनं तद्वत् पुमर्थफलदायकम् ।
यदि स्वतन्त्रं स्वं राष्ट्रं नाऽन्यथा मङ्गलप्रदम् ।।6।।

यदि स्वराष्ट्र स्वतन्त्र हो, तभी चारों पुरुषार्थों का साधन तथा चारों पुरुषार्थों को देने वाला होता है, अन्यथा स्वतन्त्र होने पर, वह मङ्गल देने वाला नहीं होता, प्रत्युत अमङ्गल देने वाला ही होता है ।

[यदि-राष्ट्रं-स्वं [अस्ति तच्च] स्वतन्त्रं–[अस्ति तर्हि तत्] पुमर्थ-साधनं–तद्वत्-पुमर्थफलदायकं–(च भवति) अन्यथा-मङ्गलप्रदं-न-(भवति) इति पदयोजनिका ।

करना चाहिए । इस प्रकार के सम्बन्धचतुष्टय की स्थापना करने वाले मनुष्यों को ही चतुर्थी कारिका में 'नराः' पद से अभिहित किया गया है । इससे व्यति-रिक्त जन पशुप्राय ही है, यह भी 'नराः' पद से ध्वनित होता है । चतुर्थी कारिका स्वत्वबोधिका है और पंचमी स्वत्वनिषेधिनी है । इसी प्रकार सभी राष्ट्रों के स्वत्व का निर्णय कर लेना चाहिए ।

परतन्त्र राष्ट्र सुख कारक होता है या स्वतन्त्र राष्ट्र ? अप्रबुद्ध भी शिष्यों की इस शंका का समाधान अवश्य करना चाहिए । अतः प्रबुद्ध लोगों को अपने राष्ट्र को (सर्वथा) स्वतन्त्र कराने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

'यदि'–वक्ष्यमाणपक्षान्तरे स्वीकृतपक्षे इतिभावः। 'राष्ट्रम्'–राजमानः सीमाविशेषविशिष्टः मनुष्याऽधिष्ठितो भूप्रदेशः। अत्रेदं बोध्दम्–यः किल भूप्रदेशः सीमाविशेषविशिष्टोऽपि मनुष्याऽनधिष्ठितः सन् राष्ट्रशब्दस्य व्यवहारविषयतामवगाहते। मनुष्याऽधिष्ठितस्यैव भूखण्डस्य राजमानत्वात् अन्यथा केवल जलवत्प्रदेशस्य केवलसिकतिलप्रदेशस्याऽपि च राष्ट्रत्वं स्यात्। अतो राष्ट्रशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं राजमानत्ववत्वं केनाऽपि सम्बन्धविशेषेणैव वाच्यं भवेत्। स एव सम्बन्धविशेषो मनुष्याऽधिष्ठितत्वरूपः प्रस्तुतभाष्यकृता प्रतिपाद्यते। ननु यत्र पुनः समुद्रखण्डे सिकतिलप्रदेशे हिमप्रदेशे वा मनुष्या नाऽधितिष्ठन्ति तेषां राष्ट्रत्वं न स्यात् इति चेदुच्यते— मा भवतु तेषां राष्ट्रत्व का नो हानिः स्वत्वाऽव्यवस्थेति चेत् किं निरूपितेयं स्वत्वाऽव्यवस्थेति पृच्छामः मनुष्यनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितस्वत्वविषयिण्याहोस्विन्मनुष्येतरनिष्ठप्रतियोगितानिरूपतस्वत्वविषयिण्यवस्थेति। द्वितीययाऽव्यवस्थया मनुष्याणां न कोपि सम्बन्ध इति परिशिष्टतया मनुष्यविषयिण्येव शङ्काऽऽस्पदीभूतेति पुनरपि मनुष्याऽधिष्ठितत्वमेव तेषामायातमिति तेषामपि राष्ट्रत्वं व्यवस्थापितमेव। राष्ट्राङ्गतया तेषां राष्ट्रत्वमस्त्येव, स्वातन्त्र्येण पुनर्नास्त्येवेति तु समञ्जसमेवेति। 'स्वं'–स्वकीयं सर्वथा चतुर्विधेनाऽपि सम्बन्धेन स्वीयम्। 'अस्ति' इतिशेषः। अथ चेन्नास्ति तर्हि स्वाऽनुकूलं आर्यविधिना किमपि राष्ट्रं चतुरोऽपि सम्बन्धान् संस्थाप्य स्वकीयतया

कारिका–6

सीमाविशेष से युक्त मनुष्यों से प्रकाशमान (सुशोभित) भू-प्रदेश ही राष्ट्र कहलाता है। यदि राष्ट्र का यह लक्षण नहीं करते, तो जलवान् प्रदेश एवं रेतवाला प्रदेश भी राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र का राजमानत्व किसी सम्बन्ध विशेष से ही कहा जा सकता है। वस्तुमात्र अनन्तशक्ति के विकास के तारतम्य से अनन्तविधता को प्राप्त हो जाती है। उन अनन्त शक्तियों में प्रधान शक्ति स्वतन्त्रता शक्ति का मनुष्य में अधिक विकास देखा गया है। यद्यपि मनुष्य से अधिक देवयोनि में स्वतन्त्रता का विकास दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह ग्रन्थ मनुष्यों के सन्दर्भ में लिखा गया है। मर्त्यलोक में मनुष्य का ही विशेष महत्त्व है। अन्य प्राणियों का महत्त्व सामान्य ही है। इसीलिए मनुष्य में स्वतन्त्रता अधिक है–ऐसा कहा गया है।

जो मनुष्य निवृत्ति–प्रधान है, वे पारमार्थिक मोक्ष सम्बन्धी स्वतन्त्रता की अभिलाषा करते हैं। जो प्रवृत्ति–प्रधान हैं, वे व्यावहारिक मोक्ष सम्बन्धी स्वतन्त्रता

भावयेत्। अथ तदपि स्वकीयं राष्ट्रं 'स्वतन्त्रं—स्वाधीनं चतुष्प्रकारक-सम्बन्धवत्सम्भावितसिद्धान्ताऽनुकूलयोगक्षेमयुक्तभ् । स्वं—आत्मीय तन्त्रं—सिद्धान्तः यत्र तत्। अयं भावः—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितराष्ट्रनिष्ठ चतुर्विधप्रतियोगितानिरूपिताऽनुयोगितावतां पुरुषाणां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं योग्यं नियमशासनादिविधानं यत्र तत्। इदं च विस्तरेण "पर-राष्ट्रस्य" (रा. 22) इत्यस्याः कारिकाया व्याख्यानाऽवसरे स्फुटीकरिष्यते। एवं यद्यस्ति, नास्ति चेत्पूर्वं स्वतन्त्रमपि कार्यमित्यपि बोध्यम्। तर्हि तत् किं भवति किंवा भविष्यतीति प्रतिपादयन्नाह—पुमर्थेति। पुंसां—पुरुषाणां प्रकृतिस्थानां सचेतनानां स्वतन्त्रताप्रियस्वभावानामिति यावत्। अर्थाः - उपादेयतयेष्यमाणानि धर्मार्थकाममोक्षेति चतुर्विधानि प्रयोजनानि तेषां साधनं करणभूतं 'भवति' इति शेषः। अत्रेदं च बोध्यम्—वस्तुत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नमात्रं हि सच्चिदानन्दस्वरूपमिति किल चरमः सिद्धान्तः। यथा चायं तथा विस्तरेण प्रतिपादितः प्रस्तुत-ग्रन्थकृतैव "श्रीलाऽऽत्मविलास" एवेत्यात्मविलास एव साऽवहितेन मनसा परिशीलनीयः सुधीभिः। तदपि वस्तुमात्रं पुनरनन्तशक्तिविकास-तारतम्येनाऽनन्तविधतां प्रयाति। तास्वप्यनन्तशक्तिषु सर्वतः प्रधाना-स्वतन्त्रताशक्तिः। तस्याः पुनर्मनुष्ये सर्वतोऽधिको विकासः परिदृश्यते।

का ही पर्यायवाची है, जो धर्मार्थकाम का मूल है। इन चारों पुरुषार्थों को सभी चाहते हैं, क्योंकि ये सभी के लिए उपादेय हैं तथा सभी इन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। इन चार प्रकार के पुरुषार्थों को पुरुष अवश्य सिद्ध करता है, क्योंकि वैसा उसका स्वभाव ही है। किसी भी उपाय से स्वभाव बदला नहीं जा सकता। अतः लोक में यह आभाणक प्रसिद्ध है कि स्वभाव अनतिक्रमणीय है।

साधन के बिना साध्य को प्राप्ति नहीं किया जा सकता। इसीलिए राष्ट्र को पुमर्थसाधन कहा गया है। धर्मरूप पुरूषार्थ के दो भेद हैं,—इष्ट, पूर्त। पूर्त रूप धर्म का व्यावहारिक फल लोकों की सुव्यवस्था आदि होता है। उससे राष्ट्र के यश की अभिवृद्धि होती है। अर्थ रूप पुरुषार्थ का उपयोग रास्ट्रोन्नति कार्यों में—विद्यालय-पुस्तकालयादि की स्थापना, उन्हें वृत्ति प्रदान करना, जल-थल आकाश में चलने वाले यानों के निर्माण आदि में किया जाता है। कामरूप पुरुषार्थ का फल इन्द्रियों का भोगजन्य आनन्द की प्राप्ति है। मोक्ष रूप पुरुषार्थ का फल किसी कार्य को करना, न करना, अन्यथा कर देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेना। यह पुरुषार्थ त्रिवर्ग का मूल है, समस्त व्यावहारिक आनन्दों का साधन भी है।

त एतेऽत्र पुम्पदाऽभिधेया भवन्ति । स्वातन्त्र्यशक्तेर्विकासो देवयोनिषु मनुष्ययोनितोऽप्यधिक इति श्रूयते ततः कथमुच्यते सर्वतोऽधिको विकासो मनुष्य इति चेद् ब्रूमः—सत्यं दृश्यते मनुष्येभ्यो देवयोनिष्वधिको विकासः स्वातन्त्र्यस्य परं ग्रन्थोऽयं किल मनुष्यानधिकृत्य लिख्यते, अथ च मर्त्यलोके हि मर्त्य एव प्रधानतया व्यवह्रियते । मर्त्यतोऽपकृष्टाऽपेक्षया मर्त्ये स्वातन्त्र्यं सर्वतोऽधिकमिति विभावयन्तु भवन्त इति । भवतु ।

ते किल मनुष्या निवृत्तिप्रधानाश्चेत्स्युस्तदा पारमार्थिकं मोक्षं—स्वातन्त्र्यमभिलष्येयुः । अथ प्रवृत्तिप्रधानाः पुनर्व्यावहारिकं मोक्षं—स्वातन्त्र्यमभिलष्यन्त्येव । इदं पुनर्व्यावहारिकमोक्षशास्त्रं श्रीराष्ट्रालोको नामेत्यावेदितं "चतुर्णाम्" (रा. 1) इत्यस्याः कारिकाया व्याख्यानाऽवसरे अयं स्वातन्त्र्याऽपरपर्यायो मोक्ष एव धर्माऽर्थकामानां मूलम् । धर्माऽर्थकामांश्च सर्वोऽपि प्रवृत्तिमान् पुरुष उपादेयतया कामयत एवेत्यादि सुनिरूपितं "चतुर्णाम्" (रा. 1) इत्यस्या व्याख्यानाऽवसर एव । अयं चतुर्विधः पुरुषार्थः पुरुषेण साध्यतेऽवश्यमेव, तादृशस्वभाव एव पुरुषस्य इति । स्वभावो हि नाम न निवर्तयितुं शक्यः कोट्याऽप्युपायानाम् । अतएवाऽभण्यतेऽपि लोके—"स्वभावो दुरतिक्रमः" इति । साधनमन्तरेण च नाऽयं साधयितुं शक्यते, साधनीयस्त्ववश्यमेवेति साधनचिन्ता प्रवर्तते । अत इदमुक्तं यत् 'पुमर्थसाधनम्' अस्ति । किमस्ति ? "राष्ट्रम्" । तदपि "स्वम्"—स्वकीयं चेद्भवति, तदपि, "स्वतन्त्रम्" चेद्भवति । "तद्वत्" —तेन तुल्यक्रियम् । पुमर्थसाधनवदिति यावत् । "तेन तुल्यं क्रिया-

---

जैसे शरीर के ऐडी से चोटी तक सभी अवयवों से युक्त अवयवी पुरुष जीवनशक्ति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता/मृत कहकर उसका परित्याग कर दिया जाता है । इसी प्रकार राष्ट्र भी स्वतन्त्रता के बिना मृत के समान ही है । यदि आप चाहेंगे, तो सब कुछ होगा आप प्रवृत्तिवान् हैं, उन उन इन्द्रियों के भोगों की कामना करने वाले हैं । वह साधन अर्थ है । अर्थ के बिना कामरूप-पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः वह काम्य है । इन दोनों की प्राप्ति हो जाने पर विघ्नरूप कलहादि बाधाओं का निवारण करने हेतु धर्मरूप पुरुषार्थ को प्राप्त करना भी आवश्यक ही है । इन सब पुरुषार्थों का मूल है मोक्ष, जिसे व्यावहारिक स्वातन्त्र्य भी कहा गया है । यह व्यावहारिक स्वतन्त्रता स्वतन्त्र-राष्ट्र के बिना नहीं हो सकती है । आप लोग निवृत्तिमार्ग के पथिक हैं । अतः धर्म और अर्थ की कामना नहीं करते हैं । इस मोक्ष रूप अवाङ्मनसगोचर

चेद्वतिः" (पा. सू. 5.1.115) इति वतिप्रत्ययः । एवमेव "पुमर्थफल-दायकम्"—पुमर्था व्याख्याताः तेषां फलानां दायकम् । इष्टपूर्तेति द्वि-विधधर्मस्य मध्ये पूर्तरूपधर्मस्य व्यावहारिकतया तत्फलमपि लोकानां सुव्यवस्थादि भवति तेन च राष्ट्रयशोऽभिवृद्ध्यादि भवति । धर्मलक्षणं "चतुर्णाम्" (रा 1) इत्यस्याः कारिकाया व्याख्यानाऽवसरे व्याख्यातम् । विस्तृतधर्मलक्षणजिज्ञासुभिः किल प्रस्तुतभाष्यकृत्प्रणीता "कल्याण-सौगन्धिक"--व्याख्या "कला" द्रष्टव्या (सिंहाधिपमिते वैक्रमवर्षे "कलां" प्रणिनाय प्रस्तुतभाष्यकृत्) । अर्थस्य फलं तु प्रसिद्धमेव यथा राष्ट्रोन्नति-कार्याणि विद्यालयपुस्तकालयादिस्थापना, तेभ्यस्तेभ्यो वृत्तिदानम्, जल-स्थलाकाशयानादीनां निर्माणम्, एतत्सर्वमपि अर्थाऽधीनमेवेति कामफलं तत्तदिन्द्रियविषयभोगजन्याऽऽनन्दाऽवाप्तिः प्रसिद्धमेव । मोक्षफलं तु क-र्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यस्य प्राप्तिः यत् खलु त्रिवर्गस्य मूलमिति व्यावहारिकसमस्ताऽऽनन्दसाधनमिति प्रसिद्धमेव । इत्येवं फलानि पुमर्था-नाम् । तेषां दायकं कर्तरि ण्वुल् । यथावत् फलं दातुं समर्थं भवति तत् राष्ट्रमिति भावः । 'अन्यथा'—एवम्प्रकारकत्वाऽभावे राष्ट्रस्य तत् राष्ट्रम् 'मङ्गलप्रदम्'—मङ्गलानि प्रददाति तत् । मङ्गलानि—व्याख्यातानि 'राष्ट्र-इष्टिम्' (रा. 2) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे । तथाविधं 'न' नहि 'भवति' इति शेषः । नैव सम्पद्यते इति भावः । अत्रेदं तात्पर्यम्—यथा आगुल्फमूलचूलं सर्वैरवयवैः परिपूर्णोऽवयवी पुरुषो जीवनशक्ति-

---

आनन्द को तो प्राप्त करना ही चाहेंगे । उस मोक्षरूप पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए जप-तप-योगादि साधन अपनाने ही पड़ेंगे । उनमें आने वाली बाधा को दूर करने के लिए व्यावहारिक धर्म की कामना करनी ही पड़ेगी । इस सबका निष्कर्ष यही है कि सभी प्राणी किसी न किसी प्रयोजन के लिए कोई कार्य करते हैं । सब प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मुख्यरूप से अपने राष्ट्र का स्वतन्त्र होना नितान्त आवश्यक है । उन पुरुषार्थों के फल भी स्वतन्त्रराष्ट्र में ही मिल सकते हैं । स्वराष्ट्र की परतन्त्रता में ये मंगल दायक फल प्राप्त नहीं हो सकते हैं । यदि राष्ट्र अपना है, वह राष्ट्र स्वतन्त्र भी है, तब वह पुरुषार्थों का साधन बनकर फलदायक हो सकता है । इसके अभाव में वह राष्ट्र 'अमंगलप्रदम्' ही कहलायेगा । सुखजनक एवं मंगलदायक होने से इसे उपादेय कहा गया है । जो परिणाम में सुखजनक होता है, उसे ही मंगल कहा जाता है । जिसका परिणाम दुःखप्रदान करने वाला होता है, उसे अमंगल कहा गया है ।

मन्तरा अकिंचित्प्रयोजनक इति अकिंचित्फलप्रद इति च मृत इति त्यज्यते, तथैव राष्ट्रमपि स्वातन्त्र्यशक्तिमन्तरा मृतमिव भवति। ननु च भोः किमेतेन भविष्यति ? भविष्यति, सर्वमपि भविष्यति यदेव भवन्तः कामयन्ते। प्रवृत्तिमन्तो यदि भवन्तः तदा तत्तादिन्द्रियभोगं सुतरां कामयन्त एव। तत्साधनमर्थः, अर्थमन्तरा च न कामावाप्तिरिति सोऽपि काम्य एव भवताम्। अथाऽनयोः प्राप्तौ निघ्नभूतायाः कलहादिबाधाया निवारणाय धर्मोऽपि भवतां काम्य एवेति सर्वमपि कामयन्त एव भवन्तः। एतेषां सर्वेषां मूलं मोक्षः—व्यावहारिकं स्वातन्त्र्यम्। एतद् व्यावहारिकं स्वातन्त्र्यं स्वतन्त्रराष्ट्रमन्तरा न सम्भवति। अथ निवृत्तिमन्तो न कामार्थौ कामयन्ते तथाऽप्यवाङ्मनसगोचरमानन्दं पुनः कामयन्त एव ननु। तमप्यर्जयितुं नु खलु जपतपोयोगादिसाधनं तदन्तरायभूताया बाधाया वारणाय शासननियमादिरूपं व्यावहारिकमपि धर्मं तावत् कामयन्त एव भवन्तः। अतः सर्वथाऽप्येतन्निष्पद्यते यत् सर्वथाऽपि सप्रयोजन एव सर्वोऽपि जीवलोक : इति। प्रयोजनानां सर्वेषामपि पूर्त्यै सर्वतः प्रधानभूतं स्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्यमित्येव सडिण्डिमघातमुद्घोष्यते भवतां पुरस्तात्। पुरुषार्थाः साध्यन्तेऽपि यथावत् स्वतन्त्रे स्वराष्ट्रे। तेषां यथावत् फलान्यपि सम्पाद्यन्ते स्वतन्त्रे एव स्वराष्ट्रे। इमान्येव सर्वाणि मङ्गलानि स्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्याऽभावे न प्राप्यन्ते इति। एवमपीयं कारिका व्याख्यातुं शक्यते—तथाहि—यदि राष्ट्रं स्वमस्ति, अथ च तत् स्वतन्त्रमप्यस्ति, तदा तत् पुमर्थसाधनं, पुमर्थफलदायकं च सम्पद्यते। अन्यथा एवंप्रकारकत्वाऽभावे पुना राष्ट्रस्य न पुमर्थसाधनं न च पुमर्थफलदायकं भवति तद्राष्ट्रम्। तर्हि कीदृक् भवति तत्? इत्युच्यते 'अमङ्गलप्रदम्' इति। सवर्णे दीर्घमाश्रित्यैवं पदं छिद्यते। सर्वमेवाऽपि ननु सर्वैरानन्दोद्देशेनैवेष्यते इत्यवमः सिद्धान्तः। तत्र सुखजनकमेतन्नदुःखजनकमिति निर्धारितमत एवोपादेयतयेष्यते यत्तन्मङ्गलमित्याख्यायते। पारिणामिकसुखजनकं मङ्गलमितिभावः। दुःखजनकमेतन्नसुखजनकमित्यनुभवगोचरश्च पुनरत एव जिहास्यमानतामवगाहते यत्तदमङ्गलमित्याख्यायते। पारिणामिकदुःखजनकममङ्गलमिति यावत्। आर्यहृदयसम्म-

---

अनार्य लोग इस आर्यसम्मत मार्ग का अनुसरण नहीं करते, उनमें हिताहित का विवेक नहीं होता। परतन्त्र राष्ट्र में अमंगल तथा अन्याय सहन करने ही पड़ते हैं—यह कथन आर्यों का है।

तामिमां सरणिं नानुसरन्ति हिताऽहितज्ञानविवेकविकला रुचिमात्रसाऽभिनिवेशा अनार्या इति नैतच्चित्रम् । भवतु । परतन्त्रं हि राष्ट्रं मङ्गलविरुद्धानां जिहास्यमानानामेव प्रदायकं भवति । परतन्त्रराष्ट्रैः किलाऽमङ्गलान्यन्याप्यानि जिहास्यमानान्यपि पारतन्त्र्येण सोढव्यान्येवेति साक्षात्कृतस्वभावानां पारोवर्यविदां राष्ट्रवादिनां विनयाचार्यवर्याणामार्याणां निश्चयः । आर्यगृह्यमेव मङ्गलमित्यलमनेनाऽधिकमग्रे निवेदयिष्यते ।।6।।

एवंविधं राष्ट्रं सुखकरं भवत्येवंविधं च दुःखकरं भवतीति विवेचितम् । ननु पुमर्थसाधनं पुमर्थफलदायकं वा मा भवतु स्वराष्ट्रमस्वतन्त्रं तथाऽपि किं तदितरैर्धनविद्यादयादाक्षिण्यादिगुणमण्डितपुरुषैरधिष्ठितमुर्वरप्रदेशभूषितं नयनमनोहारिनानाविधनदनदीसरोवरशैलादिसुखचितं किमपि साधयितुं न शक्नोति ? इति शङ्कामपाकुर्वन्नाह—

यस्य राष्ट्रस्य कोपो वा प्रसादो वा निरर्थकः ।।
तद्राष्ट्रमवमन्यन्ते पतिं षण्ढं यथा स्त्रियः ।।7।।

[उस राष्ट्रका लोक अपमान करते हैं, जिस राष्ट्रका कुपित होना या प्रसन्न होना निरर्थक होता है । जैसे स्त्रियां नपुंसक पति का अपमान करती हैं ।।7।।

[यस्य–राष्ट्रस्य–कोपः–वा–प्रसादः–वा–निरर्थकः–[भवति]–तत् राष्ट्रम्–[सर्वेऽपि]–अवमन्यन्ते–यथा–स्त्रियः–षण्ढम्–पतिम्–[अवमन्यन्ते] इति पदयोजना ।]

कौन सा राष्ट्र सुखकर है, कौन सा दुःखकर ? इसका विवेचन किया जा चुका है । यदि राष्ट्र परतन्त्र है, तो धन, विद्या, दया, दाक्षिण्यगुणमण्डित पुरुषों से तथा नैसर्गिक सुन्दरता से मण्डित भूगोल वाले राष्ट्र से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है ।

कारिका–7

सभी मनुष्यों को व्यवहार एवं आनन्दोपभोगों की आकांक्षा होती ही है । मानव सर्वथा सुव्यवस्था चाहता है, न कि दुर्व्यवस्था । व्यवस्था के बिना व्यवहार का उच्छेद हो जाता है । सुव्यवस्था अनुग्रह एवं निग्रह रूपा शक्ति पर आधारित है । इन दो शक्तियों की राष्ट्र को नितान्त आवश्यकता है । परतन्त्र राष्ट्र इन दो प्रकार की शक्तियों का उपयोग नहीं कर सकता है । इसी की आज्ञा से कोई

यस्येति । 'यस्य'-वर्ण्यमानस्य परतन्त्रस्य 'राष्ट्रस्य'–निरुक्तलक्षणस्य। 'कोपो वा'–रोषो वा 'प्रसादो वा–प्रसन्नता वा 'निरर्थकः'–निष्फलः 'भवति' इति शेषः 'तत्'-तादृशम् । 'राष्ट्रम्–उक्तलक्षणम् । 'अवमन्यन्ते' अत्रजानन्ति । अयं भावः—

सर्वोऽपि खलु जीवलोके व्यवहार आनन्दोपभोगाय कांचिद् व्यवस्था-माकाङ्क्षत एव तत्राऽपि सुव्यवस्थामेव न दुर्व्यवस्थामितिनिसर्गम-हिमा । अन्तरेण व्यवस्थां व्यवहार एवोच्छिद्यतेति । सुव्यवस्था च सा पुनरनुग्रहनिग्रहेति द्विविधशक्त्याऽऽयत्तेति द्विविधाया अपि शक्ते-र्नितान्तमावश्यकता राष्ट्रस्येति निर्विवादम् । परतन्त्रं हि राष्ट्रं द्विवि-धाया अपि शक्तेरुपयोगे न प्रभवतीति तथ्यतरम् च । पराऽऽज्ञया प्रभ-वति तत्र को लाभः स्वस्य ? सर्वोऽपि हि नाम स्वहितमेव वाञ्छति, परहितं तु प्रायो न कोऽपि समीहते । अत एवोक्तं तत्रभवता महाकविना माघेन—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।। (शि. व. 2 30)

यद्यपि सर्वतोभद्रनीतिप्रधाना आर्याः पराऽनिष्टं प्रायो नाचरन्ति । न च मनसाऽपि कामयन्ते, परं व्यवहारे ते कति दृश्यन्ते ? द्वित्राः पञ्चषा वा? सर्वथाऽप्यल्पीयांस एव । भूयांसः पुनरनार्या एव । अथ मतम्,- 'अनार्यपरतन्त्रा मा प्रभवन्तु निग्रहाऽनुग्रहाभ्यां स्वलाभे, आर्यपरतन्त्रास्तु प्रभवन्त्येव हान्यभावरूपे स्वलाभे इति' । एतदप्यज्ञानविजृम्भणमात्रमेव ।

कार्य करने में समर्थ होता है, तो अपना क्या लाभ ? सभी मनुष्य अपने हित की कामना करते हैं, परहित की कामना कोई नहीं करता ।

यद्यपि आर्य लोग सर्वतोभद्र (कल्याणकारक) नीति के पालक होते हैं, मन से भी दूसरों का अनिष्ट कभी नहीं करना चाहते हैं, किन्तु व्यवहार में ऐसे पुरुष बहुत कम दिखाई पड़ते हैं । अधिकांशतः अनार्य ही होते हैं । अनार्य परतन्त्रलोग निग्रहानुग्रह शक्ति से स्वलाभ में प्रवृत्त भले हो न हो, किन्तु आर्य-परतन्त्र तो हानि के अभावरूप अपने लाभ में प्रवृत्त होते ही हैं । ऐसा कहना केवल अपने अज्ञान को प्रदर्शित करना मात्र है ।

प्रथम तो यह असम्भव है कि आर्य लोग दूसरों पर आक्रमण करें । यद्यपि राज्यवादी आर्य दूसरों पर आक्रमण अवश्य करते हैं, किन्तु अनार्य विधि से

प्रथमं तावदिदमेव न सम्भवति यदार्याश्च परानाक्रामन्ति चेति । यद्यपि राज्यवादिन आर्याः परानाक्रामन्तो दृश्यन्तेऽथापि न तेऽनार्यविधया । अत एव न ते जितराष्ट्रस्य शासकपदमधिरोहन्ति, आरूढा अपि जात्वौरसपुत्रनिर्विशेषं प्रजाः पालयन्ति । वस्तुतस्तु कृत्रिममार्यत्वं राज्यवादिनामेकत एव भद्रवादितयेति न ते पूर्णतयाऽऽर्याः । पूर्णमार्यत्वं तु सर्वतोभद्रनयावलम्बिनां राष्ट्रवादिनामेव सम्भवतीति तु ध्येयमेव परेषां । विनाऽऽक्रमणं च पारतन्त्र्यस्याऽसम्भव एव । अत एव चार्यकर्तृकं पारतन्त्र्यं नाऽवलोक्यते प्रायः । अद्धाऽपि नेदं युज्यते वक्तुं यदार्यपरतन्त्राः प्रभवन्ति लाभं लब्धुमिति । यतः खलु क्रियायां स्वातन्त्र्यवत एव कर्तृत्वं दृश्यते न पारतन्त्र्यवतः । अत एव पारतन्त्र्यवतामारोपितमपि कर्तृत्वं भासमानमात्रमेव करणवत् न क्रियाफलोपभोगाय प्रभवति । अतएव महताऽपि परिश्रमेण यजन्तः सुरम्यवाससः सुरुचिररक्तोष्णीषाः कौशेयाम्बरधारिणो रत्नजटितस्वर्णोर्मिकाञ्चितचञ्चदगुलिपाणयः कर्णधृतहेमकुण्डलघृष्टकर्णमूलप्रदेशा महाधनोत्तरीयपट्टशोभिता राङ्कवाऽऽसनासीना अपि ऋत्विजो यज्ञफलमक्षय्यस्वर्गसुखोपभोगरूपं न लब्धुमर्हन्ति । किन्त्वतथाविधोऽपि यजमान एव यज्ञफलं लब्धुमर्हति लभते च । एवं च परतन्त्रैः क्रियमाणं न क्रियमाणतामापद्यते, फलाऽलाभात् । एवमनेन परतन्त्रता हि नाम न कंचिदपि लाभं सूते' इति सम्यगुपपन्नम् । अत एव पूर्वस्यां 'पुमर्थ' (रा 6) इति कारिकायां परतन्त्रराष्ट्रस्याऽमङ्गलप्रदत्वं स्वतन्त्रस्यैव च सर्वफलप्रदत्वमुपपादितम् । परतन्त्रस्य राष्ट्रस्य न कस्यामपि क्रियायां निग्रहकारिकायामनुग्रहकारिकायां वा कर्तृत्वं सम्भवति क्रियाजन्यफलोपभोगाऽभावात् । आरोपितं कर्तृत्वं तावदारोपितमेवेति न

नहीं । इसीलिए वे जीते हुए राष्ट्र के शासक पद पर आरुढ़ नहीं होते हैं । यदि शासक पद पर आरुढ़ होते हैं, तो औरस पुत्र की तरह प्रजा का पालन करते हैं । वस्तुतः यह राज्यवादियों का कृत्रिम आर्यत्व है । वे पूर्णतः आर्य नहीं होते । पूर्ण आर्यत्व तो सर्वतोभद्र नीति का अवलम्बन करने वाले राष्ट्रवादियों को ही प्राप्त होता है । आर्य लोगों ने किसी को परतन्त्र बनाया हो, यह भी नहीं दिखायी देता, क्योंकि ऐसा करके लाभ प्राप्त करने का उनका दृष्टिकोण ही नहीं होता है ।

परतन्त्र रहकर किसी क्रिया का कर्तृत्व ही सिद्ध नहीं होता, न ऐसा व्यक्ति उस क्रिया के फल का उपभोग ही कर सकता है । इसलिए परिश्रमपूर्वक यज्ञ करते हुए, सुन्दर वस्त्र पहनते हुए, सुन्दर लाल पगड़ी, रेशमी वस्त्र, रत्नजटित स्वर्ण निर्मित अंगूठियों से युक्त उंगलियों वाले स्वर्ण कर्णाभूषण और बहुमूल्य

फलभोगदानाय क्षमते, करणतुल्यत्वात्तस्य स्वतन्त्रस्य कर्तुं फलाश्रयं तु भवितुमर्हति परतन्त्रत्वात् । फलाश्रयताऽपि पुनर्निन्द्यरूपेणाऽवाप्यते परतन्त्रेण राष्ट्रेणेति विशेष इत्यादि निरूपयितुं 'यस्य' (रा. 7) इत्यस्याः कारिकाया आरम्भः। अयमभिप्रायः—जातु राष्ट्रान्तरेण कस्मिन्नप्ययोग्ये कर्मणि कृते तदयोग्यं कर्मेत्याकलय्य कुपितमपि यद्राष्ट्रं न तन्निग्रहाय प्रभवति, तस्य राष्ट्रस्य स कोपो 'निरर्थकः' अर्थं-प्रयोजनमभीष्टं सोऽप्यल्पः–अर्थकः सोऽपि निर्गतो यस्मात् सोऽनर्थकः 'अल्पे' (पा. सू. 5.3.85) इति कप्रत्ययः । अयं भावः—प्रवृत्तित्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं प्रत्युद्देश्यताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य कारणता नियता सर्वत्र निरुद्देशस्य पुरुषस्य प्रवृत्तेरदृष्टत्वात् । अत एव भट्टकुमारिलपादा अप्याहुः—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते । इति ।

या हि प्रवृत्तिरुद्दिष्टं साधयितुं न प्रभवति सा स्वाऽभीष्टं फलं न सूते इति सा प्रवृत्तिर्निष्फलेत्युच्यते । कोपप्रवृत्तिर्हि किमप्युद्दिश्यैव नु खलु भवति । उद्देशश्च पुनः प्रायशस्तत्र कोपभाजनस्य नियन्त्रणरूपः ।

उत्तरीय धारण किये हुए रंकु मृगचर्म निर्मित आसन पर विराजमान ऋत्विक् भी उस यज्ञ के सुखोपभोग को प्राप्त नहीं कर सकते है, किन्तु उपरिलिखित विशेषताओं से रहित भी यजमान उस यज्ञ के फल को प्राप्त कर लेता है । अतः यह सिद्धान्त निर्भ्रान्त है कि परतन्त्र हो कर की गई क्रिया को फल नहीं देती । अतः परतन्त्रता से कोई लाभ नहीं होता है । इसीलिए कारिका में परतन्त्र राष्ट्र का अमंगलप्रदत्व, स्वतन्त्र राष्ट्र का सर्वफलप्रदत्व स्वयंसिद्ध है–इस विषय का प्रतिपादन किया गया है । परतन्त्र राष्ट्र के निग्रहकारी एवं अनुग्रहकारी किसी भी क्रिया द्वारा कर्तृत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें क्रियाजन्य फल का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है । परतन्त्र राष्ट्र में यदि किसी क्रिया का फल प्राप्त भी होता है, तो वह फल निन्द्य रूप में प्राप्त होता है । अतः ऐसी निरर्थक क्रिया का सम्पादन कौन करना चाहेगा । भट्ट कुमारिल का कथन है कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख व्यक्ति भी किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता है । जो प्रवृत्ति सोद्देश्य नहीं होती, उसका अभीष्ट फल भी प्राप्त नहीं होता है । कोप की प्रवृत्ति कोपभाजन के नियंत्रण के लिए होती है । परतन्त्र राष्ट्र उस नियंत्रण को निष्पादित नहीं कर सकता । अतः कोप करना ही निरर्थक हो गया । इसी प्रकार परतन्त्र राष्ट्र में किसी पर की गई कृपा भी व्यर्थ है, क्योंकि उस कृपा का फल हमें परतन्त्र राष्ट्र में नही मिल सकता है । केवल इतना ही नहीं परतन्त्र राष्ट्र में तो

तत्किल नियन्त्रणं परतन्त्रं राष्ट्रं केनाऽप्यंशेन न कर्तुं प्रभवतीति । स कोपो 'निरर्थकः'–निष्फल इति यावत् । एवमेव जातु राष्ट्राऽन्तरेणाऽऽचरिते कस्मिन्नपि योग्ये कर्मणि तद्विषयकः प्रसादोऽपि न प्रसादभाजनमनुग्रहीतुं प्रभवति । ततश्च स प्रसादोऽपि निरर्थक एव । न केवलमित्येव स्वातन्त्र्यपि निष्फलौ भवतः कोपप्रसादौ परतन्त्रस्य राष्ट्रस्येत्यपि बोध्यम् । परतन्त्रं राष्ट्रं तत् किं कर्म भवतीत्युच्यते—'तत्'–परतन्त्रं निष्फलकोपप्रसादम् । 'राष्ट्रम्'-निरुक्तलक्षणं भूप्रदेशं तत्तत्प्राकृतिककार्यसम्पदा राजमानमपि मृतमिव 'अवमन्यन्ते'–अवजानन्ति । सर्वत्राऽपमान भाजनं कुर्वन्ति । अयमभिप्रायः—राष्ट्रान्तराणि स्वस्य स्वतन्त्रतया यथेच्छं क्रियमाणेषु कर्ममात्रेषु नाऽस्य परतन्त्रस्य राष्ट्रस्य हिताऽहितविषये सम्मतिमाकाङ्क्षन्ते विचारयन्ति वा निष्पक्षपातम्, निर्भयतया निष्प्रीतितया च । प्रत्युत भृत्यीकृत्य निर्मर्यादमुपभोक्तुमेव कामयन्ते । एतच्च पुनः पशुवत् सर्वमपि सहते । सहते किं, साह्यते पारतन्त्र्येण । इत्येव न केवलम् स्वेनाऽप्यवमानितं भवति परतन्त्रं राष्ट्रमिति व्यज्यते 'अवमन्यन्ते' इति कर्तरि प्रयोगेण । अत एवैतद्विषये प्रस्तुतभाष्यप्रणेता स्वोपज्ञे श्रीआत्मविलासे स्वातन्त्र्यनिरूपणप्रकरणे इममर्थमेवमाह—

दण्डप्रहारः पशुभिः सह्यते हि निरन्तरम् ॥
पारतन्त्र्यादेव ततो हेया हि परतन्त्रता (आ. 3.) इति ।

के खल्ववमन्यन्ते तद् राष्ट्रम् ? उच्यते तत्रत्या राष्ट्रिया अप्यवम

कोप तथा प्रसाद का फल स्वयं को भी नहीं मिलता है । दूसरे राष्ट्र जिस राष्ट्र को परतन्त्र बना लेते हैं, वे उस राष्ट्र में इच्छानुसार कार्य करते हैं । इस परतन्त्र राष्ट्र के हिताहित के सम्बन्ध में कुछ नहीं सोचते, निष्पक्ष होकर उस परतन्त्र राष्ट्र के बारे में कुछ सोच-विचार नहीं करते, अपितु उसे दास बनाकर, उस परतन्त्र राष्ट्र का अमर्यादित उपभोग करना चाहते हैं । ये परतन्त्र देशवासी पशु की तरह सब कुछ सहन करते जाते हैं । सहन क्या करते है, उनसे सब कुछ सहन करवाया जाता है । यही नहीं, परतन्त्र राष्ट्र अपने से भी अपमानित होता है, यह 'अवमन्यते' इस कर्तरि प्रयोग से ध्वनित होता है । प्रस्तुत भाष्यप्रणेता स्वामी जी ने अपने श्रीआत्मविलास के (आ. 3/10) स्वातन्त्र्य-निरूपण प्रकरण में इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है ।

राष्ट्र की अवमानना कौन करते हैं ? वहां के राष्ट्रवासी ही करते हैं । परतन्त्र राष्ट्र में राजद्रोही व्यक्ति निर्भय होकर विचरण करते हैं, क्योंकि परतन्त्र राष्ट्र में उन पराधीन व्यक्तियों का किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता ।

न्यन्ते इति । परतन्त्रराष्ट्रे हि राष्ट्रद्रोहिणो निर्भयं विचरन्ति । राष्ट्रस्य नियन्त्रणेऽसमर्थत्वात् । राष्ट्रनिवासिनो निष्प्रीतयश्च भवन्ति, प्रत्युत राष्ट्रद्रोहिजनाद्युत्पादकतया समस्तविधपापवृन्दानां लीलाक्षेत्रीभूतं स्वतः परतश्च सर्वदाऽवमानभाजनमेव परतन्त्रं राष्ट्रं भवतीति । एते न पुनरपीदमेव दृढीकृतं यत् सर्वादौ स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रं कार्यमिति ।।7।।

प्रेमपुरस्कारसमर्पणे खल्वशक्तमिदं राष्ट्रं परतन्त्रमिति । किं च परतन्त्रं हि राष्ट्रं राष्ट्रद्रोहिसमुत्पादनक्षेत्रमिति महत्पापक्षेत्रमिति निन्द्यतमं भवतीति ध्वन्यते । तत्रोदाहरति–पतिमिति । 'यथा' येन प्रकारेण 'स्त्रियः'–योषितः । 'षण्ढम्'–नपुंसकम् । 'पतिम्'–भर्तारम् । 'अवमन्यन्ते'–अवजानन्ति । अयं भावः—नपुंसकः किल पतिः स्त्रीणां कामं नोपशमयितुं प्रभवति, निर्वीर्यत्वात् तस्य । अत एव जातु प्रसन्नोऽपि पातिव्रत्यादिना स्त्रीव्यवहारेण सन्तानादिरूपं फलं दातुं न क्षमते इति तस्य प्रसादो निरर्थक एव । एवमेव जातु व्यभिचारादिना दुष्टेन स्त्रीव्यवहारेण कुपितोऽपि कामोपशमनाऽशक्ततया व्यभिचारान्न निवर्तयितुं प्रभवतीति कोपोऽपि तस्य निरर्थक एव सम्पद्यते तत एव च ताः स्त्रियो निष्प्रीतयो निर्भयाश्च प्रायः स्वपतिं पदे पदेऽवजानन्त्यः पतिद्रोहिण्यो भूत्वा व्यभिचारादीनां नानाविधानां महतां पापानां क्षेत्राणि

ऐसे राष्ट्र के निवासियों में भी परस्पर प्रेम नहीं रहता है । यह परतन्त्र राष्ट्र प्रेम एवं पुरस्कार प्रदान करने में असमर्थ ही रहता है । यह परतन्त्र राष्ट्र, राष्ट्रद्रोहियों को उत्पन्न करने का क्षेत्र बन जाता है, महान् पाप का क्षेत्र बन जाता है । निन्दनीय हो जाता है । जिस प्रकार स्त्रियां नपुंसक पति का तिरस्कार करती हैं, क्योंकि वह पति निर्वीर्य है, उनकी कामनाओं की पूर्ति नहीं कर सकता । अतः वह पुरुष स्त्री के पातिव्रत्यादि व्यवहारों से प्रसन्न होकर भी उसे सन्तानादिरूप फल प्रदान कराने में असमर्थ होता है । अतः उस पति की उस स्त्री पर प्रसन्नता निरर्थक है । इसके विपरीत कोई पुरुष दुश्चरित्रिणी स्त्री के व्यवहार से कुपित होकर भी यदि उसकी कामनाओं की पूर्ति में अशक्त है, तो वह उस स्त्री को व्यभिचार आदि से नहीं रोक सकता । अतः उसका उस स्त्री पर कोप करना भी निरर्थक है । इसीलिए वे स्त्रियां प्रीतिरहित और निर्भय होकर, अपने पति का पद-पद पर अपमान कर, पतिद्रोही बन कर व्यभिचारादि नाना प्रकार के पाप करने लगती हैं । उन स्त्रियों की अवज्ञा का मुख्य कारण पति की निर्वीर्यता ही है । इसी प्रकार अन्य राष्ट्रों द्वारा की गई अथवा राष्ट्र-

भवन्ति । यथा स्त्रीणामवज्ञायां कारणं पत्युर्निर्वीर्यता, तथैव राष्ट्रान्तर-कर्तृकायां राष्ट्रान्तर्वर्तिलोककर्तृकायां चावज्ञायां कारणं निरर्थक-कोपप्रसादवत्त्वमेव । तन्मूलं च पारतन्त्र्यमेवेति पूर्वं 'पुमर्थ' (रा. 6) इत्यस्याः कारिकाया भाष्ये निरूपितम् । अनेन दृष्टान्तेन चेदं निरूपितं यत् –नयनमनोहारिप्रदेशवत्त्वं, विद्याबुद्धिदयादाक्षिण्यादिगुणपुरुषवत्त्वं, सर्वविधसस्योत्पादनशक्तिमदुर्वरप्रदेशवत्त्वादिकं वा सर्वमपि स्वातन्त्र्य-वत्त्वमेकं विहाय न सम्मानकारणम् ।

पुमर्थसाधनम्' (रा. 6) इत्यनया कारिकया स्वतन्त्रस्यैव स्वराष्ट्र-स्यैव च पुमर्थसाधनत्वं पुमर्थफलदायकत्वं च प्रतिपादितम् । अथचाऽता-दृशस्य राष्ट्रस्य तदजनकत्वं, वैपरीत्येन अमङ्गलप्रदत्वं च प्रतिपादितम् । मानधनानां महतां सर्वेष्वप्यमङ्गलेषु महदत्यन्तदुःसहममङ्गलं पुनः परेभ्योऽवमाननं ततोऽप्यधिकं स्वेभ्योऽवमाननमिति तदपि पदे पदे परत-न्त्रेण राष्ट्रेणाऽवश्यं सोढव्यं भवतीति प्रतिपादितम् । अतोऽपि दुःखाकर-मेतत् यत् परतन्त्रं हि राष्ट्रं समस्तदोषाकरं भवतीति तदप्यनेन भव-तीति लौकिकोदाहरणप्रदर्शनेन प्रतिपादितम् । इदानीमेवं शङ्क्यते– ननु च भोः परतन्त्रराष्ट्रे तदुत्पादिताः पुरुषा व्यष्टिगतमपि लाभं किं न लब्धुमर्हन्ति ? दृश्यते त्वेव यत् –राष्ट्रसुहृदः शिरश्छेदेन दण्ड्यन्ते, राष्ट्र-मित्राणि कारागारेषु कष्टं सहन्ते, राष्ट्रोदासीनाः स्वगृहेषु यथासुखं

वासियों द्वारा स्वयं की गई अवज्ञा का कारण भी कोपप्रसादवत्ता ही है । इसका मूलकारण तो परतन्त्रता ही है । इस दृष्टान्त से सिद्ध हो जाता है कि सुन्दर प्रदेशों वाला, विद्या-बुद्धि-दया दाक्षिण्यादि गुणों से सम्पन्न जनता वाला, सब प्रकार के धान्यादि के उत्पादन से उर्वर देश भी यदि स्वतन्त्र नहीं है, तो वह सम्मान का भाजन नहीं हो सकता ।

इस कारिका के 'पुमर्थसाधनत्व एवं पुमर्थफलदायकत्व स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । परतन्त्र राष्ट्र में, किसी अन्य राष्ट्र द्वारा महान् स्वाभिमानी महापुरुषों का जो पद पर अपमान, अमंगल किया जाता है, वह तो उन महा-पुरुषों को सहन करना ही पड़ता है । इससे भी बढ़कर दुःखकारी बात यह है कि परतन्त्र राष्ट्र समस्त दुःखों की खानि होती है । इसे लौकिक उदाहरण के प्रदर्शन से स्पष्ट किया गया है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि परतन्त्र राष्ट्र में व्यक्तियों को क्या व्यक्तिगत लाभ भी प्राप्त नहीं होता ? प्रायः ऐसा देखा जाता है कि राष्ट्र

वर्तन्ते, राष्ट्रद्रुहश्च हर्म्येषु, प्रासादेषु, आरामेषु, खादतपिबतासु, मोदत-कीडतासु च निमग्नाः कदाचित्तुषारगिरिशिखरविनिर्मितेषु गगनचुम्बि-लीलालयेषु विलसन्ति, जातु च देवगणाननुकुर्वाणा व्योमयानैरन्तरिक्षे विहरन्ति, कदाचिच्च मुख्यमुख्यसमृद्धनगरीष्वादर्शविडम्बिरूपग्राहिसुचि-क्कणनृत्यालयेषु नृत्यन्ति । किम् बहुना वक्तव्येन बहूनि सुखान्यनुभवन्ति त इति कथमुच्यते भवद्भिः परतन्त्रं हि राष्ट्रं सर्वदुःखाकरमिति । एतदा-पातदृश्यं सर्वमपि शङ्काकदम्बकमपाकर्तुमाह—

दरिद्रास्तेऽतिदुर्भाग्या रोगैस्ते समभिप्लुताः ॥
येषां नराणां सा राष्ट्रहितदृष्टिर्न विद्यते ॥8॥

[राष्ट्र का हित करने वाली वह दृष्टि जिन पुरुषों को नहीं होती, वे पुरुष दरिद्री अति दुर्भाग्य तथा रोगों से घिरे होते हैं ॥8॥

[येषाम्–नराणाम्–सा–राष्ट्रहितदृष्टिः–न-विद्यते–ते-दरिद्राः–अति दुर्भाग्याः–[अथ च] ते–रोगैः–समभिप्लुताः। (भवन्ति) इति पदयोजना। 'दरिद्रा' इति । 'येषाम्'–वर्ण्यमानानाम् । 'नराणाम्'–मनुष्याणाम् 'सा' राष्ट्रमङ्गलकारिणीत्वेन व्याख्यातपूर्वा । राष्ट्रहितदृष्टिः'–'राष्ट्रम्'–व्याख्यातचरम् । तस्य हितम् मङ्गलम् । विरोधिज्ञानमन्तरा पूर्णज्ञानस्य क्वाऽप्यदृष्टतया हितपदं तद्विरोध्यहितमप्याक्षिपति । तेन 'अहितम्' अमङ्गलं चेति बोध्यते । तस्य 'दृष्टिः' दर्शनम् । ज्ञानं विज्ञानं चेति

ले प्रेम करने वाले (राष्ट्र सुदृढ़) शूली पर लटकाये जाते हैं, राष्ट्रमित्र कारागारों में कष्ट सहन करते हैं, राष्ट्रोदासीन अपने घरों में सुखपूर्वक रहते हैं, राष्ट्र-द्रोही महलों में, उपवनों में, खान-पान, मौज-खेल आदि में निमग्न रहते हैं। कभी वे पर्वतों पर बने आकाशचुम्बी बंगलो में विलास करते हैं। कभी देवों की भांति विमानों में आकाश-यात्रा करते हैं, और कभी प्रमुख समृद्ध नगरों में दर्पण के समान रूप-ग्रहण में समर्थ चिकने-चमकते नृत्यालयों में नाचते हैं। अधिक क्या, अनेक सुखोपभोगों में संलग्न रहते हैं।

अतः आप क्यों कह रहे हैं कि परतन्त्र राष्ट्र दुःखदायक होता है? इस शंका के समाधान हेतु ही आठवीं कारिका का प्रणयन किया गया है।

वास्तव में वे लोग दरिद्र हैं, वे दुर्भाग्यशाली हैं, वे रोगग्रस्त हैं, जिन लोगों में राष्ट्रहित की दृष्टि नहीं होती है। परतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रहित-रहित व्यक्तियों का प्राधान्य होता ही है, किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति राष्ट्रहित की दृष्टि से रहित नहीं होता है, क्योंकि स्वतन्त्र राष्ट्र, राष्ट्रदृष्टिरहित व्यक्तियों को

यावत् । 'न विद्यते'–न वर्तते । 'ते'–एवम्भूता नराः । 'दरिद्राः'–द्रव्य-हीनाः भविष्यन्तीति शेषः । अथ च 'अतिदुर्भाग्याः'—अत्यन्तं दुष्टं भाग्यं-प्रारब्धं येषां ते भविष्यन्तीति शेषः । अपि च 'ते' पूर्ववर्णिता एव 'रोगैः–ग्रान्थिक-सन्निपात-मन्यामर्दन-आकस्मिकसन्निपातराजयक्ष्म-पुंस्त्वोपपात-विषूचिका–उपदंश-शीतला-विषमज्वरादिनानाविधैर्व्याधिभिः 'समभि-प्लुताः–सम्यक् अभितश्च प्लुताः–व्याप्तः भविष्यन्तीति शेषः । अत्रेदं बोध्यम्—स्वतन्त्रे हि राष्ट्रे प्रायः कोऽपि नरो राष्ट्रहितदृष्ट्या रहितो न लब्धुं शक्यः, यतः स्वतन्त्रराष्ट्राणि राष्ट्रहितदृष्टिरहितात् राष्ट्रहि-तदृष्टिमतो विधातुं नानाविधैः स्वाऽभिलषितैः शिक्षाद्युपायैर्दिवाऽनिशं-प्रयतमानानि भवन्ति । ततश्च परतन्त्र एव राष्ट्रे राष्ट्रहितदृष्टिहीनानां सुलभता भवतीति निश्चितमिदं जरीजृम्भते । राष्ट्रदृष्टिः पुनर्भेदप्रभे-दवती 'राष्ट्रदृष्टिम्' (रा. 2) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे सुनिपुणं व्याख्यातैव । या किल तत्र राष्ट्रमङ्गलकारिणीत्वेन निरूपिता सैवाऽत्र हितपदेन विशेष्य सर्वाऽपि भेदप्रभेदभिन्ना सङ्गृहीता । इदमपरमपि कारणं राष्ट्रहितदृष्टिरहितानां स्वतन्त्रे राष्ट्रेऽसुलभतायाः यत् ते सत्व-रमेव निगृह्यन्ते राष्ट्रपरिषन्नियुक्तैः राष्ट्रियैःशासकपदेषु । परतन्त्रे राष्ट्रे पुनर्न निगृह्यन्ते । केन निगृह्याः खलु ते ? राष्ट्रं तु परतन्त्रमेवेति तन्न निग्रहीतुं प्रभवति । किं परा निगृह्णन्तु ? तेषां तु राष्ट्रहितदृष्टिहीनेभ्य एव लाभ इति कथं ते निगृह्णीयुः । अत एवोक्तं पूर्वं 'राष्ट्रस्य पारतन्त्र्यं हि समस्तदोषाकर इति । एतेन वर्णितचरं राष्ट्रसुहृदां शिरश्छेदभाक्त्वम्, राष्ट्रमित्राणां कारागारकष्टभोक्तृत्वम्, राष्ट्रोदासीनानां गृहादौ यथायथं

राष्ट्र-दृष्टि वाले बनाने के लिए शिक्षा प्रसारादि अनेक प्रकार के उपाय करने का रात-दिन प्रयत्न करते हैं । स्वतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रदृष्टि रहित व्यक्तियों को राष्ट्रा-धिकारियों द्वारा आसानी से पकड़ा जा सकता है । परतन्त्र राष्ट्र में ऐसा नहीं किया जा सकता है । उन्हें कौन पकड़े ? क्योंकि राष्ट्र तो परतन्त्र है । उन्हें पकड़ने से शासनाधिकारियों को क्या लाभ हो सकता है ? इसीलिए कहा गया था कि राष्ट्र की परतन्त्रता सम्पूर्ण दोषों का खजाना है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्र सुहृदों का सूली पर चढ़ाना, राष्ट्रमित्रों का जेल में कष्ट भोगना. राष्ट्रोदासीनों का घर में यथोचित जीवन बिताना और राष्ट्रद्रोहियों का विविध आनन्द का भोगना-यह सब परतन्त्र राष्ट्र में ही सम्भव है । स्वतन्त्र राष्ट्र में नहीं ।

जीवनम्, राष्ट्रद्रुहां च विविधाऽऽनन्दभोक्तृत्वं चैतत्सर्वं परतन्त्र एव राष्ट्रे सम्भवति न स्वतन्त्रे। स्वतन्त्रे पुनः सुहृदो राष्ट्रस्य राष्ट्रसमुन्नत्यै तत्तद्योगक्षेमोपयोगिराष्ट्रसञ्चालननियमशासनादौ सर्वतोऽधिकसत्कारपूर्वकमग्रपूजां लभन्ते, राष्ट्रमित्राणि च तत्तदुचितदानमानसत्कारैः सत्वरं पूज्यन्ते, राष्ट्रोदासीनाः शिक्षादिभिः प्रबुद्धाः क्रियन्ते, द्रोहिणश्च-राष्ट्रस्याऽविलम्बेन कारागारादिषु निक्षिप्यन्ते, कशाभिः प्रतोदादिभिश्च ताड्यन्ते, शिरश्छेदेनाऽपि दण्ड्यन्ते यथाऽपराधम्। राष्ट्रस्य स्वतन्त्रतया सर्वमपि कर्तुं पार्यते। ततश्च युक्तैव परतन्त्रराष्ट्रे राष्ट्रहितदृष्टिहीनानां-सुलभता। ननु भवत्वेतत् तथाऽपि परतन्त्रराष्ट्रे तदुत्पन्नास्तद्रोहिणो भूत्वा सुखमश्नुवत इति यत् सम्मुखं दृश्यते तत् किमलीकम्? इत्यत्रोच्यते अङ्ग! सत्यमेत। दृश्यन्तेत् किल ते सुखमश्नुवाना इव। परं ते भाविपरिणामं स्वपुत्रपौत्रादीनामात्मनोऽपि च भोक्ष्यमाणदारिद्र्यादिरूपं शिरसि लम्बमानं विपदां वृन्दं द्रष्टुं न प्रभवन्ति। राष्ट्रहितदृष्टिहीनतया तेषामन्धत्वात्। अत एवोक्तं 'दरिद्रास्ते' इति। 'ते' यैर्नररूपैरपि, मर्त्यलोके सर्वत उत्कृष्टां योनिमापन्नैरपि 'सा' सर्वविधजीवानां सर्वविधमङ्गलकारिणी 'राष्ट्रहितदृष्टिः'—राजमानभूप्रदेशप्रतियोगिकहिताऽहितविषयकं समस्तभेदप्रभेदसहितं ज्ञानं विज्ञानं च, न समुपार्जिता, अतस्ते अन्धा इति स्वराष्ट्रहिताऽहितज्ञानाऽभाववन्तः। न केवलमेतदेवाऽपितु स्वस्याऽपि भाविदारिद्र्यं न द्रष्टुं शक्नुवन्त्यन्धतया। मा पश्यन्तु नाम तेऽन्धतया किन्तु ते परिणामेऽन्धाऽवश्यंभाविन एव। इतिहासविदः किल सम्यक्

स्वतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्र की उन्नति के लिए उसके योगक्षेम के उपयुक्त राष्ट्र—संचालन के नियम शासनादि में सहयोगी राष्ट्र सुहृद् सर्वाधिक मान सम्मान प्राप्त करते हैं। मित्र राष्ट्र उस स्वतन्त्रराष्ट्र में उचित दान सम्मानादि से पूजित होते हैं। जो राष्ट्र के प्रति उदासीन है, उन्हें शिक्षादि से प्रबद्ध किया जाता है। राष्ट्रद्रोहियों को अविलम्ब कारागारों में डाल दिया जाता है, उन्हें कोड़े आदि लगाये जाते हैं, अपराध के अनुकूल शूली पर चढ़ा दिया जाता है। राष्ट्र के स्वतन्त्र होने से सब कुछ किया जा सकता है।

यद्यपि परतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रहितदृष्टि से हीन पुरुषों का आधिक्य होता है और ये देशद्रोही सुखोपभोग करते दिखायी देते हैं, किन्तु वे देशद्रोही राष्ट्रहित-दृष्टिरहित होने से भावी परिणामों को नहीं सोचते कि उनके पुत्र-पौत्रों के ऊपर क्या बीतेगी, शिर पर लटकती इस विपत्ति को वे नहीं देख पाते हैं।

जानन्त्येतत् । भारतीये इतिहासे तु परःशतान्युदाहरणानि विद्यन्ते । एवमेव ते 'अतिदुर्भाग्याः' नित्यं हिते लालाटिकतया पराणां समयं यापयन्ति सौभाग्यवन्तं चात्मानं तेनाऽनेन कर्मणा मन्यन्ते । किन्तु स्वकीयं भाविदौर्भाग्यं पुत्रादीनां च दौर्भाग्यं राष्ट्रहितदृष्टिहीनतयाऽन्धास्ते न पश्यन्ति राष्ट्रद्रोहिबीजं वपन्ति च, स्वातन्त्र्यसुखं खलु ते न स्मरन्ति विचारयन्ति च । परंतु राष्ट्रहितदृष्टियुक्ताः पुनस्तेषां दौर्भाग्यं पारतन्त्र्यमूलकं पश्यन्त एवमुद्गिरन्ति खलु । यथा खलु प्रस्तुतभाष्यकृत्प्रणीतायां 'अन्योक्ति तारावल्याम्'—(वि.सं. 1980 मध्ये प्रणिनाय लघुकाव्यमेतत्)

कनकमयशलाकानिर्मिते पञ्जरेऽस्मिन्
निवसति ननु भुङ्क्ते दाडिमीनां फलानि ।
पिबति मधुरतोयं कूणिताक्षः स्वभावं
स्मरति न शुकराजो दूयते तेन चेतः ।। इति ।

समस्तस्याऽपि दौर्भाग्यस्य मूलं पारतन्त्र्यम्, तस्याऽपि च मूलं राष्ट्रहितदृष्टिहीनतैव । त एव खलु नानाविधैः रोगैः समभिप्लुता भवन्ति । राष्ट्रहितदृष्टिहीना अन्धा माऽवलोकयन्तु नामैतत् किन्त्वालोचकाः किल पश्यन्त्येतत् यत् खलु परतन्त्रराष्ट्रे परैस्तद्राष्ट्रे नानाविधा नूतन–नूतना रोगाः सबीजवापं प्रसार्यन्ते । रुग्णं च तद्बलबुद्धिवीर्यादिहीनं भवति । ततश्च तादृशीमेव सन्तानपरम्परां जनयत् समस्तविधदौर्भाग्यं दारिद्र्यं च

इसीलिए उन्हें 'दरिद्र' कहा गया था । इस मर्त्य लोक में सर्वोत्कृष्ट मानव योनि में उत्पन्न होकर भी वे सर्वविध मंगलकारिणी राष्ट्रहितदृष्टि से रहित होकर, ज्ञान व हिताहित विषयक भेद-प्रभेद सहित विज्ञान को उपार्जित न कर सके । स्वराष्ट्रहित रूपी ज्ञान के अभाव में उन्हें अन्ध कहा गया है । अपनी अन्धता के कारण ही वे अपने भावी दारिद्र्य को भी नहीं देख पाते हैं । इतिहासकार इस बात को अच्छी प्रकार जानते हैं । भारतीय इतिहास में तो ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं । इसीलिए उनके लिए 'अतिदुर्भाग्याः' विशेषण का प्रयोग किया है ।

ऐसे राष्ट्रहित दृष्टि से हीन अन्ध व्यक्ति, परमुखापेक्षी होकर अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं, यद्यपि वे अपने आपको इस कर्म से सौभाग्यशाली मानते हैं, कि वे अपने भावी दुर्भाग्य को, पुत्रादिकों के दुर्भाग्य को नहीं देखते । वे राष्ट्रद्रोह के बीज बोते रहते है, । स्वतन्त्रता के सुख का स्मरण और विचार भी तो नहीं करते । जैसा कि प्रस्तुत भाष्यकर्ता ने अपने लघुकाव्य 'अन्योक्तितारावली'

प्राप्नोति । ततश्च सर्वदोऽपि क्षीणं बुभुक्षितं च भवति । तत एव च समस्तपापानां लीलाक्षेत्रं भवति परतन्त्रं राष्ट्रम् । उक्तमप्यन्यत्र यथा—

'बुभुक्षितः किं न करोति पापं क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति' । इदमत्र तात्पर्यम्—दारिद्र्यस्य, दौर्भाग्यस्य, समस्तरोगाऽऽक्रान्ततायाश्च परं कारणं राष्ट्रहितदृष्टिहीनतैव । यतो राष्ट्रहितदृष्टिहीनाः खल्वन्धा इति स्वनिकटस्थितमपि न पश्यन्ति राष्ट्रम् । बुभुक्षा च विषयाणां नैसर्गिकी प्रवृत्तिमतो जीवलोकस्य अन्धाश्च बुभुक्षावन्तश्चेति नाऽऽकलयितुं प्रभवन्ति स्वस्य स्वराष्ट्रस्य च हिताऽहितमिति समस्तरोगाऽऽक्रान्ता दुर्भाग्या दरिद्राश्च भवन्ति । ततश्च पुनरपि साऽन्धता बुभुक्षा च राष्ट्रद्रोहाद्यतिभयङ्करपापानि प्रवर्तयति । तानिपापानिच राष्ट्रं परतन्त्रं कुर्वन्तीत्यहो परम्परा दौर्भाग्यस्य राष्ट्रियाणां नराणाम् । सर्वथाऽप्येतस्य मूलं राष्ट्रहितदृष्टयभाव एवेति सुतरामेव । एतेनेदमपि बोध्यते यत् 'सर्वतः पूर्वं राष्ट्रहितदृष्टिः प्रापणीया' इति । अथ राष्ट्रस्य सुहृदो मित्राणि च राष्ट्रियाः परतन्त्रराष्ट्रे परैः कारागारेषु निक्षिप्यन्ते, शिरश्छेदेन दण्ड्यन्ते, तत्राऽपि कारणं खलु राष्ट्रहितदृष्टिहीनतैवेति ब्रूमः।यतः पुरा खलु तेषां पूर्वजैः राष्ट्रदृष्टिर्नाऽवापि । अतस्तैरन्धै राष्ट्रविषय उदास्थितम्, कैश्चित् पुनरतीवाऽनार्यभूतैःद्रोहपरायणैः सवृत्तम् । ततश्च राष्ट्रं

में व्यक्ति किया है–स्वर्णनिर्मित पिंजरे में पड़ा तोता अनार खाता है, मीठा जल पीता है, किन्तु आंखें बन्द करके अपने स्वातन्त्र्य–सुख को विस्मृत कर बैठा है, यह देखकर दुःख होता है ।

परतन्त्रता समस्त दुर्भाग्यों का मूल है और उसका भी मूल राष्ट्रहितदृष्टिहीनता ही है । परतन्त्र व्यक्ति अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होते हैं । ऐसे अन्धे व्यक्ति भले ही इस रहस्य को न समझें, किन्तु आलोचक तो इस रहस्य को भली भांति समझते ही हैं कि परतन्त्र राष्ट्र में शत्रु अनेक प्रकार के नूतन रोगों का बीजारोपण कर देते हैं । रुग्ण राष्ट्र, बल-बुद्धि-वीर्यहीन हो जाता है । परतन्त्र राष्ट्र की सन्तान भी दरिद्र, दुर्भाग्यपूर्ण क्षीण और बुभुक्षित होती है । अतः परतन्त्र राष्ट्र समस्त पापों का लीलाक्षेत्र हो जाता हैं । अन्यत्र कहा भी गया है कि भूखा व्यक्ति क्या पाप नहीं करता ? और क्षीण जन करुणा–विहीन होते हैं । दारिद्र्य का, दुर्भाग्य का, समस्त रोगों के आक्रमण का मूल कारण राष्ट्रहितदृष्टिहीनता ही है । राष्ट्रहितदृष्टि से रहित अन्ध व्यक्ति अपने निकट स्थित राष्ट्र को नहीं देखने पाते हैं । विषयों की भूख प्राणियों की नैसर्गिकी

परतन्त्रतामापन्नम् । तत एव राष्ट्रद्रोहिणां राष्ट्रोदासीनानां च सन्तानानि जन्मान्तरार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशात् कालान्तरे समर्जितराष्ट्रहितदृष्टितया सौहार्दमुपगतान्यपि निजपूर्वजाऽऽचरितमहापापानां परिणाममिदानीं भुञ्जते—कारावासशिरश्छेदादिकम् । अतएव राष्ट्रविनयाचार्यवर्या राष्ट्रियाणाँ समस्तस्याऽपि दौर्भाग्यस्य कारणं राष्ट्रहितदृष्टिहीनतामेव निरूपयन्ति । तामससुखप्रीतयस्ते परिणामाऽनभिज्ञा' इति परिणामे दुःखमेवाऽनुभवन्ति । अतएव श्रीमद्भगवद्गीतासु सुखमेवं वर्णितम्—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।। (भ. गी. 18.36)
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।। (भ. गी. 18.37)
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। (भ. गी. 18.38)
यदग्रे चाऽनुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्राऽऽलस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। (भ. गी. 18.39)

इदानीं ये राष्ट्रहितदृष्टिं समवाप्य राष्ट्रकल्याणाय यतमानाः कारालयेषु दृश्यन्ते शिरश्छेदं प्राप्नुवाना वा दृश्यन्ते । ते भाविदारिद्र्यदौर्भाग्यनानाविधरोगाक्रमणादीनि समूलघातं निघ्नन्तीति चक्षुष्मन्तो नु

प्रवृत्ति है । अन्धे तथा भूखे व्यक्ति राष्ट्र के हिताहित को नहीं देख सकते हैं । यह अन्धापन एवं भूख राष्ट्रद्रोहादि भयंकर पापों को जन्म देती है । ये पाप ही राष्ट्र को परतन्त्र करते हैं । इन सबका मूल राष्ट्रहितदृष्टि का अभाव ही है । अतः सर्वप्रथम राष्ट्रहित-दृष्टि उत्पन्न की जानी चाहिए ।

परतन्त्र राष्ट्र में, राष्ट्र के सुहृद् और मित्रों को कारागारों में डाला जाता है, सिर काटा जाता है, इसका मूल कारण भी राष्ट्र–हित दृष्टिहीनता ही है । क्योंकि उनके पूर्वजों ने राष्ट्रदृष्टि प्राप्त नहीं की थी । इसीलिए तो उन अन्धों ने राष्ट्रहित की उपेक्षा की । किन्हीं अनार्यों ने द्रोह किया । इसीलिए राष्ट्र परतन्त्रता को प्राप्त हुआ । इसीलिए राष्ट्र द्रोहियों की सन्तानें भी जन्मान्तरार्जित पुण्यपरिपाक से कालान्तर में राष्ट्रहितदृष्टि उत्पन्न होने से सौहार्द को प्राप्त होकर भी अपने पूर्वजों के पापाचरण के परिणामस्वरूप ही इस समय कारावास

पश्यन्ति, नाऽन्धाः । अतएव श्रीमार्कण्डेयपुराणान्तर्गत श्रीदुर्गासप्तशती-रहस्ये एवमुक्तम् —

चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः । (प्रा. र. 25) इति । उदासीना अपि किल राष्ट्रविषये ये भवन्ति तेऽपि राष्ट्रं पारतन्त्र्यगर्ते निपात्य दरिद्रा दुर्भाग्या रोगैरभिप्लुताश्च भवन्ति । इदं चाऽवधेयं भवत्यत्र—सर्वतः पूर्वमिदमेव शिक्षणीयं यदस्मद्राष्ट्राय हितं किं, किं चाऽहितम्, ततश्च तद्विषयकेण संविज्ञानेन ज्ञानेन वक्ष्यमाणतत्तदुपायैः स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रीकृत्य, स्वातन्त्र्येण च पुरुषार्थान् चतुरोऽपि सम्भाव्य

शिरश्छेदनादि दुःख भोग रहे हैं । इसीलिए राष्ट्रव्रती राष्ट्रहितदृष्टिहीनता को ही समस्त दुर्भाग्य का कारण मानते हैं । तामस सुख से प्रेम करने वाले और परिणाम से अनभिज्ञ ये अन्त में दुःख का ही अनुभव करते हैं । अतः श्रीमद्-भगवद् गीता (18/36-39) में सात्त्विक, राजस और तामस त्रिविध सुखों का वर्णन किया गया है ।

इस समय जो लोग राष्ट्रहितदृष्टि प्राप्त करके भी राष्ट्रकल्याण के लिए प्रयत्न करते हुए कारावासादि दुःख उठाते या शिरश्छेदन प्राप्त करते रहे हैं, वे भावी दारिद्र्य दुर्भाग्य, नानाविध रोगाक्रमणादि को जड़-सहित नष्ट कर रहे हैं । आंख वाले लोग इस बात को देख लेते हैं, अन्धे लोग नहीं देख पाते । इसी तथ्य को दुर्गा सप्तशती रहस्य में स्पष्ट किया गया है —

'चक्षुष्मन्तो न पश्यन्ति नेतरे' तद्विदो जनाः'

जो लोग राष्ट्र के सम्बन्ध में उदासीन रहते हैं, वे राष्ट्र को परतन्त्रता के गर्त में डालकर दारिद्र्य, दुर्भाग्य, रोगादि से युक्त होते है । अतः हमें यही शिक्षा देनी चाहिये कि राष्ट्र का हित क्या है ? राष्ट्र का अहित क्या हैं ? उन उपायों से अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र करके, स्वतन्त्रता से चारों पुरुषार्थों का उपार्जन कर सके । आनन्द का अनुभव कर मनुष्यों को ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करना चाहिये । आर्यों के मार्ग पर चलकर सब प्रकार का मंगल, प्रेय, श्रेय तथा सम्भावित परमात्म-लाभ अवश्य प्राप्त करना चाहिए । इस नवमी कारिका में राष्ट्रवासियों में अधम मानवों के लक्षण बतलाये गये हैं ।

कारिका-9

मानवों के कुल में जन्म लेकर जिन्होंने राष्ट्र—दृष्टि अर्जित नहीं की, वे विष्टा खाने वाले, पुच्छहीन शूकरों के समान है । मनु से उत्पन्न होने से इन्हें मानव कहा गया है । मनु का अधिकारकाल ही मन्वन्तर कहा जाता है ।

तत्तादानन्दजातं समनुभूयैहिकमामुष्मिकं च निःश्रेयसं परमानन्दं पुरुषाः प्राप्नुयुरिति । आर्यजुष्टेन पथा सर्वमपि सुमङ्गलं प्रेयश्च श्रेयश्च सम्भावितं परमात्मलाभमवश्यमातनुत इति सर्वं सम्यगुपपन्नमधिकमग्रे ।।8।।

एवं ह्येतावत्पर्यन्तं राष्ट्रदृष्टिं प्रस्तुत्य (रा. 2) राष्ट्रपृथक्त्वविचारं सलक्षणं प्रतिपाद्य (रा. 3) तत्र स्वत्वं केषां केन हेतुना च भवतीति निरूप्य (रा. 4) केन हेतुना केषां च स्वत्वं तत्रत्यं निवर्तते इति निर्वर्ण्य (रा. 5) स्वतन्त्रमेव स्वं राष्ट्रमेव च पुमर्थसाधनं पुमर्थफलदायकं च भवतीति समर्थ्य (रा 6) निष्फलकोपप्रसादं राष्ट्रं महाऽपमानभाजनं सत् समस्तपापोत्पादकं भवतीति सदृष्टान्तं विवेच्य (रा. 7) तस्याऽपि निदानतामावहति ननु राष्ट्रहितदृष्टिराहित्यमेवेति, राष्ट्रहितदृष्टिराहित्यं परिणामे दारिद्र्यदौर्भाग्यादीनि व्यसनान्येवाऽवश्यं जनयति राष्ट्रियाणामिति च सम्यक् प्रदर्श्य (रा. 8) सम्प्रति राष्ट्रवासिष्ववधमानां मानवानां लक्षणानि प्रसङ्गेन निरूपयन्निमां नवमीं कारिकामाचार्योऽवतारयति—

मानवानां कुले जन्म लब्ध्वा यैरर्जिता न हि ।।
राष्ट्रदृष्टिः पुच्छहीनाः कोलास्ते गूथभक्षिणः ।।9।।

[मनुष्यों के वंश में जन्म पाकर भी जिन्होंने वह राष्ट्रदृष्टि नहीं पाई, वे विष्टा-भक्षण करने वाले बिना पूंछ के शूकर हैं ।।9।।]

---

71 दिव्ययुगों का एक मन्वन्तर होता है । यह चतुर्विधा सृष्टि मनु द्वारा निर्मित है —इस सिद्धान्त से सभी जीव मानव कहलाने चाहिये । क्या पशु पक्षी आदि भी राष्ट्र-दृष्टि के अधिकारी हैं ?

ज्ञान-प्राप्ति में मानव का ही अधिकार है—यह बतलाने के लिए 'मानवा' कहा गया है । ये मानव मनन करने में समर्थ है एवं ज्ञानवान् हैं । इसीलिए इन्हें मानव कहा गया है । "प्राणियों को नर-जन्म मिलना दुर्लभ है" इससे मनुष्य-जन्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है । आत्मसाक्षात्कार किये हुए त्रिकालदर्शी महर्षियों ने धर्म की महत्ता को ही प्रदर्शित किया है । (यथा–मनु 8/15) धर्म वस्तु मात्र का धारणशील एवं निदान रूप पदार्थ है । धर्म की व्याख्या 'कल्याण सौगन्धिक' की व्याख्या में की गई है । समस्त पुरुषार्थों का उत्पादक होने से राष्ट्र को ही परम धर्म कहा गया है । राष्ट्रवादी लोग जब राष्ट्र की रक्षा करते हैं, तब राष्ट्र भी उन राष्ट्रवादी लोगों की रक्षा करता है । राष्ट्राधिष्ठित ज्ञानवान् पुरुष ही राष्ट्र की रक्षा कर सकते हैं । इस दुर्लभ मर्त्यलोक में ज्ञानी स्वभाव वाले कुल में जन्म अनेक पूर्वजन्म के शुभकर्मों से ही होता है । ज्ञान-

[यः–मानवानाम्–कुले–जन्म–लब्ध्वा-राष्ट्रदृष्टिः—न अर्जिता—(अस्ति) हि—ते—पुच्छहीनाः—गूथभक्षिणः—कोलाः। (भवन्ति) इति पदयोजना।

मानवेति। "यैः"—शरीरधारिभिः। "मानवानाम्"—मनोरिमे-मानवास्तेषाम्। विवक्षितसमयशकलाऽधिष्ठात्री शक्तिः "मनुः" इति ज्ञापकत्वादिसकलाधिकारसम्पन्नतया व्यपदिश्यते। तदधिकारकालश्च मन्वन्तरमित्याख्यायते। एकसप्तत्या दिव्ययुगानां मन्वन्तरमेकं भवति। भवतु विषयान्तरमेतद्भवेदिति प्रकृतं प्रस्तूयते। चतुर्विधाऽपि सृष्टिर्मनुकृतैवेति सर्वेऽपि जीवा मानवा भवितुमर्हन्तीति किं पशुपक्ष्यादयोऽपि राष्ट्रदृष्ट्यधिकारिण इति तु नाशङ्कनीयम्। 'सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्'। इतिनियमात्।

अद्य च ज्ञाने मनुष्याणामेवाऽधिकार इति बोधयितुमेव "मानवा" इत्युक्तम्। एवं च मननसमर्थस्येमे मननसमर्था ज्ञानवन्त एव प्राणिनोऽत्र बोध्या इति मानवपदेन ध्वन्यते तिर्यगधिकरणन्यायेन त एवाऽत्राधिकारवन्त इति। तेषां "कुले"—वशे। "जन्म"—प्रादुर्भावम्। "लब्ध्वा"—प्राप्य। अतएव च तत्र तत्र सर्वत्र "जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्" इत्यादिना मनुष्यजन्मनः श्रैष्ठ्यं वर्ण्यते विद्वत्तल्लजैः। "राष्ट्रदृष्टिः" द्वितीयस्यां कारिकायां वर्णितचरी भेदप्रभेदवती। "न अर्जिता"—

प्रधान कुल में जन्म लेकर भी जिन्होंने करणीय कर्म नहीं किये, उन्हें क्या कहा जाय ? हिताहित ज्ञान के बिना कोई भी व्यक्ति स्वाभिलषित को सिद्ध नहीं कर सकता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके भी जो स्वार्थ से ग्रस्त होकर परमार्थरूप को सिद्ध नहीं करते हैं, उसे तो फिर क्या कहा जाय—इससे अधिक मूर्ख कौन होगा, जो स्वार्थ-साधन में प्रमाद करेगा जैसा कि योगवाशिष्ठ में भोले-भाले ढंग से कह दिया गया है। इस प्रकार ब्रह्म-दर्शन योग्य बुद्धि से सम्पन्न मानव का निर्माण कर परमात्मा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। जैसा कि श्रीमद्भागवत में भगवान् व्यास ने लिखा हैं—अजन्मा आत्म शक्ति से नगरों, वृक्षों, सर्पादिकों, पशुओं, चिड़ियों, मच्छरों और मछलियों की रचना करके उनसे सन्तुष्ट न होकर ब्रह्मदर्शन-योग्य बुद्धि से सम्पन्न पुरुष की रचना करके परमात्मा अत्यन्त प्रसन्न हुआ।'

स्वार्थ साधन के बिना राष्ट्र-दृष्टि कैसे आ सकती है ? मूल हिताहित के ज्ञान के बिना परिपूर्ण हित की सम्भावना नहीं होती। मूल आलवाल में सिञ्चन

नासादिता । "अस्ति" इति शेषः। "ते" राष्ट्रदृष्टिहीनाः । "पुच्छहीनाः" पुच्छेन लाङ्गूलेन, हीना—रहिताः । "गूथभक्षिणः"—गूथं—विष्टां भक्षितुं—अत्तुं शीलमस्ति येषां ते विष्टाभक्षणशीलाः । "कोलाः"—शूकराः । "भवन्ति" इति शेषः । अत्रेदं समासतो रहस्यम्—

सर्वैरपि कृतस्वात्मसाक्षात्कारैस्त्रिकालदर्शिभिर्महर्षिभिरिदमेव सर्वत्र सिद्धान्तितं यत्—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोवधीत् ।। (मनु 8/15) इति ।

धर्मश्च "वस्तुमात्रस्य धारणशीलो निदानरूपः पदार्थः" इति तु विदुषां सिद्धान्तः ।

धर्मपदार्थस्य विस्तरेण निरूपणं तु 'कल्याणसौगन्धिकव्याख्यायां' "कला"यामेव प्रस्तुतभाष्यकृता विहितमिति तत एवाऽवलोकनीयम् ।।

राष्ट्रं हि समस्तपुरुषाणामुत्पादकतया परमं निदानमिति राष्ट्रं परमो धर्म इति निरूपितं पूर्वम् । एवं च राष्ट्रं-राजमानो भूप्रदेशो धर्मरूप इति न कदाऽपि हन्तव्यतामवगाहते । राष्ट्रियै रक्षितं राष्ट्रं राष्ट्रियानपि रक्षति । तैर्हतं च तान् हन्त्यपीति सिद्धान्तः । राष्ट्ररक्षणे च राष्ट्राऽधिष्ठिताः पुरुषा एव क्षमन्ते । यदधिष्ठानेन हि भूप्रदेशो राष्ट्रत्वं-राजमानत्व-

---

क्रिया द्वारा ही सम्पूर्ण वृक्ष फल फूल कर सिंचनकर्ता की कामना को पूर्ण करता है । राष्ट्र सभी पुरुषों का मूल है । उसके हिताहित को लेकर ही पुरुषों का हिताहित होता है । अतः व्यक्तिगत हितसाधन करने हेतु राष्ट्र के हित का साधन आवश्यक होता है । उसके साधन के लिए तद्विषयक सांगोपांग ज्ञान-विज्ञान आवश्यक हो जाता है । सब प्रकार के अभीष्ट साधन के लक्षण वाले राष्ट्र-ज्ञान का अर्जन जो नहीं करते, ये आकार मात्र से ही मनुष्य हैं । केवल मानव वंश में शरीर ग्रहण करने से ही सम्मान नहीं प्राप्त किया जा सकता है । मानव-जन्म की सार्थकता तब है, जब मानवोचित गुणों का अर्जन किया जाय । मनु ने कहा है कि जैसे काठ का हाथी, और चमड़े का मृग होता है, उसी प्रकार अध्ययन न करने वाला ब्राह्मण होता है । ये तीनों नाम मात्र धारण करते हैं—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
तथा विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।

मान्वर्थक्येनाऽनुभवति। यतः किल मनुष्या एव ज्ञानस्वभावा भवन्ति प्राधान्येन रक्षणादिषु च ज्ञानवन्त एवाऽधिक्रियन्ते। इत्येतद् द्योतनाय मानवपदमुपात्तं कारिकायाम्। मर्त्यलोकेऽत्राऽतिदुर्लभे ज्ञानस्वभावानामपि कुले–वंशे जन्म लब्ध्वा अनेकप्राग्भवसमर्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकप्रभावात् ज्ञानप्रधानयोनौ प्रादुर्भावं प्राप्याऽपि यैर्मानवैःसमस्ताऽऽशसापूरणनिदानं नाऽवगतं ते किं वाच्याः। स्वहिताऽहित ज्ञानमन्तरेण स्वाऽभिलषितं साधयितुं न कोऽपि प्रभवति। अथ चेद्क् सुदुर्लभमपि जन्म प्राप्य यः स्वार्थमार्यगुह्यमिति परमार्थरूपं न साधयति स पुनः—

इतः कोऽन्योऽस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।

इत्येवंरूपेण योगवाशिष्ठेऽतिमूढतया निर्दिष्टः किं कथनीयः। एनं हि मानवं ब्रह्माऽवलोकनयोग्यधिषणाशालिनं निर्माय ब्रह्माऽपरं तुष्यतात्याह भगवान् कृष्णद्वैपायनः श्रीमद्भागवते—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्॥
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्माऽवलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

उपर्युक्त श्लोक में विप्र-पद ज्ञानप्रधान मनुष्य-योनि में समुत्पन्न व्यक्ति का तथा अध्ययनपद राष्ट्र ज्ञान-विकास का वाचक है।

मानवोचित गुणों के बिना मानवता कहां? यदि शरीरमात्र से ही मानवता है, तो वह बकरी के गलस्तन की भांति व्यर्थ है। मानव का मुख्य गुण राष्ट्र-हित-दृष्टि ही हो सकता है। वह राष्ट्रहित-दृष्टि अनार्यभाव को नष्ट करती है तथा आर्यभाव को विकसित करती है, चतुर्विध पुरुषार्थों की साधयित्री तथा कल्याण प्रदान करने वाली है। इस राष्ट्रहितदृष्टि को कामधेनु की तरह मानकर यज्ञ के द्वारा यज्ञपुरुष का भजन करने वाले आर्य मनुष्य, जड़-चेतन रूप समस्त संसार का कल्याण कर सकते हैं। इसीलिए राष्ट्रहितदृष्टिरहित-व्यक्ति को कोल (शूकर) आदि कहा गया है। शूकरों में जगली शूकर न कहकर उन्हें विष्टा खाने वाले शूकर कहा है। वे राष्ट्रहित-दृष्टिरहित अन्ध मानव पुच्छहीन-शूकर ही है, क्योंकि वे अपने ही राष्ट्र में परतन्त्रता के कारण परमुखापेक्षी हो जाते हैं।

दूसरों के भुक्तशेष को खाकर यथाकथञ्चित् जीवन–निर्वाह करते हैं। ऐसे

स्वार्थसाधनं चाऽन्तरा राष्ट्रदृष्टिं कथमिव सम्भवेत्, नैवकथमपि सम्भवतीत्येव शक्यते वक्तुम्। नहि मूलहिताऽहितज्ञानमन्तरेण खलु परिपूर्णहितं सम्भावनाकोटिमाटीकते। मूलाऽऽलवाले सिक्तस्तरुवरः फलपर्यन्तं सिक्तो भूत्वा सेचकस्य कामान् पूरयितुं क्षमते। राष्ट्रं हि नाम समस्तपुरुषाणां मूलमिति तदीयहिताऽहितमुपजीव्यैव पुरुषहिताऽहितमिति स्वकीयं व्यष्टिहितमपि साधयितुं राष्ट्रहितसाधनमावश्यकम्। तत्साधनाय च तद्विषयकं साङ्गोपाङ्गज्ञानं विज्ञानं चाऽवश्यकमेव। तदपि हि किल सर्वविधाऽभिलषितसाधनलक्षणं राष्ट्रज्ञानं यैर्नार्ज्यते ते नन्वाकारमात्रेण मानवाः सन्ति। केवलं मानवानां वंशे शरीरग्रहणेन न मानवप्राप्य सम्मानपात्रत्वं शक्यते प्राप्तुम्। मानवोचितगुणसमर्जनेनैव हि लब्धुं सुशकं सार्थक्यं मानववंशजन्मनः। अतएव भगवान् मनुरप्याह—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः॥

तथा विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ (मनु. 2/157) इति।

अत्र विप्रपदं ज्ञानप्रधानमनुष्ययोनिसमुत्पन्नानामुपलक्षणपरतया व्याख्येयं भवेत्। अध्ययनपदं च राष्ट्रज्ञानविज्ञानपरतयेति सामञ्जस्यमावहेत्। अतएव सुष्ठूवाच खलु प्रस्तुतभाष्यकार एव स्वोपज्ञायां "अन्योक्तितारावल्याम्" एवम्—

गुणगणमहितानां वक्षसि स्थातुमीहा
भवति यदि हृदन्तर्वंशवन्मौक्तिकानि॥

निजमुदरमुदारं सद्गुणैः पूरयन्तां
नहि गुणरहितानां वंशजत्वेऽपि मानः॥ इति।

अभावे हि ननु मानवोचितगुणानां किं मानवत्वं भवेत्। शरीरमात्रेणैव यदपि खलु मानवत्वं तत्तु वृथैवाऽजागलस्तनस्येव। मानवानामुचितश्च प्रधानो गुणो राष्ट्रहितदृष्टिवत्त्वमेव। सा ह्यनार्यभावं समूलघातं निघ्नती आर्यभावं प्रददती चतुर्विधमपि पुरुषार्थं साधयन्ती परमं निःश्रेयसं मानवस्य विदधाति सत्कारासेविता राष्ट्रदृष्टिः। तां सम्भाव्य चेमां

मानव भले ही शरीर में शूकर सदृश न हो, किन्तु उनके धर्म तो उन शूकरों के समान ही हैं।

ऐसे राष्ट्रहितदृष्टिरहित व्यक्तियों को केवल शूकर विशेषण से ही अलंकृत नहीं किया गया है, अपितु उन्हें उलूकसदृश भी कहा गया है।

कामधेनुमिव यज्ञेन यज्ञपुरुषं यजमाना आर्यास्ते स्थावरजङ्गमानां समस्त लोकानां कल्याणाय क्षमन्ते । अतः सुष्ठूक्तं खलु राष्ट्रदृष्टिहीना मानवाः कोला इति । 'कोलाः'–शूकराः । तथाचाहाऽमरसिंहः—

वराहः शूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः । (अम.2.5.3)इति तेऽपि न वन्याः किन्तु विड्वराहाःइत्याह–'गूथभक्षिण' इति । सर्वदा विष्टा-भक्षणशीलाः एतेन पारतन्त्र्ये राष्ट्रदृष्टिहीनतैवाऽसाधारणं कारणमिति बोध्यते । विशेषस्तु पुनरियानेव यत् ते कोलाः किल सपुच्छाः सन्ति । एते च 'पुच्छहीनाः'–लाङ्गूलरहिताः कर्मणि न पुनर्विशेषः यथा ते विष्टा-भक्षणशीलाः सर्वदैवेतस्ततो धावन्ति । तथैतेऽपि राष्ट्रहितदृष्टिहीनतया-ऽन्धाः परतन्त्रतामिताः परमुखान्येव सदा वीक्षमाणाः परैरुपभुक्तशेषं सर्वदा सर्वमपि भोगजातं तैर्विसृष्टमिति भुञ्जते । किमत्र नास्ति कोल-सादृश्यम् । शरीरे मा भवतु नाम कौलसादृश्यं, कर्मणि तु पूर्णतया घटते एव तदित्यलमन्यदग्रे विवेचयिष्यते ।।9।।

न केवलं कोलसमानभाव एव राष्ट्रहितदृष्टिहीनानां मानवभाव-वैरी । मानवानामधमा एते खलूलूकप्रतिरूपतामपि पोषयन्ति नितरा-मिति निरूपयन्नाह—

ग्रस्तं राष्ट्रग्रहपतिं दुष्टाऽराष्ट्रियराहुणा ।
राष्ट्रदृष्टिविहीनास्तु कथं पश्यन्तु कौशिकाः ।।10।।

[दुष्ट अराष्ट्रियरूपी राहुसे ग्रसे हुए राष्ट्ररूपी ग्रहपति सूर्य को राहु–दृष्टि रहित (अन्धे) उल्लू किस प्रकार देखें ।।10।।

कारिका–10

उपसर्गों के संयोजन से तत्तत्पदों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है । इसी कारण महाकवियों ने भी अपने काव्यों में यथावसर इन उपसर्गों का निपुणता से संयोजन किया है ? यहां पर भी "विहीन" पद इस आशय का ही बोधक है । अर्थात् जो राष्ट्रदृष्टि से अत्यन्त रहित है, जिनमें अंशमात्र भी राष्ट्रदृष्टि नहीं है, वे अन्धे हैं—अनार्यभाव को प्राप्त कर चुके हैं । वे उलूक हैं, तभी तो वे प्रकाशमान सूर्य को नहीं देख पाते हैं । जो सूर्य स्वतन्त्रतापूर्वक नीलगगन में सुशोभित होकर लोक का कल्याण करने में सर्वदा तत्पर हो, भला उस सूर्य को ये राष्ट्रदृष्टिहीन उलूक क्या देख पायेंगे ? यदि उनमें अंशमात्र भी राष्ट्र-दृष्टि होती, तो सम्भवतः वे उसे देख पाते । यहां अधिक प्रकाशमान वस्तु का

राष्ट्रदृष्टि–विहीनाः–तु–कौशिकाः–दुष्टाऽराष्ट्रियराहुणा–ग्रस्तं–ग्रहपतिं–कथं–पश्यन्तु । इति पदयोजना ।

ग्रस्तमिति । राष्ट्रदृष्टिस्तावद्व्याख्यातचरलक्षणा तया । 'विहीनाः'-रहिताः । ननु हीना इति रहितार्थकेन पदेन साम्येनैव विहीना इत्यपि नाम पदं राहित्यमेवार्थं बोधयेत् चेतदुपसर्गो विर्मृषैव भवेदिति चेन्न किंचिदेतत् । विशेषान्तरसमवधाने हि विशेष्यवाचकानां पदानां सामान्यार्थपरभावो दृष्टो लोके । अनेनैवाऽभिप्रायेण कविकुलगुरुः श्रीकालिदासः 'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः (र. वं. 2.12) इति प्रायुङ्क्त । 'वंशकरीरनीलैः' (शि. व. 4. 14) इति महाकविर्माघश्च । अथवा विशेषेण हीनाः । राहित्ये विशेषश्चाऽत्यन्तिकत्वमेव । अयमभिप्रायः—'ये किल राष्ट्रदृष्ट्याऽत्यन्तं रहिताः भेदप्रभेदवत्यां राष्ट्रदृष्ट्यामांशिक्यपि येषां दृष्टिर्नाऽस्ति तेऽत्यन्तमन्धा अनार्यभावमापन्नाऽस्तु इति । अतएव "कौशिकाः'–कौशिका इव कौशिकाः–उलूकाः । 'दुष्टाऽराष्ट्रियराहुणा' दुष्टः–अनार्यः, अराष्ट्रियः–राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः 'राष्ट्राऽवारपाराद्धखौ' (पा सू 4.2.13) इति घः । 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (पा. सू. 7 1.2) इतिः घस्येयादेशः । स न भवतीत्यराष्ट्रियः राष्ट्रान्तरस्य सम्बन्धी राष्ट्रियविरुद्धश्चेति द्विविधोऽपीत्यर्थः । स एव राहुरिव राहुः ग्रासकस्वभावत्वात् तेन 'ग्रस्तम्'–आक्रान्तम् । राष्ट्रग्रहपतिम्'–ग्रहाणाम्

निरूपण करने के लिए ही स्वतन्त्र राष्ट्र को सूर्य की उपमा दी गई है । उलूक अधिकाधिक अन्धकार वाले पदार्थ को तो आसानी से देख लेते हैं, किन्तु इस प्रकाशमान सूर्य को नहीं देख पाते, क्योंकि उनका ऐसा स्वभाव ही होता है । क्या वे उलूक अराष्ट्रय राहु से ग्रस्त सूर्य को देख लेते हैं ? राष्ट्र में उत्पन्न "राष्ट्रीय होता है । इसका विलोम है, अराष्ट्रीय । इसके राष्ट्रान्तर सम्बन्धी या राष्ट्र-विरुद्ध दो अर्थ किये जा सकते है । वही राहु है । ग्रासक स्वभाव होने से उस राहु से आक्रान्त राष्ट्र रूपी सूर्य है । वे उलूक उस राहुग्रस्त सूर्य (राष्ट्र) को भी नहीं देख सकते हैं ।

उन उलूकों ने तो पक्षियों के कुल में जन्म लिया है । यदि ये उलूक उस सूर्य को नहीं देख पाते, तो उनका विशेष दोष नहीं हैं, उनका प्राकृतिक स्वभाव ही ऐसा है, किन्तु जो मानव होकर, श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर भी राष्ट्रदृष्टिहीन उन उलूकों की तरह जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उन्हें देख कर आश्चर्य होता है । जिनमें अंशमात्र भी राष्ट्रदृष्टि नहीं है, वे मानवशरीरधारी होते हुए भी

अन्तरिक्षे भासमानानां तेजोमयगोलकानां पतिरिव पतिर्मुख्यभूतः। राष्ट्रमेव-राजमानो भूप्रदेश एव 'ग्रहपतिः-सूर्यः तं 'कथम्-केन प्रकारेण 'पश्यन्तु'-अवलोकयन्तु। अयमभिप्रायः—आंशिक्याऽपि राष्ट्रदृष्ट्या ये हीनास्तेऽपि किल न प्रभवन्ति राष्ट्रं द्रष्टुम्। ये च पुनस्तया सर्वथा हीनास्ते कथं नाम राष्ट्रं पश्यन्तु? आंशिक्या किल ये राष्ट्रदृष्ट्या हीनास्ते जातु राष्ट्रं देदेप्यमानतया द्रष्टुं प्रभवेयुः, सर्वथाऽपि तया ये हीनास्ते कथङ्कारं पुनः पश्येयुरिति द्योतयितुं विहीना इत्युक्तम्। अथ कदाचिदिदमपि सम्भवेत्-यत् तया विहीना अपि राष्ट्रस्यैवाऽतिशयेन दीप्यमानतया द्रष्टुं प्रभवेयू राष्ट्रम्। अधिकतरदीप्यमानत्वद्योतनायैव ग्रहपतिरूपकं प्रतिपादितम्। परन्त्वेते खलु कथमपि न द्रष्टुं प्रभवन्त्येवञ्जातीयका अनार्या अन्धा एते। एतदेव बोधयितुं कौशिकत्वमेषां प्रतिपादितम्। 'कौशिकाः'-उलूकाः किल दिवान्धा भवन्तीति प्रसिद्धम्। ते पुनरधिकाऽधिकं भास्वन्तं न द्रष्टुं प्रभवन्ति। 'ग्रहपतिः'-सूर्यः स च भास्वान् सोऽप्यतिशयेन भास्वान् राजमानत्ववानिति राष्ट्रपदेन ध्वन्यते। तं किल कौशिका नैव पारयन्ति द्रष्टुम्। स्वभाव एवाऽयं तेषाम्। तथा लक्षणस्वभावास्ते मा पश्यन्तु नाम तथा जातीयकं ग्रहपतिम्। अधिकाधिकमन्धकारवन्तं तु पदार्थं पुनः पश्यन्ति ते इति 'राहुणा'-स्वर्भानुना ग्रस्तं तु पश्यन्तु, परं तथाभूतमपि ते न पश्यन्ति तमित्येवंलक्षणाः कौशिका एते ननु भवन्ति। एवञ्जातीयका एवैते राष्ट्रदृष्टिविहीनाः कलङ्कयन्ति मानवानां कुले लब्धं जन्म। ते तु किल कौशिकास्तिरश्चां योनावेव समुत्पन्ना, अतो न तेषामेतावान्दोषः। परमेते मानवानां कुले समुद्भूता अपि राष्ट्रग्रहपतिं न पश्यन्ति राष्ट्रविदृष्टिविहीनतया अन्धत्वात्। ते कौशिकस्वरूपा एते मानवाः 'ग्रस्तम्'-आक्रान्तं पुनः कथं पश्यन्तु-केन प्रकारेण पश्यन्तु? ये हि स्वतन्त्ररूपतया देदीप्यमानतया ग्रहपतिमिव राष्ट्रं न

कर्मों से उलूक के समान ही है। उल्लू पक्षी मेघ रहित शारदीय निर्मल आकाश में शोभायमान समस्त ज्योतिष्पिण्डों से भासमान ग्रहपति सूर्य को नहीं देखते हैं। उसी प्रकार मानव-उलूक भी अपने स्वतन्त्रता से देदीप्यमान, शत्रुरहित, समस्त सुखसाधनशाली, सूर्य के समान राष्ट्र को नहीं देख पाते। परतन्त्र राष्ट्र को राहु से ग्रस्त सूर्य कहा गया है। राहु स्वयं प्रकाश रहित, छायारूपवाला है। सूर्य का (स्वतन्त्र राष्ट्रदृष्टिहीन अक्षम पुरुष का यही उलूकत्व है। इस प्रकार ये मानववंश में उत्पन्न किन्तु राष्ट्रदृष्टि से हीन पूर्ण उलूक ही है।

द्रष्टुं प्रभवन्ति ते राहुणेवाऽराष्ट्रियेण ग्रस्तं पुनः कथं नाम द्रष्टुं प्रभवेयुरिति रूपकालङ्कारेण द्योत्यते । इदमत्र बोध्यम्—असमर्पितराष्ट्रियाः खलु स्वराष्ट्रं परराष्ट्रं वा कस्यामप्यवस्थायां द्रष्टुं न प्रभवन्ति । अन्धत्वात्तेषाम् । वर्णितचरी हि राष्ट्रदृष्टिर्भेदप्रभेदवत्यांशिक्यपि येषां नाऽस्ति ते मानवाकारशरीरमात्रधारिणोऽपि न मानवाः किन्तु कर्मणा खलु कौशिकप्रतिरूपभावं वहन्त एते कौशिकाः तिर्यक्कौशिकाः खलु निर्गतनीरदेशा निर्मलनभसि राजमानं समस्ततेजोमयखगोलेभ्योऽप्यधिकतया भाभिः स्वाभिर्भासमानं ग्रहपतिं सूर्यं न पश्यन्ति । अथैवमेव मानवकौशिका अपि स्वस्य देदीप्यमानस्वातन्त्र्येण विहिते निःसपत्ने पृथिवीतले राजमानसमयेऽपि समस्तसुखसाधनशालिनि सूर्यसमानं समस्तराष्ट्रमुख्यमिव राजमानं राष्ट्रं राष्ट्रदृष्ट्या विहीना इति न द्रष्टुं प्रभवन्तीत्येतदेककौशिकसमानभावः । अथ 'दुष्टः'—अनार्यः 'अराष्ट्रियः'—प्रकाशमानविरुद्धस्वभावजातो यो राहुरिव 'राहुः स्वर्भानुः तेन ग्रस्तम्—आक्रान्तं—छादितमिति यावत् । उक्तं च सिद्धान्तशिरोमणौ प्रकाशविरुद्धच्छायारूपत्वं राहोः । यथा—

राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम् । इति ।

तथाभूतमपि कौशिकानद्रष्टुं प्रभवन्ति । मानवकौशिका अप्येते ग्रहपतिसमानं राष्ट्रं दुष्टाऽराष्ट्रियराहुणा राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धी राष्ट्रियविरुद्धश्चेति द्विविधोऽप्युक्तपूर्वलक्षणोऽराष्ट्रियः अनार्यभूतेन च तेन असुरसलक्षणेन राहुणेव ग्रस्तमाक्रान्तं पारतन्त्र्यमापादितमिति यावत् न द्रष्टुं प्रभवन्त्यन्धत्वात् । द्वितीयश्चैष कौशिकसलक्षणभावो राष्ट्रदृष्टिहीनानां मानवाधमानाम् । एवं च राष्ट्रदृष्टिविहीनाः खलु मानवयोनिसमुत्पन्ना अप्येते पूर्णकौशिका एवेति 'कथं पश्यन्तु'-केन प्रकारेण पश्यन्तु इति स्वभावोक्त्यलङ्कारेण दर्शनाऽभाव औचित्यं दृढीक्रियते । इदमपि-

---

इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि जो स्वतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रदृष्टि प्राप्त नहीं कर सकें, वे परतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्रदृष्टि कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? वे राष्ट्र की सहायता नहीं कर सकते हैं । राष्ट्रदृष्टिविहीनता मानव-जीवन का निम्नतम दोष है । मानव की पदवी प्राप्त करने वाले को इस राष्ट्रदृष्टिविहीनता के दोष को पूर्णरूपेण परित्याग कर देना चाहिए ।

अब राष्ट्र के पतन के कारणों का विवेचन किया जा रहा है ।

ध्वन्यते–यैः किल स्वातन्त्र्यसमयेऽपि स्वराष्ट्रस्य राष्ट्रदृष्टिर्नार्जिता, तैः पारतन्त्र्यग्राससमये पुनः कुतोऽवलोक्यं स्वराष्ट्रम् । ततश्च स्वतन्त्रतायां राष्ट्रस्य नाऽप्नुवन्ति ये राष्ट्रदृष्टिं ते तत्पारिणामिके पारतन्त्र्ये राष्ट्रस्य न साहाय्यं कर्तुं प्रभवन्तीति । सर्वथाऽपि राष्ट्रदृष्टिविहीनता हि नाम मानवयोनिसमुत्पन्नस्य गर्ह्यतमो दोषः स च मानवपदवीं समुपादित्सुना सर्वथाऽपि परिहरणीय एवेत्यप्युपदिश्यते । भवत्वन्यदग्रे विवेचयिष्यते ॥10॥

एवं कारिकयोर्द्वय्याऽनया (रा. 9,10) राष्ट्रदृष्टिविहीनानां सर्वाऽनर्थमूलतया शूकरकौशिकत्वप्रतिपादनेन मानवाऽधमत्वं प्रतिपाद्य, ते यथा च यानि च कर्माणि विदधति पतनकराण्येव तानि भवन्तीति सर्वथा तान्यनाचरणीयानीत्यार्यानुपदेष्टुं राष्ट्रपतनकारणानि विवक्षुराह हि –

अराष्ट्रियकराऽऽक्रान्तं तद् राष्ट्रं जायते ध्रुवम् ।।
यत्र राष्ट्रे वर्त्तमानाश्चाण्डाला राष्ट्रघातिनः ।।11।।

[जिस राष्ट्र में राष्ट्रघाती चाण्डाल जीवित रहते हैं, वह राष्ट्र अराष्ट्रियों के करों से आक्रान्त हो जाता है । यह निश्चय है ।।11।।]

[यत्र-राष्ट्रे-राष्ट्रघातिनः चाण्डालाः–वर्तमानाः—तद्-राष्ट्रं-ध्रुवम्-अराष्ट्रियकराकान्तम्-जायते । इति पदयोजना ।]

अराष्ट्रियेति । "यत्र"–वर्ण्यमाने । 'राष्ट्रे'–उक्तपूर्वलक्षणे राजमानभूप्रदेशे । "राष्ट्रघातिनः"–राष्ट्रं घातयन्ति ते राष्ट्रघातिनः। राष्ट्रं घातयितुं शीलं येषां ते राष्ट्रघातिनः । 'राष्ट्रमुक्तलक्षणं 'घातयन्ति'–नाशयन्ति तेऽथ च "घातयितुं–नाशयितुं शीलं येषां ते राष्ट्रघातिनः 'चाण्डालाः'–अधमवीर्येणोत्तमक्षेत्रोत्पन्ना अनार्याश्चाण्डालस्वभावाः 'वर्तमानाः'–जीवनवन्तः 'भवन्ति' इति शेषः । 'तत्'–राष्ट्रघातिचाण्डालाऽऽजीवम् 'राष्ट्रम् व्याख्यातलक्षणम् । 'ध्रुवम्'–निश्चयेन 'अराष्ट्रिय

कारिका–11

यहां अधमवीर्य से उत्तम क्षेत्र में उत्पन्न अनार्यों को राष्ट्रघाती विशेषण से अलंकृत किया गया है । वह राष्ट्र राष्ट्रविरुद्ध कार्य करने वाले लोगों के हाथों आक्रान्त हो जाता है, जिस राष्ट्र में ऐसे राष्ट्रघाती निवास करते हैं ।

पहले तो राष्ट्र-हितदृष्टिहीन मानवों को अधम बताया गया है । ऐसे अधम मानव जिस राष्ट्र में निवास करते हैं, उस राष्ट्र की क्या गति होगी-इस विषय-वस्तु का यहां निरूपण किया जा रहा है । स्वतन्त्रभाव सबको प्रकृत्या प्रिय है ।

कराक्रान्तम्'–'अराष्ट्रियाणां–राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धिनां राष्ट्रिय-विरुद्धानां च 'कराः'-हस्ताः शासकादेयद्रव्याणि च तैः 'आक्रान्तम्'—परितः क्रान्तिमापादितं, आवेष्टितं, परतन्त्रीकृतमिति भावः 'जायते'-सम्पद्यते । अत्रेदं समाकलनीयम्—प्रथमं हि राष्ट्रहितदृष्टिहीना मानवाऽधमत्वं प्रतिपादितम् । त एव मानवाऽधमा यत्र राष्ट्रे सन्ति तस्य का गतिर्भवतीति निरूपणीयं साम्प्रतम् । अथ च स्वतन्त्रभावो हि नाम सर्वस्याऽपि स्वभावदयित न इति तस्यैव योगक्षेमविषयमवलम्ब्य सर्वमपि कार्यजातं सर्वदा सर्वैरपि चिन्तनीयमिति सर्वथा समौचितीं भजते । तत्र यत् पूर्वमुन्नतं तदेव कालान्तरे पिपतिषति पतति चेति सर्वस्याप्युन्नतिमापादितस्य नैसर्गिको निपातः उन्नतिक्षणमारभ्यैव पतनभीति-शङ्का-समारम्भोऽपि प्रतिस्पर्धामवलम्बत एवेत्यपि विधिनिसर्ग एव । विजयश्च ननु पुनः श्रीशक्तिकृपाकटाक्षानुगृहीतस्यैव हस्तमवलम्बत इत्यपि चतुरस्रमेव । अथ केन हेतुना पतनं च भवतीति राष्ट्रस्य पतनकारणानि पूर्वं विज्ञेयानि भवन्ति । तदायत्तत्वादुन्नतेः स्वातन्त्र्यप्राप्तिरुन्नतिः पारतन्त्र्य-प्राप्तिश्च पतनमिति तु विश्वाऽवदातविदितं वृत्तम् ।

अतः पतनकारणान्येव प्रथमं निरूपणीयानीत्ययमारम्भः । नैकेष्वपि पतनकारणेष्वन्यतमं मौलिमण्डनायमानं पुनरेतत् यत्–यत्र राष्ट्रे आंशिकोन्नतिमतिपूर्णोन्नतिमति वा राष्ट्रघातिनः–राष्ट्रघातकाः वर्त-

---

अपने योगक्षेम के लिये मानवमात्र को प्रयत्नशील रहना चाहिये जिस वस्तु की उन्नति हो चुकी है, कालान्तर में उसका पतन होना चाहता है और पतन हो जाता है ।

अथवा उस सम्प्राप्त उन्नति का स्वाभाविक पतन हो जायेगा । जहां उन्नति आरम्भ होती है, वहां पतन का आरम्भ भी होने लगता है-इसी को प्रतिस्पर्धा भी कह सकते हैं, जो नितान्त स्वाभाविक होती है । विजय तो उसी को प्राप्त होती है, जिस पर श्री-शक्ति की कृपा हो जाय ।

अतः किन कारणों से राष्ट्र का पतन होता है ? उन कारणों को पहले जान लेना चाहिये, क्योंकि उन्नति इन्हीं कारणों पर अवलम्बित है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति ही उन्नति है, परतन्त्रता-प्राप्ति पतन है । अतः पतन के कारणों का निरूपण कर लेना चाहिये । जिस पूर्ण उन्नति युक्त राष्ट्र में अथवा आंशिक उन्नति रूप राष्ट्र में राष्ट्रघातक लोग विद्यमान है, उनके कारण ही राष्ट्र परतन्त्र होता है । राष्ट्रघ्न की अपेक्षा राष्ट्रघातक का अपराध गुरुतर होता है । राष्ट्रघ्न व्यक्ति

मानाः। अत्र राष्ट्रघ्ना इत्यनुक्त्वा "राष्ट्रघातिनः" इति यदुक्तं तदिदं तात्पर्यमनुग्राहयति यत्—राष्ट्रघ्नाऽपेक्षया राष्ट्रघातकस्य गुरुतरोऽपराधो भवतीति। राष्ट्रघ्नाः किल राष्ट्रघातकप्रेरिता राष्ट्रहननमाचरन्ति। ततस्तज्जन्यपापफलस्य भोक्तारो मुख्या राष्ट्रघातका एव। एते किल राष्ट्रदृष्ट्या हीना अपि क्वचिद्भवन्ति। परन्तु नैसर्गिक्या जीवलोकस्य भोगबुभुक्षया राष्ट्रं घातयन्ति। एवमेव राष्ट्रघ्ना अपि भोगबुभुक्षयैव राष्ट्रं निघ्नन्ति। एते पुना राष्ट्रघ्नाः प्रायेण राष्ट्रदृष्टिविहीना भवन्ति। आभ्यां द्वाभ्यामप्यधिकगुरुपापा अप्यनेनैव पदेन बोधिताः यथाहि–'राष्ट्रघातिनः'–राष्ट्रं घातयितुं शीलं येषाम्। ताच्छील्ये णिनिः इत्येवं व्याख्याय। एतेषां खलु शीलमेवैतद्यद्राष्ट्रघातनं नाम। एते चाऽत्यधमाः पुरुषाः। एतेऽपि द्विविधाः–परराष्ट्रघातकाः स्वराष्ट्रघातकाश्चेति। एवं चैते राष्ट्रहन्तारो भवन्ति। तथाहि–1 स्वराष्ट्रघ्नाः 2 परराष्ट्रघ्नाः। एतेऽपि प्रत्येकं द्विविधाः—केचिद्राष्ट्रदृष्टिहीना केचिच्च राष्ट्रदृष्टियुक्ताः। ते च सर्वे यथा–1 अज्ञानिस्वराष्ट्रघ्नाः 2 ज्ञानिस्वस्वराष्ट्रघ्नाः 3 अज्ञानिपरराष्ट्रघ्नाः 4 ज्ञानिपरराष्ट्रघ्नाः 5 अज्ञानिस्वराष्ट्रघातका 6 ज्ञानिस्वराष्ट्रघातकाः 7 अज्ञानिपरराष्ट्रघातकाः 8 ज्ञानिपरराष्ट्रघातकाः। 9 अज्ञानिस्वराष्ट्रघातनशीलाः 10 ज्ञानिस्वराष्ट्रघातनशीलाः

राष्ट्रघातकों से प्रेरित होकर ही राष्ट्रहनन करते हैं। उस पाप के भोक्ता भी वे ही होते हैं, जो मुख्य रूप से राष्ट्र के पतन कराने वाले हैं।

राष्ट्रघ्न की अपेक्षा राष्ट्रघातक का अपराध बड़ा होता है। अतः राष्ट्रघ्न राष्ट्रघातक से प्रेरित होकर राष्ट्रघात करने लगते हैं। अतः तज्जन्य पापफल के भोक्ता मुख्य राष्ट्रघातक ही राष्ट्रदृष्टिहीन होते हैं। तरन्तु राष्ट्र के सुखोपभोगों-की स्वाभाविक इच्छा से राष्ट्र का विघात करते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रघ्न भी सुखोपभोगों को इच्छा से राष्ट्र का विघात करते है। राष्ट्रघातियों का स्वभाव ही राष्ट्र का विघात करने का होता है। ये राष्ट्रघाती अधम पुरुष दो प्रकार के हैं–स्वराष्ट्रघाती और परराष्ट्रघाती। ये भी दो प्रकार के हैं–1–राष्ट्रदृष्टिहीन 2–राष्ट्रदृष्टियुक्त। इस प्रकार ये राष्ट्रघातक 12 प्रकार के हैं :—

1. अज्ञानी स्वराष्ट्रघ्न,	2. ज्ञानी स्वराष्ट्रघ्न,
3. अज्ञानी परराष्ट्रघ्न	4. ज्ञानी परराष्ट्रघ्न
5. अज्ञानी स्वराष्ट्रघातक	6. ज्ञानी स्वराष्ट्रघातक
7. अज्ञानी परराष्ट्रघातक	8. ज्ञानी परराष्ट्रघातक

11 अज्ञानिपरराष्ट्रघातनशीलाः 12 ज्ञानिपरराष्ट्रघातनशीलाः । इत्येवं द्वादश विधा अपि राष्ट्रघातिन इति सङ्गृहीता भवन्ति । तत्र प्रथम-चतुष्टयाद् द्वितीयं ततश्च तृतीयं गुरुपापि । अयमभिप्रायः–प्रथमं चतुष्टयं पापम्, द्वितीयं पापतरम्, तृतीयं च पापतममिति । एतेष्वपि च परघातिभ्यः स्वघातिनोऽतिपापा इत्यपि बोध्यम् । अज्ञानिकृतात् पापात् ज्ञानिकृतं पापं द्विगुणं भवति । तदभ्यासिनां तु किमु वक्तव्यम् । त एते सर्वेऽपि पापकर्माणश्चाण्डालसलक्षणा इति 'चाण्डाला' । चाण्डालः किल जात्या स उक्तो यः –

चाण्डालः स्यात्तु जनितो ब्राह्मण्यां वृषलेन यः । (अम. 2.10.4)

इत्येवंलक्षणो भवेत् । अयमभिप्रायः —ब्राह्मणी किलार्या सर्वसमुन्नतिकारिणी भद्रनीतिप्रधाना आर्योत्पादिनी च भूः, वृषलश्चाऽनार्यः सर्वसमुन्नतिविरोधि अभद्रनीतिप्रधानमनार्योत्पादनं बीजं तेन जनितश्चाण्डालो भवति । वृषलशब्दव्युत्पत्तिश्चैवं भगवता मनुनोपदिष्टा—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ।। (मनु. 8.16) इति

---

9. अज्ञानी स्वराष्ट्रघातनशील 10. ज्ञानी स्वराष्ट्रघातनशील
11. अज्ञानी परराष्ट्रघातनशील 12. ज्ञानी परराष्ट्रघातनशील

इन 12 राष्ट्रघातकों में प्रथम 4 पापी हैं, द्वितीय 4 कुछ अधिक पापी हैं और अन्तिम 4 सबसे अधिक पापी हैं । इनमें भी परघातियों को अपेक्षा स्वघाती अधिक पापी होते हैं ।

अज्ञानी के द्वारा किये गये पाप से ज्ञानी के द्वारा किया गया पाप दुगुना होता है । जिनको पाप करने का अभ्यास ही हो गया हो, उनका तो कहना ही क्या है । अतः ये सभी पापी चाण्डालों के समान कर्म करने से चाण्डाल ही कहलाते हैं । अमरकोषकार ने कहा है कि–ब्राह्मणी में किसी वृषल के ससंर्ग से उत्पन्न व्यक्ति चाण्डाल है । इस कथन का अभिप्राय है, ब्राह्मणी आर्या है, उन्नतिकारिणी है, भद्रनीतिप्रधान आर्यों को उत्पन्न करने वाली भूमि है । वृषल अनार्य हैं, सब प्रकार की उन्नति का विरोधी है, अभद्रनीतिप्रधान है, अनार्यों को उत्पन्न करने वालों का मूल कारण है । उन दोनों के संसर्ग से उत्पन्न व्यक्ति अनार्य, राष्ट्रघाती चाण्डाल है । वृषल शब्द का निर्वचन मनु ने इस प्रकार किया है कि वृष का तात्पर्य धर्म है । इसकी जो समाप्ति कर देता है, उसे वृषल कहते हैं । अतः धर्म का लोप नहीं करना चाहिए ।

धर्मविमुखं वृषलं प्राहुर्देवाः । दैवींसम्पदमभिजातानामार्याणां स्वभावो ह्येवाऽयं यत् धर्माऽनुशासनाऽनुवर्तनं नाम । आसुरीं सम्पदमभिजाता अनार्याः पुन स्वभावेनैव धर्माऽनुशासनविरोधिन इति वृषला इति ।

राष्ट्राऽज्ञानमनार्यं बीजं वृषलः तेन राष्ट्रभूम्यामार्यायां ब्राह्मण्यां तद्घातकाश्चण्डाला जनितास्ते राष्ट्रघ्नाः स्वतोऽपि चण्डालतरांश्चण्डालतमांश्च तारतम्येन जनयन्तीति सर्वेऽपि कर्मणाऽनेन हीमे अनार्या चण्डाला इति निरूपिताः । एते यत्र राष्ट्रे 'वर्तमानाः'—वर्तन्ते—जीवन्ति जीविष्यन्ति च 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा.सू.3.3.131) इति लट् । अयं भावः—एते अनार्या यत्र न दण्ड्यन्ते तद् राष्ट्रं राष्ट्रघातिचाण्डालाऽऽजीवभूतं भवेत् । यत्र च पुना राष्ट्रे एते किल स्वव्यापारान् राष्ट्रघातनप्रकारकान् निर्विघ्नं समाचरन्ति, राष्ट्रं चोपेक्षते ते चाऽन्नपानवस्त्रेन्धनादि प्राप्नुवन्ति न शिरश्छेदादिना कारावासादिना वा दण्ड्यन्ते तद्राष्ट्रं ध्रुवम्–निश्चयेन । त्रिकालाऽबाधितोऽयं सिद्धान्त इति बोध्यते ध्रुवपदेन । 'अराष्ट्रियकराक्रान्तम्—यत्र राष्ट्रे पूर्वोक्ता जीवन्ति तद्विरुद्धानि यानि राष्ट्राणि भवन्ति तान्यराष्ट्राणि तेषां चतुर्विधसम्बन्धिनः तद्राष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धिविरोधिनश्च ये ते अराष्ट्रियास्तेषां करैः—हस्तैः 'आक्रान्तम्'—आसमन्तात् क्रान्तं–क्रान्तिमापादितम् । क्रान्तिः साङ्गोपाङ्गा विवेचिता श्रीक्रान्तिकौमुद्यामेव प्रस्तुतभाष्यकृतेति सैवाऽध्येतव्या क्रान्तिविषये सुधीवरैः । अपि च 'करैः'-शासकाऽऽदेयनानाविधैर्द्रव्यैः ।

देवताओं ने वृषल को धर्मविहीन कहा है । दैवी सम्पत्ति से उत्पन्न आर्यों का यह स्वभाव ही है कि वे धर्मरूप अनुशासन का पालन करते हैं । आसुरी सम्पत्ति से उत्पन्न अनार्य धर्मानुशासन विरोधी होते हैं–इन्हीं को वृषल कहा गया है ।

ये अनार्य राष्ट्रघ्न हैं, शनैः शनैः ये अधिकतर और अधिकतम होते जाते हैं अर्थात् और अधिक भयंकर रूप धारण कर लेते हैं । ऐसे लोग जिस राष्ट्र में विद्यमान हैं या विद्यमान रहेंगे, उस राष्ट्र का कभी कल्याण नहीं हो सकता है । इन्हें जिस राष्ट्र में दण्ड नहीं दिया जाता, वह राष्ट्र राष्ट्रघातियों का निवासस्थान बन जाता है और ये उस राष्ट्र में अपने राष्ट्रघाती व्यापारों को निर्विघ्न सम्पादित करते रहते हैं तथा राष्ट्र की उपेक्षा करते हैं, उन्हें अन्न, पान, वस्त्र मिलते रहते हैं, उन्हें शूली कारावासादि किसी प्रकार का दण्ड नहीं मिलता, तो उस राष्ट्र का विनाश निश्चित समझो ।

'आक्रान्तम्'–आक्लान्तम् । रलयोरैक्यात् । सर्वतः पीडितं 'जायते'–भवति भविष्यति च । अयमभिप्रायः–येषु राष्ट्रेषु राष्ट्रघातिनो जीवन्ति तच्चेत् स्वतन्त्रं सत् तानुपेक्षते तद्राष्ट्रं ध्रुवमेव राष्ट्रान्तरजैस्तद्राष्ट्रियविरुद्धैर्वाऽऽक्रम्य भृत्यीक्रियते, तदसम्भवे तदानीं करदं त्ववश्यमेव क्रियते तदानीमसम्भवेऽचिरेणैव भविष्यति क्रियते । यत् पुनः प्रथममेव परतन्त्रं राष्ट्रं तच्चाऽशक्तमित्येव राष्ट्रघातिनो न दण्डयितुमुत्सहते शान्ति-भङ्ग-भिया चोपक्षते तत् खलु सत्वरमेव सुदृढं भृत्यभावमापाद्य निर्मर्यादमुपभुज्यते, उत्पीड्यते नानाविधकष्टदानपुरःसरमराष्ट्रियैर्द्विविधैरपीति । एतच्च राष्ट्रपतने प्रथमं कारणं यत् राष्ट्रघातिनो राष्ट्रे जीवन्तीति नाम । अतः सर्वादौ राष्ट्रघातिनो दण्डनीयाः सर्वविधा अपि सर्वथा राष्ट्रस्वातन्त्र्ययोगक्षेमकामनावद्भिरिति बोध्यते । राष्ट्रघात्युत्पत्तौ कारणं तु परं राष्ट्रदृष्ट्यभाव एवेति निरूपितचरमेव । ननु राष्ट्रान्तरजा ये राष्ट्रघातिनस्तेषामुत्पत्तौ कथमेतद्राष्ट्रं कारणं भवेदित्यत्रोच्यते—अङ्ग ! राष्ट्रान्तरजा अनार्यतया स्वराष्ट्राऽभिवृद्धये लोलुभा इति राष्ट्रान्तराणि भृत्यीकर्तुं तेषु तेषु राष्ट्रेषु नानावेषाऽवलम्बिनो भूत्वा राष्ट्रियव्याजमुपाश्रित्य जीवन्ति तदेतदनार्यस्वभावसहजमेव कर्म । अथ यदि तद्राष्ट्रजा राष्ट्रदृष्टिसम्पन्नास्ततोऽविलम्बेन स्वराष्ट्राद्बहिर्निष्कासयन्ति तान् नानाविधैरुपायैः। यदि च ते परतन्त्रा अथाऽपि राष्ट्रदृष्टिसम्पन्नास्ततो येन केनाऽपि प्रकारेण तान्नाशयितुं प्रयतन्ते इति समुचितमेव । परं दैवदुर्विदग्धतया जातु राष्ट्रं मूढनेतृणामधिकारगतं सत् तान् प्रच्छन्नराष्ट्रघातिभावान् अपरिचितवस्तुस्थितीन् राष्ट्रहितैषिणः सन्त एते इति मत्वा पालयेत वोपेक्षेत वा ततः किमन्यत्कारणं भवेद्राष्ट्रान्तरजराष्ट्रघातिनामुत्पत्तावित्यलम् । अधिकमग्रे ॥11॥

इस सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय है कि जिन राष्ट्रों में राष्ट्रघाती जीवन-यापन करते हैं, वे स्वतन्त्र राष्ट्र यदि उन की उपेक्षा करते हैं, तो उस राष्ट्र को अराष्ट्रीय लोगों द्वारा पराधीन बना दिया जाता है । यदि वह राष्ट्र परतन्त्र न हुआ, तो कर प्रदान करने वाला तो अवश्य हो जायेगा ।

जो राष्ट्र पहले से हो परतन्त्र हो, उसमें राष्ट्रघातियों को दण्ड देने की शक्ति नहीं होती । शान्तिभंग के भय से शासक उन राष्ट्रघातियों की उपेक्षा कर बैठते हैं । अतः वे उस राष्ट्र का निर्भय होकर उपभोग करते हैं और कष्ट देते हुए उसे उत्पीड़ित करते हैं ।

राष्ट्रपतनकारणेषु राष्ट्रघातिनामुपेक्षणं प्रधानं कारणमिति तन्निरूपितं प्रथमम् । राष्ट्रघातिनामुत्पत्तौ च राष्ट्रदृष्टिहीनतैव मूलमित्यपि पूर्वमेव निरूपितम् । अथेदमाशङ्क्यते— दुर्बलं हि राष्ट्रं प्रबलपरराष्ट्रोद्भवराष्ट्रघातिनः कथं नाशयेद्दण्डयेद्वा ? तेषां नाशने दण्डनेऽपि वा स्वनाशोभवेत्, एवं यद्राष्ट्रं परतन्त्रं येषां च तन्त्र त एव राष्ट्रघातकाः प्रबलाश्च ते न शक्यन्ते दण्डयितुमिति ते कथं दण्डनीयाः । अथ तथाऽपि दण्डनाय प्रयत्येत च परतन्त्रराष्ट्रजैस्ततस्तेषां मृत्युरेवाश्रयो भवेद्दुर्बलतया ततः किं नु खलु विधेयं परतन्त्रैः? परतन्त्रं तु प्रथममेवाऽऽस्ते । तत्र परान् दण्डयितुं प्रवृत्तौ स्वातन्त्र्यलाभः सम्भाव्यते आहोस्वित् राष्ट्रदौर्बल्यमालोच्य पतनस्योपेक्षायां लाभः सम्भवेत्? दण्डनं त्वशक्ततयाशक्यं कर्तुं पराणाम् । पतनोपेक्षायामपि कष्टात् कष्टतराणां दशानाँ प्राप्तिरन्ते च पुनरपि मृत्युरेव परतन्त्रेण राष्ट्रेण राष्ट्रियैश्च प्राप्य इति किं विधेयमत्रेत्याह—

पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढ़ीकुर्वन्ति ते नराः ।।
ये राष्ट्रार्थं न जानन्ति मर्त्तुमात्मविरोधिनः ।।12।।

जो लोग राष्ट्र के लिए मरना नहीं जानते, वे परतन्त्रता की बेड़ी को और दृढ़ या मजबूत करते हैं तथा वे अपने ही शत्रु हैं ।

कारिका–12

राष्ट्र के पतन का प्रमुख कारण है कि राष्ट्रघाती लोग राष्ट्र में जीवित हैं । अतः सर्वप्रथम राष्ट्र—स्वातन्त्र्य और उसके योग—क्षेम की कामना करने वाले के द्वारा राष्ट्रघातियों को दण्डित किया जाना चाहिए । राष्ट्रघातियों की उत्पत्ति का कारण राष्ट्र-दृष्टि का अभाव ही है । दूसरे राष्ट्रों में जो राष्ट्रघाती हैं, उनकी उत्पत्ति में यह राष्ट्र कैसे कारण होता है ? अन्य राष्ट्रों में उत्पन्न राष्ट्रघाती लोग अपने राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए दूसरे राष्ट्रों को दास बनाने के लिए अनेक प्रकार के वेष धारण कर, छल कपट करके, राष्ट्रीय होने का बहाना करके जीवन व्यतीत करते हैं—क्योंकि अनार्यों का यह स्वाभाविक कर्म है । अतः राष्ट्रदृष्टि पुरुष ऐसे राष्ट्रघातियों की अनेक प्रकार के उपायों से राष्ट्र से बाहर निकाल देते हैं । यदि वे परतन्त्र है और उनमें राष्ट्र-दृष्टि है, तो भी वे येन केन प्रकारेण उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करते है । दुर्भाग्यवश कदाचित् राष्ट्र मूढ नेताओं के कारण उन प्रच्छन्न राष्ट्रघातियों के भावों की ओर अपरिचित वस्तु-स्थितियों की पालना या उपेक्षा उन्हें राष्ट्रहितैषी मानकर करें, तो दूसरे राष्ट्रों में राष्ट्रघातियों की उत्पत्ति का और क्या कारण हो सकता है ?

[ये-आत्मविरोधिनः-राष्ट्रार्थम्-मतु म्-न-जानन्ति-ते-नराः-- पारतन्त्र्यस्य- निगडम्—दृढीकुर्वन्ति । इति पदयोजना ।

पारतन्त्र्यस्येति । 'ये'-वर्ण्यमाना नराः "आत्मविरोधिनः'- 'आत्मनः'-स्वस्य स्वकीयस्य च 'विरोधः'-विद्वेषः अस्ति येषां ते । मत्वर्थे 'अत इनिठनौ' (पा.सू. 5.2.115) इतीनिः, निन्दा चाऽत्र मतुबर्थः। 'राष्ट्रार्थम्'-राष्ट्राय इति राष्ट्रार्थम्। अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' इति समासः। राष्ट्रनिमित्तं राष्ट्रस्य हितायेति भावः। 'मतु म्'-प्राणत्यागमाचरितुम्। 'न जानन्ति' न विदन्ति 'ते'-राष्ट्रहितं कतु प्राणत्यागमजानानाः 'नराः'-ज्ञानप्रधानमनुष्ययोनावुत्पन्नाः 'पारतन्त्र्यस्य'- परं-अन्यत् अन्यदीयमिति भावः 'तन्त्रं-सिद्धान्तः तस्यभावः धर्मः तस्य 'निगडम्'-अपराधिनो निबध्यन्तो येन लौहादिनिर्मितेन शृङ्खलादिपदार्थेन तन्निगडपदवाच्यम्। बन्धनमिति भावः। पारतन्त्र्यस्य निगडस्य चाऽभेदसम्बन्धः। षष्ठी चेयमभेदसम्बन्धेऽत्र 'सुवर्णस्य कुण्डलम्' इतिवत् 'दृढीकुर्वन्ति'-द्रढयन्ति । अत्रेदं बोध्यम्—

राष्ट्रघातिनश्चाण्डालाः किल राष्ट्रकल्याणाय मतु न जानन्ति कुत एतदेवम्? उच्यते-आत्मविरोधित्वात्तेषामिति। ते नन्वात्मानमेव विरुन्धन्ति। अतो मतु जानन्त्येव न ते। एवं तु सर्वोऽपि जन्मवान् म्रियत एव। को नाम जन्तुर्न मृतिमुपलब्धवान्। श्रीमत्सु भगवद्गीतासु यथोक्तम्—

कारिका—12

दुर्बल राष्ट्र प्रबल परराष्ट्र में उत्पन्न राष्ट्रघातियों को कैसे नष्ट करे या दण्ड दें, इससे तो स्वनाश भी सम्भव है, तो इस विषय में क्या किया जाय? इस पर कहते हैं—

राष्ट्रघाती चाण्डाल, राष्ट्रकल्याण के लिए मरना नहीं जानते, क्योंकि वे आत्मविरोधी होते हैं और वे स्वयं का ही विरोध करते हैं। अतः वे मरना नहीं जानते। वैसे तो जो जन्म लेता है, वह मरता ही है। ऐसा कौन जन्तु है, जो जन्म लेकर मरा न हो। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु और जो मृत है, उसका जन्म निश्चित है।

यह सम्पूर्ण लोकव्यवहार पूर्णरूप से मरणशील है। उत्पन्न हुआ कौन प्राणी नहीं मरता? परन्तु वे अत्यन्त मूढ़ होने के कारण मरना नहीं जानते। आत्म विरोधी ही मूढातिमूढ कहलाते हैं। उपनिषद में कहा गया है कि असुरों

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । (श्रीभगी.2.27) इति सर्वदा जन्ममरणशील एवाऽयं सर्वोऽपि चराऽचरलोकव्यवहारस्ततः के न नाम म्रियन्ते जाताः ? परं ते न मर्तुं जानन्ति अतिमूढत्वात्तेषाम् । आत्म-विरोधिनश्चाऽतिमूढा एवेत्याबालविद्वदङ्गनागोपालं सुप्रसिद्धम् । अत एवोपनिषत्स्वपि निरूपितमेवमुपलभ्यते—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।।

तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः (ईशा.उ. 3) इति । न खल्वेवं शङ्कनीयमत्र यत् राष्ट्रघातिनः कथमात्मविरोधिनो भवन्तीति । राष्ट्रियाणामात्मभूतं किल वस्तु राष्ट्रमेव तन्मूलत्वाद्राष्ट्रियाणामिति निरूपितं पूर्वं निरूपयिष्यते चाऽग्रेऽपि । आत्मनैव विरोधमाचरन्तो हीमेऽत्यन्तं मूढाः कथमिव न शक्यन्ते राष्ट्रघातिनो वक्तुम् । मन्यन्ते च पुनस्ते वयमात्मकल्याणाय प्रयतामहे इति । एवं मन्यमाना हीमे व्यष्टिशरीर-मात्मतया मन्यन्ते न समष्टिशरीरम् । कुतः पुनस्तदनुस्यूतां समस्तकल्याण-कारिणीं स्वातन्त्र्यफलामात्मतया जानीयुः? यथा चेदं तथाऽग्रे चर्चयि-ष्यते । एवं च ते मरणचातुर्यं न जानन्ति । यदेव चातुर्येण क्रियते विधि-ना विधीयते तदेवाऽनुकूलं फलमुत्पादयितुं प्रभवति । यत्पुनरविधिना विधीयते तद्विरुद्धं फलं दुःखरूपमुत्पादयति । अतएवोक्तं यदात्मविरोधिनः किलाऽतिमूढतया मर्तुं न जानन्ति । अत एव च ते मरणाद्बिभ्यत स्तन्निवारणाय राष्ट्रघातिनो भवन्तीत्यहो पतनकारणपरम्परा । तथा-दशैषामेषा मतिमूढानां किल यथाऽङ्गुलिसंरक्षणाय शिरसश्छेदनमाचरतां

के नरक रूप लोक अज्ञानदुःखमय अन्धकार से आच्छादित है । आत्महत्या करने वाले मनुष्य मरकर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं :—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। ईशा. 3

राष्ट्रघातियों को आत्मविरोधी क्यों कहा गया है—इसमें शंका नहीं करनी चाहिए । राष्ट्रीय लोगों को आत्मवत् प्रिय वस्तु राष्ट्र ही है । जब ये राष्ट्र-घाती अपने इस आत्मा के ही (राष्ट्र के ही) विरोधी होते हैं, तो उनसे अधिक मूढ़ कौन होगा ? ये आत्मघाती मूढ—हम अपना कल्याण करने का प्रयत्न करते हैं—ऐसा मानते हुए केवल व्यष्टि शरीर के उपासक होते हैं, न कि समष्टि-शरीर के । वे उसमें अनुस्यूत समस्त कल्याण करने वाली उस स्वतन्त्रता के लाभों को क्या जाने ? इस प्रकार वे मरण के चातुर्य को नहीं जानते हैं ।

सम्पद्यते । भवतु । इदं चाऽवगमनीयम्–ये किल राष्ट्रकल्याणाय मर्तुं न जानन्ति किमिति ? 'आत्मविरोधिनः'- आत्मविरोधित्वं वीक्ष्य । ल्यब्लोपे पञ्चमीमाश्रित्यैवं शक्यते व्याख्यातुम् । अयं भावः–परतन्त्रभाव एव हि सर्वविधपापनिदानमिति परतन्त्रे राष्ट्रे सर्वत उत्पन्न आत्मविरोधे सर्वत आत्मनो राष्ट्रस्य विरोधिगणं वीक्ष्य ये राष्ट्रार्थं–राष्ट्रकल्याणाय राष्ट्रकल्याणनिराशया व्यष्टिगतं दौर्बल्यमाकलय्य ये राष्ट्रिया मर्तुं न जानन्ति मरणकौशलं न जानन्ति । मरणकौशलं पुनः समयमनुरुद्ध्य नानाविधमेव भवति । तदप्यजानानाः राष्ट्रियाश्चाऽकाममपि राष्ट्रघातिपदवीमारुढा एव भवन्तीति वाच्या एव ते । तत्कारणं 'पारतन्त्र्यस्य'–परतन्त्रभावस्य निगडं बन्धनम् । पारतन्त्र्यरूपं निगडमिति यावत् । 'दृढीकुर्वन्ति'– द्रढयन्ति । बलवत्कुर्वन्तीति यावत् । 'दृढः स्थूलबलयोः' (पा.सू. 7.2.20) इति बलवति 'दृढ' इति निपातः । न दृढमदृढम् । अदृढं दृढं कुर्वन्ति 'दृढीकुर्वन्ति' 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (पा सू. 5.4.50) इत्यनेन च्विः । च्व्यन्तप्रयोगश्च 'यत्र पारतन्त्र्यबन्धन शिथिलमास्ते तादृश्यपि राष्ट्रे एवं लक्षणाः पुरुषा मूढा इति तत्पारतन्त्र्यरूपं निगडं बलवत्कुर्वन्ति इति बोधनाय समुपात्तः । अविज्ञाय हि मरणकौशलं राष्ट्रियास्ते नराः । राष्ट्रस्य परतन्त्रतारूपिणीः शृङ्खलाः शिथिला अपि दार्ढ्यमापादयन्ति । फलं च कटुतमं तस्य नानारोगशोकनिधनोत्पादनक्षमरसभरितं निखिलमपि राष्ट्रमवश्यं भुङ्क्ते चेति कृधातोः परस्मैपदेन व्यज्यते । एवं चैतेऽपि

जो कार्य चतुराई से किया जाता है, विधिपूर्वक किया जाता है, वही कार्य अनुकूल फल को उत्पन्न कर सकता है । जो कार्य बिना विधि के किया जाता है, वह दुःख रूप विरुद्ध फल को उत्पन्न करता है । इसीलिए कहा था कि आत्मविरोधी अत्यन्त मूढ होने से मरना भी नहीं जानते हैं । वे इसीलिए मरने से डरते हुए उस मृत्यु का निवारण करने के लिए ही तो राष्ट्रघाती बनते हैं । इस पतन के कारणों की परम्परा पर आश्चर्य होता है । इन मूडों की ऐसी दशा हैं कि वे अंगुली के संरक्षण के लिए शिरच्छेद करवा लेते हैं ।

परतन्त्रता ही सब प्रकार के पापों का मूल कारण है । अतः परतन्त्र राष्ट्र में आत्मविरोध उत्पन्न होता है । राष्ट्र के विरोधियों को देखकर दुर्बलता के कारण व्यक्तिगत निराशा से मरना नहीं जानते, वे ही तो राष्ट्रघाती-पदवी को प्राप्त करते हैं ।

जिस राष्ट्र में परतन्त्रता का बन्धन शिथिल भी है-ऐसे राष्ट्र में भी, इस प्रकार

राष्ट्रघातिनो यत्र राष्ट्रे जीवन्ति तदपि राष्ट्रं पतत्येवेति बोध्यमेव । एवं च राष्ट्रकल्याणाय मरणज्ञानकौशलमप्यावश्यकमिति बोध्यते । एतत्कौशलज्ञानं च नाऽतिदुष्करमिति 'नराः' इति पदेन बोध्यते । इदं च बोध्यमत्र–'ये'–केचित् पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति ज्ञानेन चाऽज्ञानेन वा ते 'अनराः'–अमनुष्याः कथनीयाः । तत्राऽपि ज्ञात्वैवं कुर्वन्ति चेत्ते पुनरनार्या राक्षसा इति, अविज्ञाय च कुर्वाणा एवमज्ञानशरणास्ते तु पशव इति विवेकः । 'एङः. पदान्तादति' (पा.सू. 6.1.109) इति पूर्वरूपमाश्रित्य शक्यत एवं व्याख्यातुम् । यतश्चैते खलु राष्ट्रकल्याणाय मर्तुं न जानन्ति, किन्तु सर्वतोभद्रनीतिप्रधानानामार्याणां विरोधित्वादनार्यत्वाद्व्यक्तिविशेषहितार्थं मर्तुं जानन्ति, कुत एतदुच्यते–आत्मविरोधिनः–वैरिणः । पारस्परिकं भेदभावमवलम्ब्य विरोधकारिण एते । अतस्ते 'अनराः' इति युक्तमेव । एवमपि व्याख्येयम्–ये राष्ट्रार्थं तु न जानन्ति मर्तुं किन्तु 'आत्म विरोधिनः'–आत्मनः स्वस्य स्वकीयस्य वा विरोधिनं वीक्ष्य मर्तुं जानन्ति तेऽपि 'अनराः' पशव एव । यतः पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति ते । एवं वा व्याख्येयम्–ये स्वस्य स्वकीयस्य वा विरोधिनं परराष्ट्रोद्भवं वैरिणं वीक्ष्य राष्ट्रकल्याणाय मरणकौशलं न जानन्ति तेऽपि पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति । अतस्तेऽनराः–अज्ञानिनः पशव एव । एवम-

---

के मूढ पुरुष पराधीनता रूपी बन्धन को मजबूत ही करते हैं । मरणकौशल न जानने के कारण वे राष्ट्रीय पुरुष राष्ट्र की परतन्त्रता रूपी शृंखला को, शिथिल होते हुए भी और मजबूत बना देते हैं । इस परतन्त्रता का फल कटु, नाना रोग, शोक, मृत्यु, उत्पत्तिमय आनन्द से युक्त होता है । सम्पूर्ण राष्ट्र इस परतन्त्रता के फल का अवश्य भोग करता है । अतः ये राष्ट्रघाती जिस राष्ट्र में रहते हैं, उस राष्ट्र का पतन अवश्य होता है । अतः राष्ट्रकल्याण के लिए मरणज्ञान का कौशल होना भी आवश्यक है । इस कौशल को जानना अधिक कठिन नहीं है । यह "नर" पद से ज्ञात होता है । जो ज्ञान या अज्ञान से परतन्त्रता के बन्धन को दृढ करते हैं वे "अनर" अर्थात् अमनुष्य है । यदि वे जानकर भी ऐसा करते हैं, तो अनार्य हैं, राक्षस हैं । बिना जाने ऐसा करने वाले तो पशु ही हैं । ये राष्ट्रघाती राष्ट्रकल्याण के लिए तो मरना नहीं जानते, किन्तु सर्वतोभद्रनीति प्रधान आर्यों के विरोधी होने से और अनार्य होने से व्यक्तिविशेष के कल्याण के लिए तो वे मरना जानते ही है । आत्मविरोधी का तात्पर्य हैं आत्मीय जनों का विरोधी, परस्पर भेदभाव उत्पन्न कर ये विरोध करने वाले होते हैं । अतः उन्हें "अनर" ठीक ही कहा गया है । जो अपने विरोधी, पर

पीयं कारिका व्याख्येया–ये अराष्ट्राथम्–राष्ट्रान्तरार्थम् । पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति राष्ट्रान्तरं पारतन्त्र्यनिगडेन दृढं बध्नन्ति मर्तुं च न जानन्ति किन्तु मारयितुं जानन्ति ते परिणामे 'आत्मविरोधिनः'–निजवैरिसृष्टिं कुर्वन्ति, अतस्ते 'अनराः'–अनार्या राक्षसाः । एतेऽपि राष्ट्रपतनकारणं भवन्ति । अथवा ये अराष्ट्रार्थम्–विरुद्धराष्ट्रप्रयोजनं विरुद्धराष्ट्र नीतिशास्त्रं वा न जानन्ति 'आत्मविरोधिनः' स्वराष्ट्रवैरिणं वीक्ष्य, किन्तु मर्तुं–प्राणत्यागं कर्तुं जानन्ति एवमेव प्राणांस्त्यजन्तीति भावः। ते नराः पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति । एवमपि व्याख्येयम्—ये स्वराष्ट्रार्थं न पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति, यतो मर्तुं जानन्ति–मरण कौशलं जानन्ति 'आत्मविरोधिनः'—स्वराष्ट्रविरोधिनं वीक्ष्य ते नराः–ज्ञानिनः, आर्याः प्रियस्वातन्त्र्याः । अपि च राष्ट्रार्थम्–राष्ट्रस्य प्रोक्तलक्षणस्य अर्थम् वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यादिभेदभिन्नम् न जानन्ति । आत्मविरोधिनः–आत्मनः शत्रवश्च मर्तुं जानन्ति ते अनराः–पशवः पारतन्त्र्यस्य निगडं दृढीकुर्वन्ति । इति एवं नानाविधैर्व्याख्यानैः प्रसङ्गमनुसृत्य व्याख्येयेयं कारिकेति दिक् ॥12॥

एवं राष्ट्रपतनकारणेषु प्रथमकारिकया स्वातन्त्र्यवतो राष्ट्रस्य मुख्यभूतं पतनकारणं 'अराष्ट्रिय' (रा. 11) इत्यनया राष्ट्रघात्युपेक्षणरूपं निर्वर्ण्य द्वितीयया च 'पारतन्त्र्य (रा. 12) इत्यनया पतितस्याऽतिप-

---

राष्ट्र के बैरी को देखकर, राष्ट्र के कल्याण के लिए मरना नहीं जानते, वे परतन्त्रता के बन्धन को दृढ करते हैं । अतः अज्ञानी मनुष्य ही पशु कहलाते हैं ।

जो दूसरे राष्ट्र के लिए परतन्त्रता के बन्धन को दृढ करते हैं, मरना नहीं जानते, किन्तु मरवाना जानते हैं, वे अन्त में अपने विरोधियों की सृष्टि करते हैं । अतः वे "अनर" अर्थात् अनार्य राक्षस हैं । ये भी राष्ट्र के पतन के कारण होते हैं । अथवा जो आत्मविरोधी स्वराष्ट्र बैरी को देखकर विरुद्ध राष्ट्र के प्रयोजन या उसके नीतिशास्त्र को नहीं जानते, किन्तु प्राणत्याग करना जानते हैं और इस प्रकार प्राण छोड़ देते हैं, वे मनुष्य पारतन्त्र्य के बन्धन को दृढ करते हैं ।

जो स्वराष्ट्र के लिए परतन्त्रता के बन्धन को दृढ़ नहीं करते, राष्ट्र के लिए मरना जानते हैं, वे ही ज्ञानी है, स्वातन्त्र्यप्रिय आर्य हैं । जो प्रोक्तलक्षण राष्ट्र के अर्थ को नहीं जानते हैं, आत्मविरोधी हैं और मरना जानते हैं, वे अनर अर्थात् पशु पारतन्त्र्य के बन्धन को दृढ़ करते हैं ।

तने मुख्यतया स्वतन्त्रस्य पतने च प्रसङ्गेन कारणान्तरं राष्ट्रहिताय मरणाऽज्ञानरूपं प्रदर्श्य साम्प्रतं व्यष्टिकल्याणं समष्टिकल्याणमन्तरेण न शक्यते कर्तुमिति पूर्वोक्तपतनकारणज्ञानसहकारितया सदृष्टान्तं निरूपयति—

स्वमङ्गलसमाशंसी यः स्वराष्ट्रमुपेक्षते ।।
स बुभुक्षानिवृत्यर्थं विषमेवात्ति केवलम् ।।13।।

[अपना कल्याण चाहने वाला जो पुरुष अपने राष्ट्र की उपेक्षा करता हैं भूख को मिटाने के लिये निश्चय से वह विष खा रहा है ।।13।।]

[यः-स्वमङ्गलसमाशंसी-स्वराष्ट्रम्-उपेक्षते-सः-बुभुक्षानिवृत्यर्थम्-केवलम्-विषम्-एव-अत्ति । इति पदयोजना ।]

स्वमङ्गलेति । 'यः'-राष्ट्रनीतिविज्ञानाऽकुशलः 'स्वमङ्गलसमाशंसी'-स्वस्य-आत्मनः मङ्गलं-कल्याणं समाशंसते-सम्यगिच्छति असौ 'स्वराष्ट्रम्'—स्वस्य-आत्मनः राष्ट्रम्-उक्तलक्षणम् । 'उपेक्षते' उदास्ते । 'स'-तादृशः पुरुषः 'बुभुक्षानिवृत्यर्थम्'—भोक्तुमिच्छा-बुभुक्षा तस्याः निवृत्त्यर्थम्-उपशमनाय 'केवलम्'-निश्चितम् । विषम्' प्राणहारिद्रव्यम् । 'एव' अवधारणेऽव्ययमेतत् । 'अत्ति'-भक्षति । एवं ज्ञातव्यमिति शेषः । अयमभिप्रायः—परिपूर्णं परमशिवमेकं समस्तशक्तिसमरसरूपं सच्चिदा-

---

व्यष्टिकल्याण एवं समष्टिकल्याण के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता इस विषय का सदृष्टान्त निरूपण किया जा रहा है—

परिपूर्ण, परमशिवरूप, समस्तशक्तिसमरसरूप, सच्चिदानन्द, अभिनवरमणीय उस परमात्मस्वरूप को छोड़कर वही किसी अन्य द्वारा अगोचर स्वरूप रूपी भित्ति में अपने से परिपूर्ण भी अपूर्ण जैसे, अपने विलास से उल्लासित अशेष (सम्पूर्ण) भी सशेष विश्व को, निराशंसोल्लासित होते हुए भी आशंसा रहित, सदुल्लासित होते हुए भी असत, चिदुल्लासित होते हुए भी जड, आनन्दोल्लासित होते हुए भी निरानन्दरूप, 'अहं' रूपवाला होता हुआ भी 'इदं' रूपवाला मानते हुए आनन्दित होता है । आरम्भवादियों के मत में आरम्भ होता है, परिणामवादियों के मत में परिणाम को प्राप्त होता है, विवर्तवादियों के मत में विवर्त को प्राप्त होता है—ऐसे ईश्वर स्वरूप को प्राप्त कर सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है । मूर्ख लोग आकाश के अप्रत्यक्ष होने पर भी उस आकाश में मलिनता का अध्यास कर लेते हैं । पूर्णरूप से स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान् आत्मा में क्या असम्भव है ? इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का अभिमत है—

नन्दकन्दमभिनवरमणीयं विहाय तेनैवाऽन्यागोचररूपायामपि स्वरूपायां भित्तौ स्वपरिपूर्णमप्यपूर्णमिव स्वविलासोल्लासितमशेषमपि सशेषमिदं विश्वम्, निराशंसोल्लासितमपि न निराशंसम्, सदुल्लासितमप्यसत्, चिदुल्लासितमपि जडम्, आनन्दोल्लासितमप्यनानन्दम्, अहंरूपमपीद-न्तया गृह्यमाणम्, समभिनन्दति। आरम्भवादिनां मते आरभ्यते, परिणा-मवादिनां मते परिणामयते, विवर्त्तवादिनां च मते विवर्त्त न्ते। सर्वमपि समुपपद्यते तत्तादृशमवलम्ब्य। बालाःखलु अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे तलमलि-नताद्यध्यस्यन्ति परिपूर्णे स्वतन्त्रे सर्वशक्तिसमरसे ह्यात्मनि किं नाम दुर्घ-टमिति सम्भाव्येत। अत एव श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्या एतद्विषय एवमाहुः—

आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतन्त्रः
स्वातन्त्र्यनर्मरभसेन निजं स्वरूपम्॥
सञ्छाद्य यत्पुनरपि प्रथयेत पूर्णं
तच्च क्रमाऽक्रमवशादथवा त्रिभेदात्॥इति॥

प्रकृतभाष्यकारस्तु सर्वमप्येतत्स्वात्मोल्लास इत्यनुभवति। उक्तं च स्वोपज्ञे श्रीमदात्मविलास एवम्—

कल्पकः कल्पनाकल्पं स्वात्मोलासैकमात्रकम्।
सच्चिदानन्दस्वरूपं ततोऽन्यन्नास्ति किंचन। (आ. प्र. 4.22)इति

आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतन्त्रः
स्वातन्त्र्यनर्मरभसेन निजं स्वरूपम्।
सञ्छाद्य यत्पुनरपि प्रथयेत पूर्णं
तच्च क्रमाऽक्रमवशादथवा त्रिभेदात्॥

प्रकृतभाष्यकार तो इस सबको आत्मोल्लास मात्र मानता है। जैसाकि आत्मविलास [4/22] में स्पष्ट किया गया है—तत्त्व को न जानने वाले मूर्ख-लोग ही परस्पर केशाकेशि, युद्धादि तर्कों से उन वादों का हल निकालते हैं। विद्वान् नहीं, वे लोग यथार्थ आत्मदर्शी होते हैं। इसे भाष्यकार ने वहीं लिखा है।

इस सम्पूर्ण विश्व में जीवलोक का व्यवहार भी ऐसा ही होता है। यह सम्पूर्ण जीवलोक भी अपूर्ण ही है। आर्य लोग मंगल की ही आशंसा करते हैं। आर्य लोग उदासीन या शत्रु की भी अमंगल–कामना नहीं करते, जब कि अनार्य लोग करते हैं। अनार्य तो अमंगल की कामना करने वाले ही होते हैं–

बाला एव यथा खल्वारम्भादिदृष्टयः सन्तः सत्यत्वेन परिग्रहणाना मिथः केशाकेशि प्रधननिधनांस्तर्कान्, समनुमन्यन्ते तांस्तान् वादान् न खलु विद्वानप्यात्मयथार्थभावदर्शी तथेत्यपि प्रस्तुतभाष्यकार एवाह तत्रेद यथा–

आरम्भः परिणामो वा विवर्तो वा चिदात्मनि
बालान् प्रत्येव विद्वांसं प्रति सर्वं प्रकल्पितम् ।। (आ.3.1.18)

यथा चेदं तथा सर्वमपि श्रीलात्मविलासे तद्व्याख्या च सुनिरूपितार्थम् । तदीदृश्यस्मिन् विश्वस्मिन्नपि विश्वमण्डले जीवलोकव्यवहारोऽपीदृगेव । एवं च सर्वोऽपि जीवलोकोऽपूर्णत्वेन विभावित इति साऽऽशंस एव भवितुमर्हति । एतदेव 'समाशंसी' इति पदेन ध्वनितम् । सम्यक् आशंसितुं शीलमस्य सः 'आङः शसु इच्छायाम्' 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा. सू. 3.2.78) इति णिनिः । आशंसा पुनरियं मङ्गलस्यैव प्रायो भवतीति स्वभाव आर्याणाम् । नहि ते उदासीनस्य शत्रोर्वा मङ्गलं नाऽभिलष्यन्तीति दृश्यन्तो अनार्याश्च पुनर्नैवम् । ते च पुनरमङ्गलसमांशंसिनः एव भवन्तीति भ्रमवारणायैव स्वपदमुपात्तम् यत्कारणम्—स्वस्य मङ्गले समाशंसा न त्वार्यानार्यसाधारण्येन दृश्यते । आर्याः पारिणामिकं मङ्गलमवश्यं प्राप्नुवन्ति, अनार्या नेत्यन्यदेतत् । स्वमङ्गलसमाशंसा पुनः समस्तजीवलोकस्वभावसहजेति ब्रह्मणाऽप्यनुल्लङ्घनीयः सिद्धान्तः । अनार्या अपि ये स्वेतरेषाममङ्गलमाशंसमाना अवलोक्यन्ते तेऽपि नन्वितरेषाममङ्गलेन स्वं मङ्गलं भविष्यतीत्यदूरदर्शितयैव । अतएव

इस भ्रम के निवारण के लिए ही 'स्व' पद ग्रहण किया गया है । कारण यह है कि अपने मङ्गल की कामना आर्य-अनार्य में समान रूप से दिखलाई नहीं पड़ती । आर्य लोग परिणाम में अवश्य ही मंगल को प्राप्त करते हैं, अनार्य नहीं । अपने मंगल की आशंसा तो सम्पूर्ण जीवलोक का स्वभाव ही है । ब्रह्मा भी इस सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं कर सकता । अनार्य लोग जो अन्य की अमंगल-कामना करते हैं - उनका यह विचार अदूरदर्शितापूर्ण है कि इनका अमंगल करने से हमारा मंगल होगा । अतः परिणाम से अनभिज्ञ अनार्यों को परिणाम में दुःख ही प्राप्त होता है । ये अनार्य अज्ञान के कारण ही राष्ट्रघाती बनकर राष्ट्र के पतन में कारण बन जाते हैं ।

स्वराष्ट्र में अथवा परराष्ट्र में उत्पन्न व्यक्ति का मंगल, कल्याण राष्ट्रोपभोगादिरूप है । जो पुरुष राष्ट्र के कल्याण का विचार नहीं करता, वह पुरुष भूख मिटाने के लिए निश्चित ही प्राणों के वियोग के साधन विष को खाता है ।

चाऽनार्यास्ते परिणामाऽनभिज्ञा दुःखमेव भुञ्जते परिणामे । एतेऽप्यज्ञानवशा अपि राष्ट्रघातित्वमेत्य राष्ट्रपतने कारणं भवन्तीति निरूप्यतेऽत्र– 'स्वमङ्गलसमाशंसी' स्वस्य स्वकीयस्य च कल्याणाऽशंसास्वभावोऽपि 'यः–राष्ट्रनीत्यकुशलः 'स्वराष्ट्रम्' 'स्वम्' 'चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धि यत् 'राष्ट्रम्' व्याख्यातपूर्वम् । स्वतन्त्रं परतन्त्रं वेत्युभयविधमपि 'उपेक्षते'–उदास्ते मङ्गलममङ्गल वा तद्विषयकं न किंचिदपि विचारयति अपि च 'स्वस्य'–अनुग्राह्यत्वेन, अनुग्राहकत्वेन च भावितस्य ज्ञात्वा वाऽज्ञात्वा वा, स्वकीयत्वेन भावितस्येति यावत् । स्वराष्ट्रोद्भवस्य परराष्ट्रोद्भवस्य वा पुरुषस्य मङ्गलं कल्याण राष्ट्रोपभोगादिरूपम्' आशंसितु शीलमस्य राज्यनयाऽभिलाषी राज्यवाद्यपरपर्याय एकतोभद्रनीतिप्रधानः पुरुष इति यावत् । 'यः'–राजप्रधानशासनकुशलः 'स्वराष्ट्रम्'– स्वकीयं विद्यमानचतुर्विधसम्बन्धं-राष्ट्रमुपेक्षते राष्ट्रकल्याणाऽकल्याणविचारं नाऽऽचरति राजकल्याणाऽकल्याणविचारेणैव कृतार्थतां मनुते 'स.' तादृशः पुरुषो 'बुभुक्षानिवृत्त्यर्थम्'—भोजनेच्छाशान्त्यै प्राणवियोगसाधनं हालाहलादिविषमेव 'अत्ति'? भुङ्क्ते । इति 'केवलम्' निश्चितमेव तत् । अयमभिप्रायः—भोजनं नु खलु बुभुक्षाशान्त्यै क्रियते । अन्तरेण च भोजनं प्राणधारणमपि न सम्भाव्यते, अतः प्राणधारणकामो भक्तादिना नानाविधेनान्नेन सन्तर्पयत्यात्मानम् । तेन चा सा बुभुक्षा शान्ता भूत्वा तस्मै

भोजन तो भूख मिटाने के लिए किया जाता है । भोजन के बिना प्राणधारण करना सम्भव नहीं है । अतः प्राणधारण की कामना वाला व्यक्ति भात (चावल) आदि नाना प्रकार के अन्य भोजन से अपने आप को तृप्त करता है । इससे इस व्यक्ति की भूख शान्त हो जाती है और उसमें प्राणधारण की सामर्थ्य आ जाती हैं । विष तो प्राणनाशक होता है । यदि उस विष का भूख की शान्ति के लिए उपयोग किया जाय, तो वह प्राणधारणसामर्थ्य के प्रदान रूप उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकता, उलटे प्राणों को ही समूल नष्ट कर देता है ।

इसी प्रकार अपने कल्याण के लिए अपने राष्ट्र की उपेक्षा करना भी स्वयं का विनाश करना ही है । यदि विष खा लिया जाय, तो वह भूख के साथ भूखे को ही मार देगा, अतः विषभक्षण महान् अनिष्टकर है । कोई अदूरदर्शी पुरुष-पशु ही इसकी सलाह देगा । इसी प्रकार अपने कल्याण की कामना करने वाला अपने राष्ट्र की उपेक्षा करता हुआ स्वमूलरूप स्वराष्ट्र को ही नष्ट कर देता है । इससे उसका भी नाश अवश्य हो जाता है । 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' यह कहावत प्रसिद्ध है ।

पुरुषाय प्राणान् धारयितुं सामर्थ्यं प्रददाति। विषं च प्राणनाशकम्। तदेव च विषं बुभुक्षाशान्तये प्रयुक्तं प्राणधारणसामर्थ्यदानरूपमुद्देशं न पूरयितुं प्रभवति साधयत्यपितु वैपरीत्येन समूलघातं प्राणानेव नाशयतीति यथानिश्चितं तथैव स्वकल्याणाय स्वराष्ट्रोपेक्षणमपि भवति सर्वमपि स्वं नाशयतीति निश्चितमिति भावः। भुक्तं हि खलु विषं बुभुक्षया समं बुभुक्षुमेव निपातयतीति महदनिष्टकरं विषभक्षणमदूरदर्शी पुरुष-पशुरेवाऽनुमन्येत। एवमेव स्वकल्याणाशंसी स्वराष्ट्रमुपेक्षमाणः स्वमूलं स्वराष्ट्रमेव नाशयति, तेन च तस्याऽपि नाशोऽवश्यं भाव्यमिति निश्चित-मेव। 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' इत्येवं लौकिकानामाभाणकोऽप्य-त एव जरीजृम्भते। अतः स्वकल्याणाशंसुः पुरुषः प्रथमं राष्ट्रकल्याणमेव-चिन्तयेदिति बोध्यते। राज्यवादी पुरुषोऽपि ननु राष्ट्रमुपेक्षमाणो नैव राज्यं कर्तुं प्रभवति। स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलेति सप्तसु रा-ज्याङ्गेषु कस्याऽप्यङ्गस्योपेक्षणे राज्यनाशः सम्भाव्येतेति। तत्राऽपि राष्ट्रं तु राज्ञोऽपेक्षया गौणत्वेन परिगृहीतमपि भोगसामग्रीसम्पादनक्षम-तया राष्ट्रं मुख्यत्वमेवाऽवहति अमात्यादिष्वङ्गेषु। सर्वाऽधिष्ठानतया भूप्रदेशस्येति राज्यवाद्यपि नोपेक्षेत जात्वपि राष्ट्रं स्वमङ्गलसमाशंसीत्य-प्युपदिश्यते। एतेनेदमपि ध्वन्यते—यत् कस्यचिदपि व्यक्तिविशेषस्य कल्याणाऽऽशंसी राष्ट्रमुपेक्षमाणः शत्रुदृष्ट्या नावलोकयन्नपि स्वराष्ट्रम-कामोऽपि स्वराष्ट्रघातित्वमायात्येव। यथा च 'बुभुक्षानिवृत्त्यर्थम्'–प्राण-

---

अतः स्वकल्याणाशंसी पुरुष को पहले अपने राष्ट्र की आशंसा करनी चाहिये। राष्ट्रवादी पुरुष राष्ट्र की उपेक्षा करके राज्य नहीं कर सकता। स्वामी, अमात्य सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग, बल इन अंगों वाले राष्ट्र का कोई भी अंग उपेक्षित हो जाय, तो राज्यनाश की सम्भावना हो जाती है। राजा की अपेक्षा राष्ट्र गौण माना जाने पर भी भोगसामग्री के सम्पादन में समर्थ होने के कारण मुख्य है। अतः स्वमंगल की कामना करने वाले राज्यवादी पुरुष को भू प्रदेश का सर्वाधिष्ठान होने के कारण राष्ट्र की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये।

यह भी ध्वनित होता है कि किसी व्यक्ति विशेष में कल्याण की कामना राष्ट्र की उपेक्षा करता हुआ, स्वराष्ट्र की शत्रुदृष्टि से न देखते हुए भी, न चाहने पर भी स्वराष्ट्रघातित्व आता ही है। जैसे भूख की निवृत्ति के लिए या प्राणों की रक्षा के लिए विष खाते हुए (व्यक्ति में) प्राणघातित्व आता है। इससे निदर्शना अलंकार से उपहसनीयता और उससे उस प्रकार के पुरुष की मूर्खता

धारणाय विषमदन् प्राणानुपेक्षमाणः प्राणघातित्वमायाति । निदर्शनाऽलङ्कारेण चाऽत्रोपहसनीयत्वं तेन च तथाविधपुरुषस्य मूर्खाऽतिशयो ध्वन्यते । एतादृशा अपि पुरुषा यत्र राष्ट्रे वर्तन्ते तदपि राष्ट्रमवश्यमेव पतितं भावीत्यलमधिकेन ।।13।।

वैयक्तिकहितायाऽपि स्वराष्ट्रोपेक्षणं हि नाम राष्ट्रघातित्वप्रापकमिति व्यक्तिमात्रकल्याणाकाङ्क्षिणो ये राष्ट्रमुपेक्षन्ते तेऽपि राष्ट्रघातिनो यत्र राष्ट्रे वर्त्तन्ते तदपि राष्ट्रं पततीति पतनकारणेषु निरूपितम् । न केवलमित्येव स खलु व्यक्तिकल्याणाकाङ्क्ष्यपि साकमेव राष्ट्रेण स्वयमपि नश्यतीत्यपि सुविशदं निरूपितम् । अथ ये कल्याणाकाङ्क्षिणो राष्ट्रद्रोहमाचरन्ति तेषामपि गतिः सोदाहरणप्रदर्शनं निरूपयन्नाह—

द्रुह्यन्ति ये स्वराष्ट्राय कामयन्ते च मङ्गलम् ।।
पोतच्छिदो विनश्यन्ति यथा सिन्धुं तितीर्षवः ।।14।।

अपने राष्ट्र के साथ तो द्रोह करते हैं, पर चाहते हैं कि हमारा मङ्गल हो, वे पुरुष समुद्र के पार जाने की इच्छा रख कर पोत (समुद्री जहाज) को तोड़ डालने वालों के समान नष्ट हो जाते हैं ।।14।।]

[ये–स्वराष्ट्राय–द्रुह्यन्ति–मङ्गलम्–च–कामयन्ते– [ते] सिन्धुम्–तितीर्षवः-पोतच्छिदः यथा–विनश्यन्ति । इति पदयोजना ।

द्रुह्यन्तीति । 'ये'-पुरुषाः 'स्वराष्ट्रस्य' स्वं-आत्मानं चतुर्विधसम्बन्धवत् राष्ट्रम्–व्याख्यातपूर्वम् । तस्मै 'क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः' (पा. सू. 1.4.37) इत्यनेन चतुर्थी 'द्रुह्यन्ति अपकुर्वन्ति ।

ध्वनित होती है । इस प्रकार के पुरुष जिस राष्ट्र में होते हैं. वह राष्ट्र अवश्य विनष्ट होता है ।

कारिका–14

अपने कल्याण के इच्छुक जो व्यक्ति राष्ट्रद्रोह करते हैं, उनकी क्या गति होती है, इसका सोदाहरण निरूपण किया जा रहा है—

इस कारिका का आशय है कि समस्त जीव अपनी मंगलकामना करते हैं । किन्तु जो अपने राष्ट्र से द्रोह करते हैं, उनका मंगल होना असम्भव है । निश्चय ही ऐसे व्यक्ति विनष्ट हो जाते हैं ।

अपना मंगल चाहने वाले व्यक्ति को तो स्वराष्ट्र से द्रोह कभी नहीं करना चाहिए । यदि वह व्यक्ति अपने राष्ट्र से द्रोह करता है, तो वह ऐसे अभाव या

'मङ्गलम्'-कल्याणम् 'च' 'कामयन्ते'-इच्छन्ति 'ते' इति शेषः । 'सिन्धुम्'-समुद्रम् । 'तितीर्षवः'-तर्तुमिच्छवः 'पोतच्छिदः' पोतम्-सामुद्रं प्रवहणम् । 'छिन्दन्ति'-भिन्दन्ति ते । 'यथा'-येन प्रकारेण । 'विनश्यन्ति'-विशेषेण अदृश्या भवन्ति । 'तथा विनश्यन्ति' इति शेषः ।

अयमाशयः-मङ्गलकामना किल नैसर्गिक्येव समस्त जीवजातस्येति 'स्वमङ्गल' (रा.13) इत्यस्याः कारिकाया भाष्ये व्याख्यातम् । अथ साऽपि स्वस्यैव मङ्गलस्येत्यपि तत्रैव निरूपितम् । एवं च ये स्वस्य स्वकीयस्य वा सम्बन्धिनोऽनुग्राह्यस्याऽनुग्राहकस्य वा मङ्गलं कल्याणत्वेनाऽभिमतं 'कामयन्ते' अभिलष्यन्ति । चतुर्विधेनाऽपि सम्बन्धेन सम्बन्धीति स्वकीयाय पूर्वोक्तलक्षणलक्षिताय राष्ट्राय 'द्रुह्यन्ति' शत्रुबुद्धया तन्नाशाय प्रयतन्ते च ते 'विनश्यन्ति'-विशेषेण नश्यन्ति । नाशे विशेषश्चात्यन्तिकतां बोधयति । सर्वथा ते नष्टा भवन्ति । अयमाशयः-मङ्गलाकाङ्क्षया प्रेरितान्तः करणाः स्वराष्ट्रद्रोहमाचरन्ति ये ते तादृशमभावं गमिष्यन्ति यथा तेषामुत्पत्तिरपि न प्रतीयेत । एतदेवोदाहरति -- पोतच्छिद इति । येन प्रकारेण सागरपारगमनाकाङ्क्षिणः पोतमेव ये छिन्दन्ति यथा च ते । ते हि सर्वथाऽभावं यान्ति । तथैतेऽपि नश्यन्त्येव । इदं तात्पर्यम्--यैः किल पारावारपारगमनमाशंस्यते तैः पारावारपारगमनहेतुः पोत एव यदिच्छिन्द्येत तदानीं का गतिः खलु तेषां पोतच्छिदां भवित्रीति यद्यपि न जानते पोतच्छिदः, तथाऽपि ये जानन्ति ते तु ननु जानन्त्येव यत् ते तस्मिन् सिन्धा-

---

विनाश को प्राप्त होगा कि उसे यह भी पता नहीं लगेगा कि वह कहां उत्पन्न हुआ था । इस आशय को समझाने के लिए उदाहरण दिया गया है कि जो समुद्र को पार करना चाहते हैं, वे यदि समुद्र को पार करने के साधन रूप पोत को (जहाज) ही नष्ट कर दें, तो उनकी क्या गति होगी ? यद्यपि वे इसके परिणाम को नहीं जानते हैं । तथापि जो जानते हैं, उनको तो अनुमान होगा ही कि वे आमूलचूल समुद्र में निमग्न हो जायेंगे । उनका पोत भी नष्ट हो जायेगा और वे भी नष्ट हो जायेंगे ।

अतः भवसागर में पार जाने का कारणभूत यह राष्ट्र ही होता है । यदि वह इस राष्ट्ररूप पोत की अच्छी प्रकार रक्षा करेगा, तो निश्चित ही वह अपनी सवारियों (निवासियों) को पार पहुंचा देगा । यदि वह इस राष्ट्रपोत की क्षति या उपेक्षा करेगा, तो वह अपने आरोही जनों की उपेक्षा या उनका विनाश कर

वेवामूलचूलं निमग्नाः सर्वथा स्वपोतेन साकमेव नष्टा भविष्यन्तीति । एवमेव भवसागरपारगमनहेतुभूतमिदं राष्ट्रमेव पोतः, पोतोऽयं किल सम्यग्रक्षितः पारं गमयिष्यति स्वारूढान् यावत्येवांशेऽयं राष्ट्रपोतश्छिन्न उपेक्षितो वा भवेत्तावत्येवांशेऽयमपि स्वाऽऽरुढानुपेक्षिष्यति विनाशयिष्यति च । स्वयं सिन्धुनिमग्नः सन् स्वाऽऽरुढानपि निमज्जयिष्यत्येव । राष्ट्रं चात्मेति तु सर्वेषामेव विपश्चिदपश्चिमानां नाऽगोचरः । व्यवहारे राष्ट्रवादिनो विद्वांस एव शान्तिस्थापनायै क्षमन्त इति त एव राष्ट्रविषये परं प्रमाणम् । तदितरे चाऽप्रबुद्धा मूढा वेति न प्रामाण्यं गन्तुमर्हन्ति । राष्ट्रवादिनश्च राष्ट्रियाणामात्मानं सङ्गिरन्ते राष्ट्रम् । आत्मजाश्च राष्ट्रिया इति । यथा च राष्ट्रिया अनेन व्यवहरिष्यन्ति तथैव राष्ट्रमप्येतैर्व्यवहरिष्यति । एवमेवाह भगवान् श्रीवासुदेवोऽपि —

ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।।
मम वर्त्माऽनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। (भ. गी. 4.11.) इति ।
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन : ।।(भ. गी. 6.5)
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवाऽत्मना जितः
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।(भ. गी. 6.6) इति च

एवं च यथासिन्धुं ततुंमिच्छव : पुरुषा जात्वपि नच्छिन्दन्ति स्वपोतम् । तस्यैव सिन्धुपारगमनहेतुत्वात् । अपि च नोपेक्षन्ते छिद्यमानं के-

---

देगा । वह स्वयं तो निमग्न होगा ही, उसमें बैठे हुए अपने सभी लोगों को भी ले डूबेगा ।

राष्ट्र सभी की आत्मा होता है । इस बात को राष्ट्रवादी विद्वान् जानते ही हैं । व्यवहार में राष्ट्रवादी विद्वान् ही शान्ति-स्थापना में सम्भव होते हैं, अतः वे ही इस विषय में प्रमाण है । अन्य तो अप्रबुद्ध एवं मूढ होते हैं । उनका प्रामाण्य नहीं हो सकता । राष्ट्रवादी लोग राष्ट्र को राष्ट्र में रहने वाले लोगों की आत्मा मानते हैं । ये लोग राष्ट्र के साथ जैसा व्यवहार करते हैं, राष्ट्र भी उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता है ।

अतः जो समुद्र को पार करना चाहते हैं, वे अपने पोत का छेदन कभी भी नहीं करते हैं । क्योंकि समुद्र के पार जाने का वही सेतु हैं । यदि कोई उस पोत का छेदन करने का प्रयत्न करता है, तो ये राष्ट्रवादी उसकी उपेक्षा नहीं करते

नाऽपि स्वेन वा परेण वा। संरक्षन्ति च सर्वैरप्युपायैः। तदैव तु खलु पोतोऽपि स्वाऽऽरुढान् सम्यक्तया पारावारपारं प्रापयति पुरुषान्। एवमेव पोतभूतमिदं राष्ट्रमपि राष्ट्रियैरद्रोहपरायणैरनुपेक्षिभिर्निरन्तरं सर्वैरप्युचितैरुपायजातैः संरक्षितं भवपारावारपारं प्रापयिष्यति पुरुषान् स्वकीयानिति स्पष्टमेव। अन्यथाऽपि किं भवतीति पूर्वमुक्तमेव। इदमप्यत्र बोध्यम्- यथा ह्यग्निर्माणवकं स्वदाहिकादिशक्त्यपरिचितं स्वात्मपतितं वृद्धं च स्वदाहिकाशक्तिपरिचितं स्वात्मपतित साम्येनैव दहति न माणवकमज्ञ इति क्षाम्यति, कुतः पुनर्बुद्धया प्रमाद्यन् वृद्धः क्षाम्यः? दाहे खलु साम्यमेव। आम्, इति तु भवत्येव, यत्-तद्वस्तुशक्तिपरिचयसहितो नानाविधान् स्वकान् लाभान् साधयितुमर्हति यथा क्षमते न पुनस्तथाऽज्ञोऽपि। एवमेव पोतोऽपि स्वारूढमज्ञमपि तारयति सिन्धोः स्वच्छेदकं च तमज्ञ इति न कमपि क्षाम्यति, बुद्धया प्रमाद्यतः पुनः कुतः क्षमाया अवसरः। अन्यत् पूर्वेण समानम्। एवमेव राष्ट्रमपि द्रोहिणो नैव क्षाम्यति कदाऽपि। अतो राष्ट्रद्रोहः स्ववैयक्तिकमङ्गलकामनयाऽपि न विधेयः। इदमप्यत्र बोध्यम्। ये स्वकीयमङ्गलं कामयन्ते स्वराष्ट्राय च द्रुह्यन्ति तेऽपि सिन्धुपारगमनाकाङ्क्षिपोतच्छिद इव विनश्यन्त्येव। अयमत्राऽभिप्राय।—ये परराष्ट्राय द्रुह्यन्ति निजमङ्गलकामनया, परं तेऽनार्यतया नैवं विचारयन्ति यदेतेऽपि द्रुह्यद्भ्योऽस्मभ्यमपि ध्रोक्ष्यन्तीति।

है। सब प्रकार के उपायों से उसकी रक्षा करते हैं। जब हम उस पोत की रक्षा करेंगे, तभी तो वह पोत हमें सुरक्षित पार लगायेगा। इसी प्रकार यह पोतरूपी राष्ट्र भी इसकी सम्यक् रक्षा करने वाले निवासियों को भवसागर से पार करेगा।

अग्नि अपने शक्ति के अनुसार सबको समान रूप से दाह करने में समर्थ होती है। चाहे बालक हो अथवा वृद्ध। अग्नि न तो बालक को अल्पमात्रा में जलाती है, न वृद्ध को अधिक मात्रा में। वह तो सबको समानरूप में जलाती है। क्योंकि दाह-क्रिया में अग्नि की स्थिति साम्य रहती है। इसी प्रकार पोत भी, अपने रक्षक को तथा अपने छेदक को भी समुद्र से पार कर देता है।

अतः जो लोग अपना मंगल चाहते हैं, उन्हें राष्ट्रद्रोह नहीं करना चाहिए। जो अपना तो मंगल चाहते हैं, किन्तु दूसरे के राष्ट्र से द्रोह करना चाहते हैं, उनका भी मंगल नहीं हो सकता, क्योंकि यदि हम दूसरे के राष्ट्र से द्रोह करेंगे, तो वे दूसरे राष्ट्र के लोग भी तो हमारे देश से द्रोह करेंगे। अतः वे निजद्रोह

अतस्ते निजद्रोहबीजमुप्त्वा पोतच्छिद इव परम्परया स्वराष्ट्रद्रोहिणो भूत्वाऽकामा अपि विनश्यन्त्येव । तस्मात् परराष्ट्रद्रोहोऽपि न कर्तव्यः स्वमङ्गलकामनया इति किमु वक्तव्यं स्वराष्ट्रद्रोहो न कर्तव्य इति । इदमप्यत्र बोध्यम् – महागुरवः किल सर्वदा सम्मान्या. । तदनु चाऽतिथिरपि-सम्मान्य इत्युपदिश्यते उपनिषत्सु यथा – 'मातृदेवोभव । पितृदेवोभव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव' (तै. शि. व. 11.2) इति प्रथमं समस्तैरपि प्रकारैर्माता सम्मान्या ततस्तथैव पिता ततस्तथैव चाऽऽचार्यः अनन्तरमतिथिरपि । एतेष्वपि पूर्वपूर्वस्याऽधिकं गौरवमस्ति । तदाह भगवान् मनुरेव—

उपाध्यायान्दशाऽऽचार्य आचार्याणां शतं पिता ।।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणाऽतिरिच्यते ।।(मनु. 2.145.) इति ।

स्वराष्ट्रं हि माताऽपि पिताऽपि, आचार्योऽपि । निरूपितमेतत्पूर्वम् । एकैकधर्मवन्तोऽपि सम्मान्यत्वमावहन्ति यदा तदा ये धर्मत्रयवन्तस्ते तु सर्वतोऽधिकं सम्मान्यत्वमावहन्त्येवेति किमु वक्तव्यं भवेत् । स्वराष्ट्राऽनन्तरमतिथिरूपेण परराष्ट्रमपि सम्मान्यमेव । उपनिषत्स्वाचार्यपदमुपाध्यायमप्युपलक्षयतीति बोध्यम् । स्वराष्ट्रं चैतच्चतुष्टयरूपमिति तस्मै कदाऽपि न द्रुह्येत् । आह हि तत्रभवान् महर्षिरापस्तम्बः— 'तस्मै न द्रुह्येत्कदाचन' इति । तद्रोहे सर्वनाशो भविष्यतीति । परराष्ट्रं न्वतिथिरूपेण सम्मान्यमित्यार्यजुष्टः पन्थाः । पूर्वोक्तचतुष्टयमेव सर्वतोऽधिकं सम्मान्यमिति तदेव च सम्बन्धिनां मुख्यमिति सर्व

का बीज बोकर पोतच्छेदक की भांति परम्परा से स्वराष्ट्र-द्रोही होकर, न चाहते हुए भी विनष्ट हो जाते हैं । अतः परराष्ट्र द्रोह भी नहीं करना चाहिए ।

जिस प्रकार माता, पिता तथा आचार्य को उत्तरोत्तर गौरव प्रदान किया गया है, तत्पश्चात् अतिथि भी सम्मान्य होता है । अपना राष्ट्र तो माता, पिता तथा आचार्य की तरह सम्मान्य है–इस विषय का निरूपण पहले हो चुका है । कहना न होगा कि इनमें से एक-एक गुणधर्म वाले ही सम्मान्य होते हैं । जो तीनों गुणधर्मों से युक्त हों, वे तो सर्वाधिक सम्मान्य हैं । अतः स्वराष्ट्र के बाद अतिथि की तरह परराष्ट्र को भी सम्मान दिया जाना चाहिए । उपनिषदों में आचार्य पद से उपाध्याय का भी उपलक्षण किया जाता है । अतः स्वराष्ट्र में वह रूप-चतुष्टय विद्यमान है, अतः उससे द्रोह न करना चाहिए । उससे द्रोह करने पर

'समानसंस्कृतिमताम्' (रा. 3) 'पितृपुण्यभुवम्' (रा. 4) 'पितृभूत्वम्' (रा. 5) इत्यासां कारिकाणां भाष्याऽवसरे निरूपितम् । एषु सम्बन्धेषु प्राबल्यदौर्बल्यविषयोऽपि तत्रैव विवेचितः । भवतु । एवमपीयं कारिका शक्यते व्याख्यातुम् । ये पुरुषाः 'स्वराष्ट्राय'–स्वराष्ट्राहिताय तादर्थ्ये चतुर्थीय, न 'क्रुधद्रुहे ०' (पा. सू. 1.4.37) इति । द्रुह्यन्ति–विद्विषन्ति परस्परमेव । अयमभिप्रायः स्वराष्ट्रकल्याणाय ये द्रुह्यन्त्यन्योऽन्यमेव स्वकीयं मङ्गलं च कामयन्ते तेऽपि किल सिन्धुं तितीर्षवः पोतच्छिद इव विनश्यन्ति । अथवा अनुचित स्वराष्ट्रकल्याणाय परराष्ट्रेभ्योऽकारणमेव द्रुह्यन्ति तेऽपि पोतच्छिद इव विनश्यन्त्येवेति भवतु । सर्वथाऽप्येतदेव निष्पद्यते यत् स्ववैयक्तिककल्याणायाऽपि स्वराष्ट्रस्य द्रोहो नैव विधेय इति । अथैवमपि व्याख्येयम्—ये 'स्वराष्ट्राय'–शोभनं यदराष्ट्रम् । अन्यार्थेऽल्पार्थेऽपि च नञ् ।नञर्थाश्च—

तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदभावस्तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ।।

इत्येवमुक्तः तस्मै । शोभनत्वं चार्यप्रकृतितया । राष्ट्रवादप्रधानाय राज्यवादप्रधानाय वा द्रुह्यन्ति । अन्यत् पूर्वेण समानमेव व्याख्यानम् । अधिकमग्रे ।।14।।

इत्थङ्कारं हि राष्ट्रपतनकारणानि निरूपितानि । राष्ट्रं किल यैः कारणैः पतति तेषां कारणानां नाशनेन राष्ट्रमुन्नतिमायातीत्ययं

सर्वनाश होगा । वस्तुतः परराष्ट्र का सम्मान अतिथि रूप में करना चाहिए–यह आर्य सेवित मार्ग है ।

इस कारिका का व्याख्यान इस प्रकार भी किया जा सकता है कि अनुचित स्वराष्ट्र-कल्याण के लिए जो परराष्ट्र से अकारण ही द्रोह करते हों, वे भी पोतच्छेदक की भांति विनष्ट होते हैं । अतः कल्याण के लिए भी राष्ट्र-द्रोह नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार राष्ट्र के पतन के कारणों का निरूपण किया गया है । राष्ट्र के पतन के कारणों का नाश करने से ही राष्ट्र उन्नत हो सकता है । यह निश्चित है कि शिक्षा के अभाव से राष्ट्र का पतन होता है । अपने हिताहित को पहचानने वाला कोई भी प्राणी अपना पूर्ण विनाश नहीं करना चाहता है । मोह (अज्ञान) के कारण ही पुरुष अकार्य करता है । ऐसी स्थिति में शिक्षा के द्वारा अज्ञ अनार्यों को आर्य बनाया जा सकता है । विज्ञ अनार्यों को दण्ड के बल पर आर्य बनाया

सिद्धान्तः सर्ववाद्यविसंवादी । किं च पतनं हि प्रायः शिक्षाया अभावादेव भवतीत्यपि चतुरस्रमेव । को हि नामप्रकृतिस्थश्चेतनो हिताऽहितज्ञान-विज्ञानकुशलः सन्नपि स्वनाशमामूलचूलघातं कर्तुमभिलष्यति कुरुते वा मूढैः पुनरभिनिविष्टैः सर्वमपि क्रियतेऽनार्यैः । अयं हि मोहमहिमैतादृगेव यदकार्यमपि कारयति । अतएव योगिप्रवरो भर्तृहरिरप्याह—

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
समीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नातु पिशितम् ॥
विजानन्तोऽप्येते वयमिह वियज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥

तदेवंस्थितेऽप्युचितशिक्षयाऽज्ञत्वमूलकमनार्यत्वमापन्ना अनार्याः शक्यन्त आर्यीकर्तुम् । विज्ञाः पुनरनार्या दण्डेनैव शक्यन्त आर्यीकर्तुम् । अयमभिप्रायः—"उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपाया", इति हि सिद्धान्तः । उपेयं च समस्तस्याऽपि जीवलोकस्याऽऽनन्द एव । तस्यैव सर्वेषां-जीवितत्वात् । जीवितं सर्वोऽप्युपैतुमाशंसतीति निसर्गः स चाऽऽनन्दः स्वतन्त्रस्वराष्ट्राऽऽयत्तः । स्वातन्त्र्यं च स्वराष्ट्रस्य राष्ट्रियाणामेव करे भवति । तेषामेव सर्वतोऽधिकस्वतन्त्रताविकासयोग्यतया तत्राऽधिकृतत्वात् राष्ट्रे, अतएव सम्बन्धचतुष्टयवन्त इति स्वत्वतो भवितु-मर्हन्तीति च । त एते राष्ट्रिया एव राष्ट्रविनयशिक्षामनधिगमिता यदि भवेयुस्तदाऽज्ञतया नाशयेयुः स्वराष्ट्रम् विपरीतशिक्षामापन्नास्तु पुनः नाशयेयुरेव स्वराष्ट्रमिति स्वराष्ट्रशिक्षाधीनमेवैतदापत्तिनिवारणं सर्वथे-त्याकलय्य स्वराष्ट्रशिक्षां ग्राहयितुं हेतुप्रतिपादनपुरःसरं तन्माहात्म्यं निरूपयन्नाह—

जा सकता है । "उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपायाः" अर्थात् उपेय की प्राप्ति के लिए ही उपाय किये जाते हैं–यह सिद्धान्त है ।

सम्पूर्ण जीवलोक का आनन्द ही उपेय है । उस आनन्द के लिए ही सब जी रहे हैं । वह प्राणियों का स्वभाव है कि वे जीवित रहना चाहते हैं । वह आनन्द स्वतन्त्र राष्ट्र के अधीन ही है । क्योंकि वे ही स्वतन्त्रता के विकास की योग्यता में अधिकृत होते हैं और राष्ट्र में वे ही सम्बन्धचतुष्टय से युक्त होते हैं । अतः स्वत्ववान् हो सकते है । यह राष्ट्रिय लोग विद्या, विनय आदि गुणों से युक्त होंगे, तो राष्ट्र को स्वतन्त्र रख सकेंगे, अन्यथा स्वराष्ट्र का विनाश कर डालेंगे ।

इसी कारण यहां स्वराष्ट्रशिक्षा का माहात्म्य, हेतु-प्रतिपादन पूर्वक बतलाया जा रहा है :—

राष्ट्रस्योत्थानपतने राष्ट्रियानवलम्ब्य हि ।
भवतस्सर्वदा तस्माच्छिक्षणीयास्तु राष्ट्रियाः ।।15।।

(राष्ट्र का उत्थान तथा पतन राष्ट्रियों के ऊपर ही अवलम्बित है, अत एव राष्ट्रिय सर्वदा शिक्षासम्पन्न होने चाहिये ।।15।।)

[हि-राष्ट्रस्य–उत्थानपतने–राष्ट्रियान्–अवलम्ब्य–सर्वदा–भवतः–तस्मात्–राष्ट्रियाः–शिक्षणीयाः–तु । इति पदयोजना ।]

राष्ट्रस्येति । "हि"=यस्मात् । "राष्ट्रस्य"=व्याख्यातलक्षणस्य "उत्थानपतने"=‘उत्थानम्’=स्वातन्त्र्यस्याऽवाप्तिः सर्वेषु कार्येषु ‘पतनम्’=पारतन्त्र्यप्राप्तिः सर्वेषु कार्येषु ते द्वन्द्वसमासः "राष्ट्रियान्" राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिनः पुरुषान् "अवलम्ब्य"=आश्रित्य "सर्वदा"=सर्वकाले "भवतः"=सम्पद्येते । "तस्मात्"=तस्मात् हेतोः हेतौ पञ्चमी । "राष्ट्रियाः"=पूर्वोक्तलक्षणाः पुरुषाः "शिक्षणीयाः"=शिक्षयितुं योग्या । "तु"=अवश्यम् । अवश्यमेव शिक्षासम्पन्ना कार्या इति भावः । इदमत्र तात्पर्यं बोध्यम्—शिक्षामन्तरा खलु न किमपि पार्यते कर्तुम् । अशिक्षितो हि खलु अन्ध एवेति स किं कर्तुं प्रभवेत् । तथा चान्यत्रोक्तमपि—

कारिका–15

शिक्षा के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता । अशिक्षित व्यक्ति अन्ध व्यक्ति की तरह है । वह क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता । सभी प्राणी कार्याकार्य-व्यवस्थिति की संधारणा को तो स्वीकार करते ही है । यदि कार्याकार्य की अव्यवस्था होगी, तो मात्स्यन्याय का उदय होगा । सब व्यवस्था नष्ट हो जायेगी । व्यवस्था बनाये रखने के लिए शास्त्र का अवलम्बन लेना होगा । कुमारिल भट्ट ने भी कहा है कि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का उपदेश शास्त्र ही देता है ।

शिक्षा का सहारा लिये बिना शास्त्र का अवगाहन कैसे किया जा सकता है ? ऐसी स्थिति में राष्ट्रसंरक्षण के लिए शिक्षा ही एकमात्र साधन है, क्योंकि "जिससे अभ्युदय तथा निश्रेयस (कल्याण) की सिद्धि हो, वही धर्म है" ।

व्यवहार में अभ्युदय का साधन राष्ट्र ही है । राष्ट्र, उस में उत्पन्न पुरुषों की योग्यता की आकांक्षा करते हैं । ज्ञान प्रधान योनि में उत्पन्न पुरुष ही राष्ट्र के उत्थान तथा पतन में कारण होते हैं । यदि वे योग्य हैं, तो स्वयं उन्नति की ओर

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नाऽस्त्यन्ध एव सः । इति ।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ । (भगी 16.231)

इति श्रीभगवद्गीतास्वप्युक्तम् । कार्याऽकार्यव्यवस्थितिं च पुनः सर्वोऽपि जीवलोको वाञ्छत्येवोपादेयतया । अव्यवस्थायां हि मात्स्य-न्यायः समुदियादिति व्यवस्था च शास्त्रमवलम्ब्यैव सिद्ध्यति । शास्त्रत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं पुनरेवमुपश्लोकितं तत्रभवद्भिर्धर्मोद्धा-रबद्धपरिकरैर्भट्टश्रीकुमारिलचरणैः—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति कथ्यते ।।इति।।

शिक्षां चाऽनवलम्ब्य कथमवगम्येत हि पुनः शास्त्रम् । तदेवंस्थिते राष्ट्रसंरक्षणाय शिक्षैवैका परमधर्मस्वरूपं विभ्रती साधनीभूत्वा सर्वतोभावेन कल्पते इति निष्पद्यते । "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-ससिद्धिः स धर्मः" इति हि धर्मलक्षणं प्राहुर्महर्षयः । अभ्युदयसाधनं व्यवहारे राष्ट्रमेवेतिस्फुटमेव निःश्रेयसाय च कल्पत एव राष्ट्रमिति तथा निरूपितं "चतुर्णाम्" (रा. 1) इत्यस्याः कारिकाया भाष्याऽवसरे । राष्ट्रं च राष्ट्रसम्भवानां पुरुषाणां योग्यतामाकाङ्क्षते । ज्ञानप्रधानयोनौ न उत्पन्ना इति त एव राष्ट्रस्योत्थाने पतने चाऽधिक्रियन्ते । यदि ते

अग्रसर कर देते हैं । यदि वे अयोग्य होते हैं, तो स्वयं का भी पतन करते हैं तथा अपने राष्ट्र का भी पतन करते हैं । योग्यता तथा अयोग्यता शिक्षा के आधीन है । अतः राष्ट्र के लोगों को अवश्य शिक्षित किया जाना चाहिए । शिक्षा केवल पेट भरने का साधनमात्र उदर-पूर्ति करती हैं, वह शिक्षा शिक्षा नहीं है । उदर भरण तो पशुपक्षी भी करते हैं । जो शिक्षा ज्ञान-विज्ञान के लिए प्रवर्तित होती है, वही वास्तव में शिक्षा है । स्वयं का ज्ञान हो मनुष्य को आर्यत्व की ओर प्रवर्तित करता हैं । आर्यभाव ही स्वयं की उन्नति करता हैं । श्रुति में कहा हैः—

"ब्राह्मणेन हि निष्कारणं षड़ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" । अर्थात् ब्राह्मण को अकारण ही साङ्ग वेदों का अध्ययन करना चाहिए और प्राप्त करना चाहिए ।

यहां ब्राह्मण पद मनुष्यमात्र का सूचक है । वेद पद ज्ञानप्रदायक सद्ग्रन्थों का सूचक है । वर्णाश्रम, जाति, धर्म देश, काल, पात्रादि के द्वारा ही पठन-पाठन की व्यवस्था सम्यक्तया की जा सकती हैं । मानव ज्ञानपरायणरूप धर्म का स्वयमेव वरण करता है । यह 'निष्कारणम्' पद से ज्ञात होता है । ज्ञान को विज्ञान से युक्त किया जाना चाहिए, इसीलिए "अध्येयो ज्ञेयश्च" कहा गया है ।

योग्याः स्वयमुत्तिष्ठन्तो राष्ट्रमत्युत्थापयेयुरिति । अथचेदयोग्यास्ते स्वयमपि पतन्तो राष्ट्रमपि पालयेयुरेव । योग्यत्वमयोग्यत्वं च शिक्षाया आयत्तम् । अतोऽवश्यमेव शिक्षणीयाः खलु राष्ट्रियाः शिक्षा किल न केवलमुदरदरीपूरणप्रयोजना । या किल शिक्षा केवलमुदरदरीं पूरयति सा न शिक्षापदव्यवहारमर्हति । उदरदरीपूरणं हि खल्वनधिगम्याऽपि शिक्षां पशुपक्ष्यादयोऽपि कर्तुं शक्नुवानाः कुर्वाणाश्च प्रत्यहं दरीदृश्यन्ते लोके । शिक्षा हि ज्ञानाय विज्ञानाय च या कल्पते स्वात्मनः सैव शिक्षा वास्तविकीति वस्तुस्थितिः । अतएव विनयाचार्या एवं प्रतिपादयन्तो दृश्यन्ते तथा—

यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवःसोऽत्र जीवति ।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम् ।। इति ।

अन्यदपि—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै—
विज्ञानशौर्यविभवादिगुणैः समेतम् ।।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ।। इति च ।

स्वात्मनो यथार्थभावज्ञानं नन्वार्यत्वं प्रापयितुं प्रभवति मानवम् । आर्यभावश्चोन्नयति स्वात्मानम् । अतएव श्रुतिरपि भगवती दयापर वशा सती पुरुषं प्रति प्राह—

ज्ञानविहीन पशुओं के समान होते हैं–ऐसा नीतिज्ञ कहते हैं । वैयक्तिक इन्द्रिय भोगों की परिपूर्ति तो यथा तथा सभी प्राणियों को होती है । अनार्य लोग केवल इस भोगपूर्ति को ही प्रधान लक्ष्य मानकर उनकी पूर्ति के लिए कलहादि में प्रवर्तित होते हैं तथा अपने प्राणों को भी त्याग देते हैं । असुर पुनः पुनः असुरयोनियों में उत्पन्न होते हैं । प्रायः देखा गया है कि भोगप्रधानयोनियों में उत्पन्न जीवों की कर्मेन्द्रियां विशेषरूप से विकसित होती हैं तथा मनुष्यों की ज्ञानेन्द्रियां अधिक विकसित होती हैं । मनुष्यों में ज्ञानप्रधान इन्द्रियों का विकास अधिक दृष्टिगोचर होता हैं । कर्मप्रधान सन्तानपरम्पराओं में उत्पन्न प्राणियों में कर्मप्रधान इन्द्रियों का विकास अधिक दिखायी देता है ।

जिनका अन्तःकरण निर्मल होता है. उनकी वृत्तियां अन्तर्मुखी होती हैं । उनमें आर्यभावना एवं दैवी सम्पद् का आधिक्य होता है । वे उन-उन इन्द्रिय-कुंडों भोगों का विधिपूर्वक हवन करते हुए अक्षय्य-अमृत का उपभोग करते हैं और पूर्ण स्वातन्त्र्य भाव का अभिनन्दन करते हैं ।

"ब्राह्मणेन हि निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञे यश्च इति अत्र ब्राह्मणपदं मनुष्यमात्रमुपलक्षयति । वेदपदं च ज्ञानप्रदायकसद्ग्रन्थमात्रमुपलक्षयति । वर्णाऽऽश्रमजातिदेशकालपात्रादि यथायथमनुरुद्ध्यैव पठन-पाठनादिव्यवस्थापनं भवतीति तद्ग्रन्थान्तरेषु स्फुटमेव । मानवः खलु ज्ञानपरायणत्वरूपं धर्मं स्वभावेनैवाऽनुरुणद्धीति बोध्यतेऽनेन 'निष्कारणम्' इति पदेन । ज्ञानमपि विज्ञानसहभावेन सम्पादनीयमित्युपदेष्टुमेव "अध्येयो ज्ञेयश्च" इत्युक्तम् । अत एव चाऽर्थज्ञानवतः प्रशंसामज्ञातार्थस्य च निन्दां विदधती श्रुतिरप्यर्थज्ञस्य समस्तविधकल्याणप्राप्तिदर्शयति । तथाहि—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकस्यपृष्ठमेति विधूतपाप्मा ।।इति ।

ज्ञानरहिताः खलु पशुभिः समाना भवन्तीति नयदर्शिनोऽपि वदन्ति—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समाना ।।

एवं स्ववैयक्तिकेन्द्रियभोगानां परिपूर्तिर्यथा तथाऽप्यनुषङ्गेण जीवनिकायानां भाव्येव । अनार्याः पुनरेनामेव भोगपूर्ति विधेयतया प्रधानां प्रतिपादयन्तो मिथश्च तदर्थमेव विग्रहमाचरन्तो विजहत्यसूंनपि सविग्रहम् । असुरा हीमेऽत एव पौनःपुन्येनासुरीं योनिमभिजायन्ते । अतएव हि प्रायो भोगप्रधानयोनिसमुत्पन्नेषु जीवेषु कर्मेन्द्रियाणि विशेषतो विकसितानि दृश्यन्ते । मनुष्येषु पुनर्ज्ञानेन्द्रियाणि । मनुष्येष्वपि ज्ञान-

---

जिनका अन्तःकरण मलयुक्त होता है वे बहिर्मुखी होते हैं । उनमें अनार्य-भावना तथा दानवी वृत्ति की अधिकता होती है । वे अपनी इन्द्रियों से केवल विषयों की ओर प्रवृत्त होते हैं और बाद में विषयों के द्वारा उपयुक्त होते हुए पुनः पुनः मृत्यु का वरण करते हैं तथा पूर्ण परतन्त्र भाव में निमग्न हो जाते हैं ।

आर्य लोग शिक्षा-बल से समस्त राष्ट्र में व्यवस्था स्थापित करते हैं और उन्नति के कारण होते है, जबकि अनार्य अशिक्षा के बल पर अविवेक एवं दुष्टता का प्रचार कर राष्ट्र में विप्लव उत्पन्न करते हुए पतन के कारण होते है, अतः सर्वप्रथम राष्ट्रवासियों को शिक्षित किया जाना चाहिए ।

जिस-जिस राष्ट्र का उत्थान हुआ है, वह राष्ट्र चतुर्विधसम्बन्ध से ही हुआ है, न कि तद्विरुद्ध सम्बन्धों से । कुछ लोगों का कहना है कि हमने तो अपने राष्ट्र

प्रधानसन्तानपरम्परासु ज्ञानप्रधानानामिन्द्रियाणां विकासः परिलक्ष्यते । कर्मप्रधानसन्तानपरम्परासु च कर्मप्रधानानामिन्द्रियाणां विकासः परिदृश्यते । इदं च बोध्यम्—निर्मलान्तःकरणा अन्तर्मुखा आर्यभावमवगाहमानाः दैवीं सम्पदमभिजायमानास्तत्तदिन्द्रियकुण्डेषु परमात्मचिदग्नौ तांस्तान् भोगान् यथाविधि जुह्वाना अक्षय्यममृतं भजमानाः पूर्णस्वातन्त्र्यभावमभिनन्दन्ति । समलान्तःकरणा बहिर्मुखाश्च पुनरनार्यभावमवगाहमाना दानवीं सम्पदमभिजायमानास्तैस्तैरिन्द्रियैर्यथारुचि तेषु तेषु विषयेषु रममाणा अनन्तरं च विषयैरेव भुज्यमाना वारं वारं मृत्युमेव परवशतया भजमानाः पूर्णपरतन्त्रभावे निमज्जन्ति । भवतु । ततश्च आर्याः खलु समस्तजीवजातस्य यथायथं व्यवस्थितां पुमर्थपरिपूर्तिं समस्ताऽविरोधेन प्रधानां मन्यन्ते । अतएवार्याः शिक्षाबलात्-समस्तान्यपि राष्ट्राणि व्यवस्थापयन्त उन्नतिकारणानि भवन्ति । अनार्यश्च शिक्षामनादृत्य अविवेकिन इत्येव दौष्ठवमेव सौष्ठवं मन्यमानाः सर्वाण्यपि राष्ट्राणि विप्लावयन्तः पतनकारणानि भवन्ति । इत्येतत्किल विदुषां निश्चप्रचम् । अतश्च सर्वादौ राष्ट्रियाः शिक्षणीया इत्येवोपदेशमर्हति । अत्रेदमपि बोध्यम्—राष्ट्रस्य खलूत्थानं पतनं च राष्ट्रमाभिजन्येन सभावयतः सम्बन्धचतुष्टयवतः पुरुषान् एवाऽवलम्ब्य भवति । अयमभिप्रायः—यदेव राष्ट्रमुतिष्ठदवलोक्यते तत्तद्राष्ट्रं चतुर्विधसम्बन्धवद्भिरेवोत्थापितं न तद्विरुद्धै राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धवद्भिरपि वेति,

---

को उन्नत किया था, किन्तु दूसरे राष्ट्रों के अनार्यों ने हमारे राष्ट्र का पतन किया, अपने राष्ट्र के पतन में हम कारण नहीं है । इन लोगों से हम पूछना चाहते हैं कि–जब दूसरे राष्ट्रों के अनार्यों ने आप पर आक्रमण किया, तब स्वयं को आर्य कहने वाले आप ने उनको पराजित क्यों नहीं किया ? यदि आप कहें कि अब हम उनके पराक्रम को परास्त करने में असमर्थ हैं, तो फिर आप कितने मूर्ख शिरोमणि है । वस्तुतः अपनी अशक्ति ही अपने पतन का कारण हुआ करती है । अपने को आर्य मानने वाले आपने इसे अभी तक समझा नहीं है ।

पहले आप "राष्ट्रनय" की शिक्षा ग्रहण करें । स्वयं सुरक्षित हों, तो तब कुछ समझ जाएंगे । आर्यलोग तो स्वराष्ट्र के लोगों द्वारा किये गये राष्ट्रघात को ही सहन नहीं करते, फिर परराष्ट्र द्वारा किये गये राष्ट्रघात को कैसे सहन कर सकते हैं ? आर्य लोग अपने जीते जी अपने राष्ट्र का पतन नहीं देख सकते तथा सर्वदा स्वराष्ट्रहित एवं स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करते हैं ।

निश्चीयते । एवमेव यदेव च राष्ट्रं नियदवलोक्यते तत्तद्राष्ट्रं चतुर्विध-सम्बन्धवद्भिरेव निपातितं न तद्विरुद्धं राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धवद्भिर-पि वेति निश्चीयत एव । एतेन ये केचिन्मन्यन्ते—"अस्माकं राष्ट्रं चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि सम्बन्धिपरराष्ट्रोद्भवैरनार्यैः पातितमिति न वयं स्वराष्ट्रपतने हेतवः, अस्माभिस्त्वतोवोन्नमितमासीत्" इति, तदतीवा-ऽसम्बद्धमिति प्रत्याख्यात्यनया कारिकया प्रस्तुतग्रन्थप्रणेता । एवं वदन्तस्ते खल्वेवं प्रष्टव्याः–"अनार्यैः परराष्ट्रोद्भवैर्यदा भवन्त आक्रान्ता-स्तदा भवद्भिरार्यम्मन्यैः कथं न ते पराकृताः," अथो यदि ब्रूथ यूयम्—"तदानीं वयमशक्ता आस्म तेषां पराक्रमपराकरणे" इति, अहह कियन्तो देवानां प्रियाणां शिरोमणयो भवन्तः स्वाऽशक्तिरेव खलु स्वस्य पतन-कारणं भवतीति किं न भवद्भिरार्यम्मन्यैर्विज्ञातमद्यावधि ? अथोन्नयने कथमात्मानं कारणं मन्यध्वे? तदप्यन्यराष्ट्रोद्भवैरेवोन्नमितमित्येव कुतो न भवेत ? पुत्रकाः शिक्षन्तां राष्ट्रनयं पूर्वम् । सर्वमप्यवगमिष्यन्ति भवन्तः सुशिक्षावन्तः सन्तः । किंच स्वराष्ट्रघातं स्वराष्ट्रियेनाऽपि क्रियमाणमार्या न सहन्ते कुतः पुनर्मर्षयेरन् परराष्ट्रोद्भवैः क्रियमाणं राष्ट्रघातम् । आर्याः किल स्वेषु जीवत्सु न स्वराष्ट्रपतनं पश्यन्ति सर्वदैव हिते स्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्यायैव प्रयतन्ते । अगृहीतशिक्षाणां कुशिक्षावतामेव हि खलु मुखे शोभत् एतत्कथनं यत् "अस्मद्राष्ट्रपतनाय परराष्ट्रोद्भवा अनार्याः कारणम्" इति । स्वराष्ट्रघातिचाण्डालानां साहाय्येन परराष्ट्रजाताः पातयन्ति खल्वनार्यस्वभाववत्तया राष्ट्राऽन्तराणीत्यन्यदेदतत् । अतः

शिक्षा प्राप्त न किये हुए अथवा कुशिक्षा से सम्पन्न व्यक्ति के मुख में ही यह कथन शोभित होता है कि स्वराष्ट्र के पतन के लिए पर राष्ट्र में उत्पन्न अनार्य कारण होते हैं ।

स्वराष्ट्रघाती चाण्डालों की सहायता से ही परराष्ट्र के अनार्य, अन्य राष्ट्रों को पतन के गर्त में धकेलते हैं । अतः राष्ट्र की उन्नति के लिए उस राष्ट्र के चतुर्विध सम्बन्ध वाले व्यक्ति ही राष्ट्रीय पदों पर आरूढ़ होने चाहिए । उन्हें समुचित शिक्षा आदि से प्रशिक्षित किया जाना चाहिए । जो यह समझते हैं कि परराष्ट्रज ही हमारा पतन करते हैं, उन्हें भी अपने राष्ट्र वासियों को ही शिक्षित करना चाहिए कि अपने राष्ट्र का घात करने वाले परराष्ट्रजों का निराकरण प्राणों की बाजी लगा कर भी करना चाहिए । अनार्यत्व को पराजित करने के लिए तथा आर्यत्व को संस्थापित करने के लिए परराष्ट्रज आक्रामकों को सामादि

प्रथममवश्यमेव तद्राष्ट्रोन्नत्यौ तद्राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धवन्त एव तत्र राष्ट्रियपदमधिरोढुमर्हन्तीति त एव तत्तत्समुचितशिक्षादिभिः शिक्षणीयाः। अपि वा ये परराष्ट्रोद्भवा एव पातयन्त्यस्मानित्यवगच्छन्ति तैरपि स्वराष्ट्रियाः शिक्षणीयाः। यत्–'इमे खलु परराष्ट्रजा अस्मद्राष्ट्रं घातयन्तीति प्राणपणेनाऽपि निराकरणीयाः' इति। आक्रामकाः परराष्ट्रजाश्च यथायथं सामादिभिरुपायैः शिक्षणीया अनार्यत्वं हातुमार्यत्व च स्वीकर्तुम्। साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च देशकालवस्तुपरिस्थितिं समवलोक्य शिक्षणीयाः। सर्वथाऽप्युत्थानं च पतनं च राष्ट्रियायत्तमिति त एव सर्वत आर्याऽनार्योभयनयशास्त्रविदः कार्या इत्यलमधिकमग्रे ॥15॥

तदेवं सर्वविधाया अप्युन्नतेर्मूलं किल शिक्षैवेति सर्ववाद्यविसंवादी सिद्धान्तः। ततश्च राष्ट्रोत्थानपतनं ज्ञानाय सविज्ञानाय तच्छिक्षैवादौ राष्ट्रेण सम्यगुपादेयेति "राष्ट्रस्योत्थान" (रा. 15) इत्यनया कारिकया प्रतिपाद्य सम्प्रति का च कीदृशी च शिक्षोपादेयेति प्रतिपादनाय तत्फलवर्णनेन च सह प्राह—

स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयाच्चिकीर्षुः स्वां समुन्नतिम्।
दूरदृष्टिर्यया भूत्वा न कदाऽपि विषीदति ॥16॥

[अपनी अच्छी प्रकार की उन्नति चाहने वाला पुरुष स्वराष्ट्रशिक्षा ग्रहण करे, जिस स्वराष्ट्रशिक्षासे दूरदृष्टि हो कर कभी भी खेद नहीं करता ॥16॥

[स्वाम्–समुन्नतिम्–चिकीर्षुः–स्वराष्ट्रशिक्षाम्– गृह्णीयात्—यया दूरदृष्टिः— भूत्वा—कदा–अपि–न–विषीदति । इति पदयोजना ।]

उपायों से शिक्षित करना चाहिए। साम-दाम-दण्ड-भेद, देशकाल, वस्तु, परिस्थिति का अवलोकन कर शिक्षण दिया जाना चाहिए। उन्हें यह स्पष्ट बता देना चाहिए कि राष्ट्र का उत्थान एवं पतन राष्ट्रिय-लोगों के अधीन है। अतः उन्हें आर्य-अनार्य दोनों प्रकार की नयशक्ति से विज्ञ कराना चाहिए। सर्वविध उन्नति का मूल शिक्षा ही है।

किस प्रकार की शिक्षा उपादेय है? इस सम्बन्ध में विवेचन किया जा रहा है—

कारिका–16

सब कार्य शिक्षा से ही सम्पन्न हो सकते हैं। अतः सर्वप्रथम शिक्षा का ही सम्पादन करना चाहिए। सब लोग यह अनुभव करते हैं कि हम हैं और कुछ करें, ताकि हमें आनन्द की प्राप्ति हो। क्योंकि आत्मा आनन्दरूप ही है। जब आत्मा जीवरूप को धारण करता है, तो वह अपने आपको अपूर्ण मानता है। वह

स्वराष्ट्रेति । "स्वाम्"=स्वकीयाम्, स्वकीयस्य च "समुन्नतिम्"–"सम्यक्"=सर्वप्रकारिका "उन्नतिः"=अभ्युदयः ताम् । "चिकीर्षुः"=कर्तुमिच्छुः "स्वराष्ट्रशिक्षाम्" "स्वस्य"=आत्मनः, आत्मीयस्य "राष्ट्रम्" - प्रोक्तलक्षणम् । तस्य "शिक्षा"=सविज्ञानं ज्ञानम् । स्वराष्ट्रे निजराष्ट्रे शिक्षामित्याद्यपि व्याख्येयम् । "गृह्णीयात्"=आददीत । "यया"=हेतुभूतया शिक्षया "दूरदृष्टिः"–"दूरे"=सुदूरपर्यन्तं "दृष्टिः"=ज्ञानं यस्य सः सुदूरपारिणामिकज्ञानवानिति यावत् । "भूत्वा"–सम्पद्य । "कदाऽपि"=कस्मिन्नपि काले । "न विषीदति"=न चेखिद्यते । अस्या अयमभिप्रायः—सर्वतोऽप्यादौ शिक्षामेव हि सम्पादयेत् । कुत एतत् ? शिक्षा मूलान्येव हि सर्वाणि कार्याणीति । तदेतदुक्तं श्रीलात्मविलासे प्रस्तुतभाष्यकृतैव यथा—

आनन्द एव पर्यन्तः सापेक्षसुखदुःखयोः ।
स्वाऽनन्दं तु विमृशतां निश्चितं मतमुत्तमम् ।।21.96. इति

अयं समस्ति खलु क्रमो विकास्यमानस्याऽस्य विकासस्य सर्वस्यापि–यथा—अहमस्मीति सर्वदा सर्वोऽपि स्वमनुभवति । किमु खलु कारणमत्र भवेत् ? सर्वदेव हि 'अहम्' इति प्रकाशमानत्वमस्त्यहम् इति । प्रकाशमानत्वमात्मनः कुतोऽवगतम् ? प्रकाशमानोऽहमस्मीति विमर्शस्वभावत्वात्प्रकाशस्य । अथकिमुद्दिश्याऽयं प्रकाशमानो विमृशत्यात्मानम् ? स्वाऽनन्दाय, अथ कुतोऽवगतमेतत् स्वाऽऽनन्दायेति ? आनन्दरूपत्वादात्मनः, आनन्द एव च पर्यवसानात् समस्तस्य अतएव खल्वात्मनैव परिपूर्णतया द्वैताऽऽनन्दोपभोगं द्वैतभावमवलम्ब्योपभुङ्क्ते । तत्र जीवरूपमाश्रित्याऽऽत्मानमपूर्णं विभाव्य विकलोऽहं दुःखी,वद्धोऽहं कथं मे मोक्षो भवेद् इत्यादि परिचिन्तयति । ततश्च मुमुक्षुरपूर्णाऽऽनन्दः पूर्णाऽऽनन्दमुपदातुं

कहता है कि में विकल हूं, दुःखी हूं । इन बाधाओं से मुझे छुटकारा कैसे मिले ?

वेदान्त का सिद्धान्त है कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती है । अतः ज्ञान-प्राप्ति के लिए शिक्षा आवश्यक है । इस तथ्य को सब स्वीकार करते हैं । राष्ट्रिय लोग ही राष्ट्र के उत्थान तथा पतन के कारण हुआ करते हैं ।

अब शिक्षा में विशेष प्रवृत्ति सम्पादित करने के लिए 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्याय के अनुसार सह-शिक्षा सभी प्रकार के सौभाग्य को प्रदान करती है—इस विषय का निरूपण किया जा रहा है—

प्रथममिच्छति, तत इच्छाविषयमेव जानाति तत्स्वरूपलक्षणादि, ज्ञातं च तत् स्थूलोपभोगाय तदनुकूलान् व्यापारानारचयतीति । एवं च स्थूल-क्रियाविषयस्य मूलं ज्ञानमेवेति ज्ञानमन्तरेण न किमप्युपपादयितुं शक्यते इति सर्वस्मात् पूर्वं "ज्ञानम्"=शिक्षा वाऽवश्यकेति नाऽत्र केऽपि विद्वांसो विप्रतिपत्तिमनुभवन्ति । एतच्च स्वोपज्ञ आत्मविलासे तद्व्याख्यायां च प्रस्तुतभाष्यकारः सम्यङ् न्यरूपयदिति तत्रैव परिशीलयन्तु सन्तः ।

"राष्ट्रस्योत्थान" (रा. 15) इत्यनया कारिकया हि 'राष्ट्रिया एव राष्ट्रस्योत्थान-पतनयोर्हेतु भावनावहन्ति न तदितरे जना' इति तेऽवश्य शिक्षणीया एवेति सम्यक् प्रतिपादितम् । "स्वराष्ट्रशिक्षाम्" (रा. 16) इत्यनया च कारिकया 'कीदृश्या शिक्षया शिक्षणीयास्ते' इति निर्वर्णितम् । शिक्षाया उद्देशः फलमपि च तत्रैव वर्णितम् । अथेदानीं तस्यां विशेषतः प्रवृत्ति सम्पादयितुं 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायमनुसृत्य सा शिक्षा समस्तविधसौभाग्यं प्रददातीति प्रतिपादयन् प्राह—

सदाऽऽचरन्तः कार्याणि राष्ट्रशिक्षाञ्जनाऽञ्जिताः ।।
इहाऽमुत्र च सौभाग्यं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः ।।17।।

[राष्ट्रशिक्षारूपी अञ्जन को आंखों में आंज कर सर्वदा कार्य करने वाले नरश्रेष्ठ इस लोक में तथा उस लोक में भी सौभाग्य प्राप्त करते हैं ।।17।।]

[सदा-राष्ट्रशिक्षाञ्जनाञ्जिताः—कार्याणि-आचरन्तः नरोत्तमाः—इह—अमुत्र—च-सौभाग्यम्—प्राप्नुवन्ति । इति पदयोजना ।]

सदेति । 'सदा'—सर्वस्मिन्काले । 'राष्ट्रशिक्षाऽञ्जनाऽञ्जिताः'—'राष्ट्रस्य'—पूर्वलक्षणलक्षितस्य "शिक्षा"—ज्ञानम्, तदेव "अञ्जनम्"–

कारिका–17

बहुत से लोग शिक्षा प्राप्त करके आलस्य से अभिभूत होकर कुछ भी कार्य नहीं करते हैं, बहुत से लोग केवल दूसरों को ही उपदेश देते हैं, किन्तु स्वयं आचरण नहीं करते हैं ।

विद्या का उपयोग चार प्रकार से होता है—अध्ययन, बोध, आचरण तथा प्रचार अध्ययन और बोध का फलसहित प्रतिपादन पूर्व कारिका में किया जा चुका है । यहां आचरण और उसके फल का प्रतिपादन किया जा रहा है । आचरण के अधिकारी वे लोग ही है, जिनकी दृष्टि राष्ट्रशिक्षारूपी अंजन से निर्मल की गई है । राष्ट्रशिक्षा के सम्बन्ध में पहले प्रकाश डाला गया है कि राष्ट्र शिक्षा नेत्रों को निर्मल करने की औषध है । इसी से दूरदृष्टि प्राप्त होती

नयनजीवातुभूतं वस्तु तेन "अञ्जिताः"—युक्ताः अञ्जनयुक्तनयना इति भावः। "कार्याणि"—कर्माणि। "आचरन्तः" कुर्वाणाः "नरोत्तमाः" नरेषु—ज्ञानप्रधानयोनिसमुत्पन्नेषु "उत्तमाः" श्रेष्ठाः "इह" अस्मिन् लोके "अमुत्र च" वर्तमानशरीरत्यागानन्तरं प्राप्यमाणो लोकान्तरे च "सौभाग्यम्"—श्रेष्ठभाग्यताम्। "प्राप्नुवन्ति" समधिगच्छन्ति। अयमभिप्रायः—पूर्वस्यां "स्वराष्ट्रशिक्षाम्" (रा. 16) इति कारिकायां स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयात् इत्युक्तं, तत्फलं तदुद्देशश्च प्रतिपादितोऽपि तत्रैव। अनया च पुनः कारिकया ये तां शिक्षामुपयुञ्जते तैर्लभ्यं फलं प्रतिपाद्यते। अयं भावः—बहवः शिक्षामापन्ना अपि आलस्याभिभूता न किमपि कुर्वते, बहवश्च परानेवोपदिशन्ति न स्वयमनुतिष्ठन्ति तान्प्रत्याचरणमुपदिश्यते, तत्फलं च विज्ञाप्यते। विद्या खलु चतुर्धोपयुज्यते, अध्ययनेन, बोधेन, आचरणेन, प्रचारेण च। तत्राऽध्ययनं बोधश्च "स्वराष्ट्रशिक्षाम्" (रा. 16) इत्यनया प्रतिपादितस्तत्फलप्रतिपादनेन साकम्। अनया पुनराचरणं तत्फलं च प्रतिपाद्यते। आचरणमन्तरेण ननु ज्ञानं नैव पवित्रयति पुरुषमिति। अत एव भगवान् मनुरप्याह—

आचारः परमो धर्मःश्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ॥
तस्मादस्मिन् तदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥
(मनु. 1.108) इति।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ॥
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् (मनु. 1.109) इति

है। वस्तु मात्र व्यवहार में कभी निष्क्रिय नहीं रहा। वस्तुओं का यह स्वभाव है कि सब वस्तुएं स्वरस प्रवहणशील होती हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण संकुचित एवं विकसित होता प्रतीत होता है। यह चित् शक्ति के स्वभाव के कारण होता है।

देवदत्त ने अपने हाथ पैर संकुचित कर रखे हैं या फैला रखे हैं, इससे उसके पहचानने में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि वह स्वरसप्रवहणशील है। गीता में अर्जुन को समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

सभी पुरुष कुछ न कुछ करते रहते हैं। करणीय कर्मों का आचरण आवश्यक है, अकरणीय का नहीं। यही इस कारिका का भी कथन है कि करणीय का ही आचरण करना चाहिए। यह नियम विधि है। कार्याचरण पाक्षिक प्राप्ति

अन्यत्राऽप्युच्यते—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इत्यादि। एवं च "सदा" सर्वकाले राष्ट्रशिक्षारूपेणाञ्जनेन सुनिर्मलीकृतदृष्टयः सन्त एवाऽऽचरणेऽधिकारिण इति प्रतिपाद्यते। राष्ट्रशिक्षापूर्वं प्रतिपादिता सा किल नेत्रस्य निर्मलीकरणायौषधमित्युपदिष्टं पूर्वं "दूरदृष्टिः" (रा. 16) इति पदेन तेन अञ्जनेन अञ्जिताः निर्मलदृष्टयः दूरदृष्टयः भूत्वा 'कार्याणि' व्यावहारिककृत्यानि 'आचरन्तः'–अनुतिष्ठन्तः। अत्र 'सदा' इत्यनेन कादाचित्कत्वं परिह्रियते। अयमाशयः–राष्ट्रशिक्षाऽञ्जनाञ्जितत्वं हि सर्वदैवाऽवश्यकम् तद्रहितेन न कदापि भवितव्यमिति 'कार्याणि' इति पदं च कर्तुं योग्यानामेव कर्मणामाचरणे ग्रहणमिति ध्वनयति।'कर्तुं योग्यानि कार्याणि' इति व्युत्पत्तेः। 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (पा. सू. 3.3.169) इति कृत्यप्रत्यय इति। इदमत्र तात्पर्यम्–वस्तुमात्रं हि व्यवहारे निष्क्रियं न जात्वपि स्थातुं शक्नोति। स्वरसप्रवहणशीलमेव सर्वमिति वस्तुस्वभावः। यत्कारणं चिन्मात्रमेतत्सर्वमिति। सङ्कोचं वा विकासं वा गच्छदेव सर्वं प्रतिक्षणं प्रतीयते इति हि चिच्छक्तिस्वभावः। नाऽनेन खलु काऽपि हानिर्निदानस्य परस्य परशिववस्तुनः। सङ्कोचितहस्तपादो वा प्रसारितहस्तपादो वा देवदत्तो भवतु तथाऽपि यथा प्रत्यभिज्ञायत एव स एवाऽयं नाऽन्य इति सर्वदा, स्वरसप्रवहणशील इति। यथा चाऽय निर्णयस्तथा सुनिरूपितः श्रीलात्मविलासे तद्व्याख्यायां च। अत एव हि न केऽप्यत्र विप्रतिपत्तिमवलम्ब्य प्रत्यवस्थातुं शक्नुवते। अत एव च श्रीमद्भगवद्गीतास्वपि पार्थाय प्रति बोधयन् भगवान् वासुदेव एवं प्राह –

स्वरूप है, यह अपूर्व विधि नहीं है। पाक्षिक प्राप्ति में कार्याचरण नियम से किया जाता है। यह जैमिनीय मीमांसा का सिद्धान्त है।

अतः करणीय कर्मों का आचरण अत्यावश्यक है। शिक्षा-ग्रहण मात्र से उतना लाभ नहीं होता, जितना उसके साथ किये गए आचरण से। पूर्ण लाभ तो आचरण के बाद ही होता है। शिक्षा का भी प्रयोजन आचरण ही होता है। यह आचरण पद से सुस्पष्ट हैं। यहा वर्तमान काल के बोधक शतृ प्रत्यय के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि वर्तमान कालिक आचरण ही आवश्यक है। जो लोग यह कहते है कि कल काम करेंगे। कल का भक्षण करते हुए काल ही उन्हें लूट लेता है। अतः वर्तमानकालिक कार्याचरण के बिना एक पल भी नहीं बिताना चाहिए।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पल मात्र में प्रलय हो जाता हैं, कर्म कब किया जाय? राष्ट्रशिक्षा के बिना कार्याकार्य का ज्ञान नहीं हो सकता है।इसका बोध

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। (भ.गी. 3.5) इति

अत एव सर्वोऽपि पुरुषः किमपि नु किमपि कुर्वन्नेव विद्योतते । परं तु स हि कार्यमेव कर्माऽऽचरिष्यति नाऽकार्यं कर्म सर्वदेति न निसर्गः । द्वयस्याऽपि रागतः प्राप्तेः । अतस्तदनया कारिकया नियम्यते यत् कार्याण्येवाऽऽचरेदिति । नियमविधिरयम् । कार्याऽऽचरणं हि पाक्षिकप्राप्तिभूतमिति, नाऽयमपूर्वो विधिः । पाक्षिकप्राप्तौ नियमेन विधीयते कार्याऽऽचरणम् । तल्लक्षणमुक्तं जैमिनीयमीमांसकैः —

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते । इति

कार्याणामपि हि कर्मणामाचरणमत्यावश्यकम् । शिक्षाग्रहणमात्रं हि न तथा लाभमातनुते यथा तत्सहकृतमाचरणम् । पूर्णलाभस्त्वाचरणाऽनन्तरमेव भवति । शिक्षाऽपि नन्वाचरणप्रयोजनेनैव भवतीति बोध्यते 'आचरन्ति' इति पदेन । वर्तमानकाल बोधकशतृप्रत्ययो वर्तमानकालिकमाचरणमेवात्यावश्यकमिति ध्वनयति । ये हि पुनः पुरुषाः 'कार्याणि श्वः करिष्यामः' इति ब्रुवते काल एव हि तेषां फलानि भक्षयन् लुण्ठति तान्। अतो वर्तमानकालं कार्याचरणविरहितं न खलु क्षणमात्रमपि यापयेतेति

'राष्ट्रशिक्षाञ्जनाञ्जिताः' पद से होता हैं । कार्याकार्य के ज्ञान के बिना उन्नति नहीं हो सकती । ज्ञान तो आचार की सहायता मात्र करता है । इस प्रकार उस ज्ञान से ही कार्यकारण भाव की समालोचना करते हुए कार्याकार्य भाव निश्चय करके योग्य करणीय कार्यो का आचरण करना चाहिए ।

जो होने वाला है, वह अवश्य होगा–इसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता है । भविष्य तथा वर्तमान की चिन्ता सभी सचेतन प्राणियों को रहती हैं । भूत और भविष्य महासत्तारूप क्रिया का विलास मात्र है । वर्तमान काल ही सब कुछ है । वही सब का मूल है । वर्तमान काल ही अपनी अव्याहत कलाओं से सम्पूर्ण जगत् को रचता है । वही कल्पित भावों को क्रियाओं से भूत-भविष्य का व्यवहार करता है । वह भविष्य सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट के तारतम्य से सङ्कुचित वर्तमान और भविष्य 'इह' और 'अमुत्र' पदों से व्यक्त किये गए है ।

इस प्रकार सदा वे लोग इस प्रकार आचरणशीलता के फल शोभन भाग्यत्व को प्राप्त करते हैं । शोभनभाग्य (सौभाग्यशाली) उन्हें कहा जाता है, जो आनन्दपूर्ण होते हैं ।

समुपदिश्यते । अत एव च सनातना महर्षयः पदे पदे प्राहुः—

अवन्ध्यं दिवसं कुर्या दानाऽध्ययनकर्मभिः । इति ।

इदमेवाऽधिकृत्य महात्मा कोऽप्युवाच—

श्वः कार्यमद्य कुर्या अद्यारभ्यं च साम्प्रतं कुर्याः ।

पलमात्रेऽपि प्रलयो भवतीति कदा विधाता स्याः ।।इति।

कार्याऽकार्यज्ञानविवेकश्च पुना राष्ट्रशिक्षामन्तरेण न लब्धुं सुशक इत्येतदपि 'राष्ट्रशिक्षाऽञ्जनाऽञ्जिताः' इति पदेन बोध्यते । एवम्भूता एव च 'नरोत्तमा' ज्ञानप्रधानयोनिसमुत्पन्नेषु पुरुषेषु श्रेष्ठतमा भवन्ति युक्तमेवैतत् । समुन्नतिं किल न कार्याऽकार्यज्ञानमात्रं प्रसोष्टुं प्रभवति । आचारसाहाय्यमात्रं खल्वातनुते ज्ञानम् । तदेव तेन ज्ञानेन कार्याऽकार्यभावं कर्मणां कार्यकारणभावसमालोचनपुरः सरं निश्चित्य कर्तुं योग्यान्येव कार्याणि कर्माण्याचारेण सम्भावयेदेवेति बोधितम् । एवमाचारपरायण एव श्रेष्ठतमः पुरुष इति परमर्षिर्भगवान् मनुः प्राह—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ।।
(मनु. 1.96.) इति ।

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः (मनु. 1.97) इति च

अत्र हि ये 'कर्तारः 'इत्युक्तास्त एव कारिकायामस्यां 'आचरन्तः' इत्यनेन पदेन प्रतिपादिताः मन्वादयो महर्षय एवं लक्षणवतां नरोत्तमत्वं प्रतिपादयन्तीति किमु खलु वक्तव्यमन्येषामपि सम्मतमस्मादृशामिति

आनंदपूर्ण उन्हें कहा जाता है, जिन्हें किसी पदार्थ का अभाव न हो । सौभाग्य की प्राप्ति राष्ट्रशिक्षा के अनुरूप कर्म करने वाले लोगों को होती है, मात्र शिक्षा ग्रहण करने वाले, किन्तु आलस्य प्रमादादि कारणों से आचरण न करने वाले अकर्म करने वाले अथवा प्रमाद करने वाले लोगों को नहीं होती । उन्नति की इच्छा मात्र से अथवा उपयोगी शिक्षा ग्रहण करने मात्र से किसी को उन्नति की सम्भावना नहीं होती, अपितु उस शिक्षा के अनुरूप कर्म का आचरण करने से उन्नति होती है ।

राष्ट्र शिक्षा को न प्राप्त किये हुए और अपने-अपने राष्ट्र के कल्याण की कामना करते हुए कार्य किस प्रकार करें ? इसका प्रतिपादन करने की इच्छा से फल बनाते हुए कहते हैं—

ध्वन्यते। एतादृशा नरोत्तमा एव "इह"—अस्मिन् लोके एतच्छरीर-विशिष्टचेतनभोग्ये व्यवहारे। "अमुत्र" एतदन्यभविष्यच्छरीरविशिष्ट-चेतनभोग्यव्यवहारे। अयमाशयः—यत् किल भूतं तद्भूतमेवेति न किल शक्यते परिवर्तयितुं कोप्यऽप्युपायानामिति नाऽत्र चिन्ताविषयतामा-रोहते तत्। तद्यथा वा तथा वा व्यतीतमेव। कार्यकारणभावस्याकल-नाय तु पुनस्तत्प्रभवत्येवेत्यन्यदेतत्। भविष्यद्वर्तमानविषयिणी चिन्ता खलु पुनः सर्वेषामपि सचेतनानां बुद्धिजीविनां स्वाभाविकीति तु सम्भव-त्येव सा। तत्र सन्निकृष्टं भविष्यदेव वर्तमानमिति पर्यान्तरमात्रेण बोध्यते। तदेवाऽत्र सन्निकृष्टवाचकेन "इह" इति पदेन बोध्यते। विप्र-कृष्टं भविष्यदेव भविष्यदिति व्यवह्रियते तदेव चाऽत्र ":अमुत्र" इति पदेन बोधितम्। इदमदसौ क्रमेण सन्निकृष्टविप्रकृष्टवाचकौ भवत इति शक्तिग्राहकेण कोशादिना व्यवस्थाप्यते इति ज्ञातमेवाऽऽस्ते। तदुक्तम-भियुक्तैः:—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान—
कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ॥
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा ॥इति॥

अदसो विप्रकृष्टवाचकताया अनुग्राहकः कोशश्चैवं भवति। तथाहि—

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥इति॥

भूतं भावि च महासत्तारूपक्रियाया विलासमात्रमिति वर्तमानकाल एव सर्वमिति सिद्धाचारसम्प्रदायैकगम्यं रहस्यमिति नोद्घाटयितुं युज्य-तेऽत्र। स्वगुरुराजचरणारविन्दसेवासमधिगम्यमेव तद्रहस्यमिति। कल्पितभावानां क्रमाऽवभासक एव ननु कालपदार्थः स च सर्वदा समस्त्येव। 'भूतमस्ति' 'भविष्यदस्ति' 'त्रयः कालाः सन्ति' इत्यादयः प्रयोगा अपि ध्वनयन्ति। नन्वेतदेव यत्—सर्वेषां मूलं वर्तमान एवाऽऽस्ते। वर्तमान काल एव सर्वमपि स्वकीयाभिरव्याहताभिः कलाभिः सर्वमपि जगत् कलयतीति। उक्तमपि—

अनादिरेष भगवान् कालोऽनन्तोऽजरोऽमरः।
सर्वगत्वात्स्वतन्त्रत्वात् सर्वात्मत्वान्महेश्वरः॥इति।

तत्रैव हि कल्पितभावानां क्रियाभिः भूतं भविष्यदिति व्यवह्रियते। तदेव भविष्यत् सन्निकृष्टविप्रकृष्टतारतम्येन सङ्कुचितवर्तमान-

भविष्यती चेहाऽमुत्रेति गीयेते इत्यलमस्त्वप्रस्तुतचर्चया । एवं च सर्वस्मिन्नपि काले ते नरा एतादृगाचरणशीलभावस्य फलं "सौभाग्यम्"–शोभनभाग्यवत्त्वम् । 'प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भाव' इति नियमात् । अयं भावः—गन्धवत्त्वं, गन्धः इति च नाऽर्थान्तरम् । यथा गन्धः विद्यते यत्र सा गन्धवती, तस्या भावो गन्ध एवेति । शोभनभाग्याः खलु ते कथ्यन्ते ये सर्वदाऽऽनन्दपूर्णा भवन्ति । आनन्दपूर्णाश्च पुनस्त एव भवितुमर्हन्ति येषामभ्यर्णे नाऽस्ति कस्यापि पदार्थ स्याऽभावः । पूर्वस्यां 'स्वराष्ट्र' (रा. 16) इत्यस्यां कारिकायामविषादः फलमुक्तम् । ततोऽप्यधिकमिदमुन्नतं फलं परां काष्ठामापन्नं शोभनभाग्यवत्त्वं नाम । शोभनस्याचरणस्य हन्त फलमपि खल्वेतादृगेव भवितुमर्हति । अतएव कुन्त्या द्रौपद्या आशीर्वादो दत्त आसीत्—

भाग्यवन्तं प्रसूयेथा मा शूरं मा च पण्डितम् ।
शूराश्च कृतविद्याश्च वने सीदन्ति मे सुताः ।।इति ।

"प्राप्नुवन्ति"—समधिगच्छन्ति । एवं च सौभाग्यप्राप्तिः खलु सर्वदा राष्ट्रशिक्षाञ्जनाऽञ्जितानां कर्तुं योग्यानि कर्माण्याचरतामेव सचेतसां भवति न पुनः केवलं गृहीतशिक्षाणामप्यालस्यप्रमादादिकारणैराचाराऽतत्पराणाम्, अकार्याण्याचरतां वा प्रमाद्यतां वा भवति । अत एव श्रौतासूपनिषत्स्वपि श्रूयते—

नाऽविरतो दुश्चरितान्नाऽशान्तो नाऽसमाहितः ।।
नाऽशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।इति ।

अत एव च नयविदोऽपि वदन्ति—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।।
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं वाञ्छति वासहेतोः ।।इति ।

आलस्यादिदोषवन्तो ये पुनः न कार्याण्याचरन्ति ते कथमेतत्सौभाग्यरूपं फलं प्राप्नुवीरन् । अत एव सुष्ठूक्तं केनाऽपि—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।इति ।

एवं च समुन्नतिचिकीर्षामात्रेण वा तदुपयोगिशिक्षाग्रहणमात्रेण वा समुन्नतिर्न खलु सम्भावयितुं शक्या किंतु तच्छिक्षामनुरुद्ध्य कार्य-

कर्मणामाचरणेनैव समुन्नतिर्भवतीति बोधितम् । अलमनेनाऽधिकमग्रे विवेचयिष्यते ।।17।।

एवं राष्ट्रियाणां 'राष्ट्रस्योत्थानपतने' (रा. 15) इत्यनया कारिकया अवश्यशिक्षणीयत्वं प्रतिपाद्य समुन्नतिं चिकीर्षु रार्याः 'स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयात्' (रा. 16) इत्यनया च कारिकया, फलप्रदर्शनपुरस्कारेण स्वराष्ट्र-शिक्षाग्रहणं प्रतिपाद्य, तच्छिक्षाऽनुकूलं चाऽऽचरन्नेव परं फलं सौभाग्यरूपं समुन्नतिरूपं, 'सदाचरन्तः' (रा. 17) इत्यनया कारिकया च प्रतिपाद्य, सम्प्रत्यगृहीतराष्ट्रशिक्षाः स्वस्वस्वराष्ट्रस्य च कल्याणं कामयमानाः कथं कर्माणि कुर्वीरन्निति प्रतिपिपादयिषुः सफलं तत्समुपदिशन्नाह--

राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान् पुरुषानवलम्ब्य ये ।।
समाचरन्ति कार्याणि दुःखान्तं यान्ति तेऽपि वै ।।18।।

[जो लोग राष्ट्रियज्ञानसम्पन्न पुरुषों का आश्रय ले कर कार्यों को अच्छी प्रकार करते हैं, उनका भी दुःख अवश्य ही नष्ट हो जाता है ।।18।।]

[ये--राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान्--पुरुषान्--अवलम्ब्य--कार्याणि--समाचरन्ति--ते--अपि-दुःखान्तं--यान्ति--वै । इति पदयोजनिका ।]

राष्ट्रियेति । "ये"-- अमेधावितया वा आलस्यवत्तया वा अकष्टसहिष्णुतया वा शरीरस्य रुग्णतया वा न शक्नुवन्ति शिक्षां ग्रहीतुमित्यगृहीतशिक्षाः पुरुषाः राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान्"--"राष्ट्रे--निर्वर्णितलक्षणे "जातं"--उत्पन्नं यत् "ज्ञानं"--शिक्षा तेन सम्पन्नाः--सम्यक् प्राप्तबोधाः तान् । चतुर्विधसम्बन्धवन्तो राष्ट्रे ये राष्ट्रियाः तेषां ज्ञानं तेन सम्पन्नांश्च "पुरुषान्"--नरोत्तमान् "अवलम्ब्य"--आश्रित्य 'कार्याणि"--कर्तुं योग्यानि कर्माणि "समाचरन्ति"--सम्यगाचरन्ति

कारिका--18

मेधावी न होने के कारण, आलसी होने के कारण, कष्ट सहन न कर सकने के कारण, अथवा शरीर के रुग्ण होने के कारण जो शिक्षा-ग्रहण नहीं कर सकते है, ऐसे चतुर्विध सम्बन्ध वाले जो राष्ट्रिय पुरुष राष्ट्र में रहते हैं, ऐसे पुरुषों का लेकर जो करणीय कर्मो का भली भांति आचरण करते हैं--ऐसे पुरुषों का दुःख निश्चय ही नाश हो जाता है ।

इस कारिका का अभिप्राय है कि जिन्होंने स्वराष्ट् की शिक्षा तो प्राप्त की किन्तु मेवावी न होने के कारण वे उसे भूल गये अथवा मेवावी न होने के कारण

"ते अपि"—तादृशाः पुरुषा अपि "दुःखान्तं"—दुःखनाशं "यान्ति"—प्राप्नुवन्ति "वै"—निश्चयेन ।

अयमभिप्रायः—यैः किल स्वराष्ट्रशिक्षाप्राप्ता परन्त्वमेधावितया तैः सा विस्मृता, अथवा अमेधावितयैव स्वाध्यायस्य समये एव न सम्यक् प्रतिबुद्धा अथवा निर्धनतया शिक्षकाभावेन वा न प्राप्ता स्वराष्ट्रशिक्षा तैः नानाविधेनाऽन्यान्येन वा कारणेन न प्राप्ता स्वराष्ट्रशिक्षा पुनर्दैवप्रेरणयैव जातु राष्ट्रदुःखानि वीक्षितानि, तत्प्रतीकाराय च ते तथाविधा अगृहीतराष्ट्रशिक्षाः पुरुषाः किं नु खलु कार्यं कर्माऽनुतिष्ठन्तु ? अगृहीतशिक्षा इत्येव च कार्याऽकार्यं निर्णयं विधातुं न पारयन्तीमे, दुःखं च हातुं प्रायतत एव सर्वोऽपि लोकः प्रकृत्यैवेति विधिसर्गनिसर्ग इति समालोच्य तान् प्रति तेषां कर्माणि कार्याणि कानीत्युपदिशति राष्ट्रियेति । शिक्षां किल कृत्स्नोऽपि लोको, लब्धुं पारयत्येवेति न शक्यते वक्तुम् । कार्योत्पत्तिं प्रति कारणसामग्र्या एव कारणभाव इति हि सर्वेऽपि पण्डितप्रकाण्डा अनुमन्यन्ते । येषां चोपकण्ठं यावती च कारणसामग्री समुपस्थास्यति तावत्या च कुर्वाणास्ते कार्याणि न पूर्णां कार्यसिद्धिं समासादयितुं प्रभवन्ति । पूर्णकार्यसिद्ध्यै च पूर्णामेव सामग्री समपेक्षन्ते इति खलु विधेर्विधानम् । नाऽत्र हि केऽपि नाम विप्रतिपन्नभावालम्बनेन प्रत्यवस्थातुं समुत्सहन्ते । शिक्षायां च हि कारण-सामग्रीं त्वियमुपदिश्यते विद्वत्तल्लजैः [आचार्यपुस्तकनिवाससहायभिक्षा (बाह्यास्तु पञ्च पठनाय हिता भवन्ति) आरोग्यबुद्धिपटुतोद्यमशास्त्ररागाः (पञ्चान्तराः पठनवृद्धिकरा भवन्ति) [।।इति।। अतस्ते कथं कर्माणि कुर्युरित्युपदेष्टव्यमत्र । ये नन्वप्राप्तस्वराष्ट्रशिक्षाः पुरुषास्ते राष्ट्रियज्ञान-

---

स्वाध्याय के समय उस राष्ट्रीय-शिक्षा को अच्छी प्रकार न जान पाये, अथवा निर्धनता या शिक्षकों के अभाव में या दूसरे अन्य अनेक उपायों से स्वराष्ट्रशिक्षा प्राप्त नहीं की । यदि उन्होंने दैवप्रेरणा से राष्ट्र-दुःख देखे। तो उसके प्रतीकार के लिए वे पुरुष क्या कार्य करेंगे ? जिन्होंने शिक्षा ग्रहण नहीं की, वे कार्याकार्य का क्या विचार कर सकते हैं ?

सभी लोगों की प्रवृत्ति होती है कि उन्हें दुःख को प्राप्ति न हो । अतः इस कारिका में उन्हें करणीय कार्यों को करने का उपदेश दिया गया है । यह नहीं कहा जा सकता कि संसार के सभी विद्वान् यह मानते हैं कि कार्योत्पत्ति के कारण सामग्री का ही कारणभाव होता है । जिनके पास जितनी कारण-सामग्री होती है,

सम्पन्नान् पुरुषानवलम्ब्य कार्याणि कर्माणि समाचरन्ति, तेऽपि दुःखान्तं निश्चयेन यान्ति । इदमत्राऽऽकूतम्--दुःखनाशं किल समस्तोऽपि जीवलोक एष वाञ्छत्येवेति स्वभाव एव । गृहीतशिक्षा वा अगृहीतशिक्षा वा भवन्तु नाम मानवा अथाऽपि दुःखनाशाय तु प्रयतन्त एव हि सर्वेऽपि खल्विति प्रत्यहं दर्शनगोचर एव । तत्र सम्प्राप्तशिक्षाः पुनर्जानन्ति दुःखनाशोपायम् । दुःखनाशोपायश्च स्वराष्ट्रशिक्षैवेति निरुक्तमेव पूर्वं "स्वराष्ट्रशिक्षाम्" (रा. 16) इत्यस्यां कारिकायाम् स खलूपायो नाऽस्ति सविधे येषां तेषां कृतेऽयमुपाय उपदिश्यते--यद् राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नपुरुषाणामवलम्बनमिति । "राष्ट्रे"—पूर्वोक्तलक्षणलक्षिते जातम्--उत्पन्नं यत् ज्ञानं तेन सम्यक्--उत्तमप्रकारेण "पन्नाः--प्राप्ताः सर्वतो भावेन स्वात्मसम्बोधं प्राप्ताः तान् ।

अयमाशयः--सर्वोऽपि स्वकल्याणाऽऽकाङ्क्षी जनः स्वकल्याणमधिकप्रेमास्पदतया जानातीति निसर्ग एव । यथा हि स्वयमात्महिताऽहितं जानाति पुरुषस्तथा न परो ज्ञातुं शक्नोतीत्यप्युत्सर्ग एव । अत एव विज्ञदोषज्ञानां चिकित्सकानामयं सिद्धान्तः, यत्--

---

वे उतना ही कार्य करतें है । पूर्ण कार्यसिद्धि हेतु कार्य करने के लिए प्रयास नहीं करते हैं । पूर्ण कार्यसिद्धि के लिए पूर्ण कारण सामग्री की अपेक्षा होती है । यही विधि का विधान है । विद्वानों ने शिक्षा में कारण-सामग्री बताई है–आचार्य, पुस्तक, निवास, सहाय और शिक्षा–यह सामग्री बाह्य पठन में हितकारी है । आरोग्य, बुद्धि, पटुता, उद्यम, शास्त्र से प्रेम–यह आन्तरिक सामग्री पठन में वृद्धि करती है । जिन्होंने स्वराष्ट्र की शिक्षा प्राप्त नहीं की, वे राष्ट्रिय-ज्ञानयुक्त पुरुषों का आश्रय लेकर करणीय कर्म करें, तो उनके भी दुःख का नाश होगा ।

दुःख का नाश हो–यह सम्पूर्ण जीवलोक चाहता हैं । शिक्षित हो, चाहे अशिक्षित हो, दुःखनाश के लिए सभी प्रयत्न करते हैं । जो शिक्षित हैं, वे दुःखनाश का उपाय जानते ही है । दुःख का नाश राष्ट्रिय-शिक्षा से ही हो सकता है । जिनके पास वह उपाय नहीं है, उन्हें कहा गया है कि वे राष्ट्रिय ज्ञान से सम्पन्न पुरुषों का आश्रय ले ।

अपने कल्याण के इच्छुक सभी लोग अपने कल्याण को भली प्रकार जानते हैं । आत्महित एवं अहित को पुरुष स्वयं जितना जानता है, उतना दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता है ।

अतः दोषों की परीक्षा करने वाले चिकित्सकों का यह सिद्धान्त है कि जो प्राणी जिस देश में उत्पन्न होता है, उसके लिए तद्देशज औषधि ही हितकर

यद्देशजो भवेज्जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् ।।इति।।

एवमेव यस्मिन् राष्ट्रे ये चतुर्विधेनाऽपि सम्बन्धेन सम्बद्धास्तेषां हितमपि तद्राष्ट्रज्ञानेनैव भवतीत्यपि निर्विवादमेव एतेन तेषामवलम्बनमवश्यमेव दुःखान्तकरमिति दृढतया बोध्यते । अतएव तेन ज्ञानेन निर्मलमन्तःकरणं येषां सम्पन्नं ते सर्वत उत्तममात्मबोधं प्राप्नुवन्तीत्यप्यविसंवादमेव । इदमप्याकलनीयमत्र—राष्ट्रे जाता राष्ट्रियाः पुरुषास्तेषां ज्ञानं कर्मणि षष्ठी, ततः षष्ठी तत्पुरुषः । एतेन च राष्ट्रविषयकं समस्तमपि ज्ञानमत्र सङ्गृहीतम् । यथा च तत्—राष्ट्रियाः कथं शिक्षणीयाः, राष्ट्रियाः कथं परीक्ष्याः, राष्ट्रियाः कथं केषु कार्येषु विनियोज्याः. कथं दण्डनीयाः, कथमनुग्राह्याः, किं तेषां हितं, किमहितम्, इत्यादि समस्तमपि राष्ट्रियज्ञानम् । तेन ये "सम्पन्नाः"—सहिताः । सम्पन्नपदं च सूक्ष्माऽतिसूक्ष्मज्ञानेनाऽपि साहित्यमपेक्षणीयमत्रेति बोधयति । अपि च कर्तरि षष्ठीमाश्रित्याऽपि व्याख्येयमेतत् । तेन राष्ट्रियाणां—राष्ट्र चतु-

---

होती है । इस प्रकार जिस राष्ट्र में जो जन चतुर्विध सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं, उनका हित भी राष्ट्रज्ञान से ही होता है । अतः उनका आश्रय लेना अवश्य दुःखनाशक होगा । ज्ञान से जिनका अन्तःकरण निर्मल हो चुका है, वे ही उत्तम आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं । राष्ट्रिय-शिक्षा से प्रबुद्ध व्यक्तियों के सम्पर्क से मानवों में स्वातन्त्र्यादि गुणों का विकास होता है । ऐसे पुरुषों के सम्पर्क से अवश्य ही दुःख का नाश होगा ।

ऐस पुरुषों का अवलम्बन लेने से क्या तात्पर्य है ? क्या ऐसे पुरुषों का चरण-वन्दन किया जाय ? अथवा बार-बार उनके मुख का दर्शन किया जाय ? अथवा उनके शरीर-सौन्दर्य या स्वर माधुर्य का निरूपण किया जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि उद्यम के बिना कुछ भी फल प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिए पुनः पुनः कहा जाता है कि दुःख के नाश के लिए करने योग्य कर्म करने चाहिए । कार्य करने का निर्णय भी राष्ट्रिय-ज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों के परामर्श से ही करना चाहिए । वे जैसा कुछ करने का उपदेश दें, वैसा आचरण करना चाहिए । तभी कार्यों का अच्छा फल प्राप्त होगा । इसीलिए उपनिषद् में कहा है–"यान्यस्माकं सुचरितानि" इस वाक्य में शोभन आचरण का अनुकरण किया गया है, तथा अशोभन आचरण का प्रतिषेध (निषेध) किया गया है । क्या ज्ञानी पुरुष भी अशुभ आचरण करते हैं ? हां करते हैं । भावी तथा दुर्दैव बलवान् होता है । बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी अशोभन आचरण कर चुके हैं । उन्हें इसका दुष्परिणाम भी

विधसम्बन्धिनां यत्सम्पाद्यं ज्ञानं तेन ये सम्प्रबुद्धाः इत्यर्थो लभ्यते। एतादृशान् पुरुषानवलम्ब्य मानवेषु स्वातन्त्र्यविकासस्य पुञ्जातीयेष्वेवाऽऽधिक्यदर्शनात्। "पुरुषान्" इति पदं प्रियस्वातन्त्र्यत्व—धैर्यवत्त्व—वीरत्व-निर्भयत्वाद्यनेकगुणवत्तां बोधयति। तेन चैतादृशां पुरुषाणामाश्रयेणाऽवश्यं दुःखस्यान्तो भविष्यतीति ध्वन्यते। एवं चैतादृशपुरुषानवलम्बेरन् दुःखनाशाय पुरुषाः सर्वे इति बोध्यते। ननु च भोः! किं नाम तेषामवलम्बनम्? तेषां सहस्रशश्चरणवन्दनं वा, वारं वारं तेषां मुखावलोकनं वा, वारं वारं तेषां नाम जयोद्घोषणं वा, तेषां शरीरसौन्दर्यवर्णनं वा, स्वरमाधुर्यनिरूपणं वा, आहोस्विदन्यत् किञ्चित् तत् इत्यत आह–कार्याणि समाचरन्तीति। अयं भावः—उद्यममन्तरेण तु न किमपि फलमाप्यते। अन्तरा ह्युद्यमं न खलु किमपि फलं प्राप्तुं शक्यते इति तु निर्बाधमेवेति दुःखनाशाय कर्तुं योग्यानि कर्माणि समाचरितव्यानीत्युपदिश्यते। अयमाशयः–कार्यविचारनिर्णयः खलु राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नपुरुषानवलम्ब्य कार्यः। तेन ते खलु यदेव कर्तुमुपदिशन्ति तदेवाचरेयुः। तदपि 'सम्यक्' इति समाचरन्ति इति पदेन बोध्यते आचरणे सम्यक्त्वं च सर्वथा तथाविधपुरुषोपदेशाऽविसंवाद एवाऽऽचरणे। अथ चात्रेदमपि बोध्यम्, स्वस्वराष्ट्रशिक्षातारतम्येन राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नपुरुषानवलम्ब्य तदाचरितान्यपि कार्याणि सुपरिणतफलानीति सम्यगालोच्य समाचरेयुः। न पुनर्हतदैवतया दैवप्रेरणयाऽऽचरितानि कुपरिणतफलानि कर्माण्यपीति। अतएवोपनिषत्सूपदिश्यत एवम्—

"यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।"

ज्ञानिपुरुषावलम्बनमप्युपदिष्टं तत्रैव यथा—"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र तेषु। वर्तेथाः एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्।" इति। अत्र स्पष्टमेव शोभनाऽऽचाराऽनुकरणं विहितम् प्रतिषिद्धं च अशोभनाऽऽचरणम्। ननु महतां ज्ञानिनामपि किमशुभाचरणं भवति? आं भवति, दुर्दैवतया भाविनो बलवत्तया इति ब्रूमः। किं न श्रुतं भवता

भोगना पड़ा है। रावण, राम, युधिष्ठिर आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण रहे हैं।

अतः कार्य के अनुकरण में अतीव सावधानी अपेक्षित है। जो श्रेष्ठ व्यक्तियों के परामर्श से कार्य करते हैं, उनके वर्तमान दुःख अवश्य नष्ट होते है। इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण से भविष्य में दुःख उत्पन्न नहीं होते हैं।

यत्सर्वैरपि हतदेवैर्भाविप्रैरितैर्ज्ञानवद्भिरप्यशोभनान्याऽचरितानि भुक्तश्च दुष्टः परिणाम इति । श्रूयतां तर्हि—

पौलस्त्यः कथमन्यदारहरणे दोषं न विज्ञातवान्
रामेणाऽपि कथं न हेमहरिणस्याऽसम्भवो लक्षितः ।
अक्षैश्चाऽपि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थः कथं
प्रत्यासन्न विपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते ।।इति ।

अत एवाऽन्यत्राऽप्युक्तम्—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ।।इति ।

एवं च कार्याऽनुकरणेऽतीव सावधानताऽऽवश्यिकेति बोध्यते । इत्थं च येऽवलम्ब्यैतादृशान् पुरुषान् कार्याणि कर्माणि समाचरन्ति ते निश्चयेन दुःखस्य सर्वविधस्यापि नाशं प्राप्नुवन्तीति निश्चयः । अपिना दुःखान्तकरणे उपायान्तरमेतदिति सूचितम् । अयं भावः—शक्तानां प्राथमिकः कल्पः स्वराष्ट्रशिक्षाग्रहणपूर्वकं तदनुकूलं कार्यकर्माऽऽचरणं पूर्वमुपदिष्टम् । अशक्तानामनुकल्पोऽयं यत् राष्ट्रिज्ञानसम्पन्न-पुरुषाऽवलम्बनपूर्वकं कार्यसमाचरणम् । सर्वथापि फलसिद्धिः पुनः कार्याऽऽचरणाधीनैवेत्यप्युपदिष्टमेव । यान्तीति वर्त्तमानकालिकप्रयोगेन वर्त्तमानदुःखानामपि ध्वंसोऽवश्यमेव भवतीति ध्वन्यते । भविष्यदुखा-नां चैतत्समाचरणेनाऽनुत्पादो ध्वन्यते । "वै" इति यथासम्भवं सर्वत्रैव सम्बध्यते । यथा ये—(वै) निश्चयेन राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान् पुरुषान् "वै" निश्चयेनाऽवलब्य निश्चयेन कार्याणि समाचरन्ति, तेऽपि निश्चयेन दुखान्तं यान्ति इति निश्चयो विदुषामिति व्याख्येयम् । अयमभिप्रायः—पूर्वं हि एते पुरुषा राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नाः सन्ति इति निश्चय आवश्यकः, अनन्तरं च 'एषामवलम्बनेनाऽवश्यमेव दुःखान्तो भविष्यति' इति निश्चय आवश्यकः । अथ चैतानि कार्याण्यवश्यमेव मद्दुःखनाश-नानि इति निश्चयः कार्यः । तेऽवश्यमेव निश्चयेन दुःखान्तं यान्ति इति निश्चयो विदुषामिति । एषु सर्वेष्वपि निश्चयेषु एते राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नाः पुरुषाश्च इति निश्चयो मूलमित्यतीवाश्यक इत्यलम् ।।18।।

ऐसे श्रेष्ठ पुरुष राष्ट्रीय-ज्ञान से युक्त हैं–इसका निश्चय पहले कर लेना चाहिए । बाद में इनके आश्रय से अवश्य दुःख का नाश होगा ।

राष्ट्रिय ज्ञान से हीन और राष्ट्रवासियों से द्वेष करने वाले का पतन अवश्यम्भावी है—

स्वसमुन्नतिं सिषाधयिषवः खलु तदाचरणज्ञानसम्पत्तिमेषामपेक्षन्त एव। तच्च ज्ञानं सम्पादयितुमृते स्वराष्ट्रशिक्षासम्पन्नभावान्नान्यत्किमपि प्रभवतीति सर्वतोऽधिकतयाऽऽवश्यकतामर्हति स एवेति, 'स्वराष्ट्रशिक्षाम्' (रा 16) इत्यनया कारिकया बोधितम्। 'राष्ट्रियज्ञान' (रा. 18) इत्यनया च कारिकया स्वराष्ट्रशिक्षाप्राप्तान् राष्ट्रियपुरुषानवलम्ब्य कार्याण्यचारतामपि दुःखनाशो भवतीति प्रतिपादितम्। मध्ये च 'सदाऽऽचरन्तः' (रा. 17) इत्यनया कारिकया स्वराष्ट्रशिक्षाऽनुकूलाचरणेन कार्याणां कर्मणामिहाऽमुत्र च समस्तानामपि फलानामुत्तमं फलं सौभाग्यं प्राप्यत इति कथितं, यदेव फलं खलु सर्वैरपि जीवजातैरभिलष्यते। अथेदानीं येषां राष्ट्रियज्ञानं नाऽस्ति, अथ च राष्ट्रियाणां विद्विषन्ति तेषां पतनाऽतिरिक्तं न किमपि फलमित्युपदिशन्नाह —

राष्ट्रियज्ञानहीनानां राष्ट्रियद्वेषिणां तथा।।
गर्त्तपातं विहायैकं न किञ्चिदपि विद्यते ।।19।।

[राष्ट्रियज्ञान से हीन तथा राष्ट्रियों के साथ द्वेष करने वालों को गढ़े में गिरना छोड़कर और कुछ भी लाभ नहीं होता ।।19।।

(राष्ट्रियेति । राष्ट्रियज्ञानहीनानां तथा—राष्ट्रिय द्वेषिणां—एकं—गर्त्तपातं—विहाय—किंचित्—अपि—न—विद्यते । इति पदयोजनिका।)

कारिका–19

जो लोग स्वयं राष्ट्रिय ज्ञान (स्वराष्ट्रज्ञान तथा स्वराष्ट्रज पुरुष ज्ञान) हीन होते हुए भी कल्याण की आकांक्षा करते हैं तथा राष्ट्रिय-लोगों से द्वेष करते हैं, वे अवश्य गर्त में गिर जाते हैं। वही उनका भोग्य होता है। यह उपदेश राज्यवासियों के लिए भी ज्ञातव्य हैं। गर्त निम्न प्रदेश में होता है। यह परतन्त्रता रूपी गर्त हैं। उससे गिर जाने पर निकल पाना कठिन है। ऐसे लोग इसमें गिरने का फल अवश्य प्राप्त करते हैं। विरुद्ध या अविरुद्ध कोई भी क्रिया हो, कुछ न कुछ फल मिलेगा ही।

इसीलिए आचार्यों ने स्वराष्ट्रशिक्षा को सांगोपांग ग्रहण करने का उपदेश दिया है। विरुद्ध क्रिया विरुद्ध फल को जन्म देती हैं। अनुकूल क्रिया अनुकुल फल को जन्म देती है। यदि कोई गर्तपात रूपी फल को प्राप्त करना चाहे, तो समझना चाहिए कि उसमें राष्ट्रिय ज्ञान नहीं है और राष्ट्रिय ज्ञान से सम्पन्न पुरुषों से द्वेष करता है।

('राष्ट्रियज्ञानहीनानाम्'—राष्ट्रं राष्ट्रियज्ञानं चोक्तं पूर्वम्। तेन हीनाः–रहिताः 'तथा'–अपि च 'राष्ट्रियद्वेषिणाम्'–राष्ट्रजविरोधिनः तेषां,'एकं' केवलं 'गर्त्तपातं'–गर्ते-निम्नदेशे पातः–पतनं 'विहाय' त्यक्त्वा 'किंचिदपि'– अन्यत् किमपि 'न विद्यते'—न वर्तते। प्रापणीयं फलमिति शेषः।

अयमत्राशयः–ये किल स्वयं राष्ट्रियज्ञानहीना अपि कल्याणाऽऽकाङ्-क्षिणो भवन्ति, अथ च राष्ट्रियाणां द्वेषं चाचरन्ति, ते हि गर्तेऽवश्यमेव पतन्ति, तदेवैक तेषां भोग्यं वर्तते, नऽन्यत् किंचिदपि। अयमुपदेशः खलु राज्यवादिनामपि कृते ज्ञेयः। एवमनेनेदं बोध्यते–केनाऽपि वा निमित्तेन खलु स्वराष्ट्रज्ञानं स्वराष्ट्रजपुरुषज्ञानं च यैर्नार्जितं ते खलु स्वकल्याणा-ऽऽकाङ्क्षिणश्चेत् किं कुर्वीरन्? इत्यतस्तेषां कृते स्वकल्याणसाधनाय राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नपुरुषावलम्बनमुपदिष्टम्। परं यदि ते तथा अकृत्वा 'राष्ट्रियान्' राष्ट्रे जातं राष्ट्रियं—राष्ट्रज्ञानं तदस्ति येषां पुरुषाणां ते राष्ट्रियाः। अर्श आदित्वान्मत्वर्थेऽच् प्रत्ययः। राष्ट्रियज्ञानसम्पन्न-पुरुषा इति यावत्। तान् विद्विषन्ति, द्वेष्टुं शीलं येषां वा। तादृशा भवन्ति। राष्ट्रियाणां द्वेषः—वैरं अस्ति येषां ते तादृशा वा भवन्ति। शत्रुत्वं स्वाभाविकं यत्किञ्चिन्निमित्तकं वा भवतु, तेषाम् सम्बन्ध सामान्ये षष्ठीयम्। अथवा 'कृते' इत्यध्याहार्यं व्याख्येयम्। एतादृशानां कृते एकमेव फलं वर्तते गर्त्तपातरूपम्। भुवि यो निम्नप्रदेशो भवति यस्मादुत्थानमेवातिकठिनं भवति। तस्मिन्पातः पतनम्। अत्र खलु पार-तन्त्र्यरूपो गर्त्तः। तस्मिन्पतनरूपमेकं फलमेतादृशा अवश्यमेव प्राप्नु-वन्ति। ऐतदेकं फलं विहाय अन्यत्किञ्चित् अपि कीदृगपि धर्मार्थकाम-मोक्षेति चतुर्विधेष्वन्यतमत् किमपि फलं नास्ति। या काऽपि क्रिया विरुद्धा वाऽविरुद्धा वा भवतु, फलं तु किंचिज्जनयिष्यत्येवेति स्वभावः क्रियात्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य। यदेव फलमुद्दिश्य यैव क्रिया साङ्गो-पाङ्गा तदनुभवशालिभिः तत्तत्कार्यकारणमर्मविद्भिः अनुष्ठेयतया प्रति-ज्ञायते सैवाऽविसंवादेनाऽनुष्ठिता सत्येव तत्फलमपि पूर्णतया प्रसूते इति

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं – भद्रनीतिप्रधान तथा अभद्रनीतिप्रधान। आर्यों को भद्रनीति प्रधान माना जाता हे। ये दो प्रकार के हैं, आदर्श राष्ट्रवादी तथा आदर्श राज्यवादी। अनार्य अभद्रनीति प्रधान होते हैं। ये भी दो प्रकार के होते है राज्यवादी तथा राष्ट्रवादी आदर्श राज्यवादियों की नीति चिरकालिक और

विश्वेषां विदुषां विदिततम् । एवं यैव च क्रिया यदेव फलमुद्दिश्याऽनुभवशालिभिरननुष्ठेयतया प्रतिज्ञायते सैव निषिद्धा क्रियाऽनुष्ठिता चेत्तत्फलमवश्यमेवाभिलषितफलं प्रति व्यभिचरतीति सिद्धान्तः । स्वोन्नतिफलप्राप्त्यै खलु 'स्वराष्ट्रशिक्षान्तम्' (रा. 17) इत्यनया कारिकया आचार्यः स्वराष्ट्रशिक्षां साङ्गोपाङ्गां समनुष्ठेयतया प्रत्यपीपदत् । अतः खलु सैव स्वसमुन्नतिरूपं फलमुत्पादयितुं प्रभवति नाऽन्या निषिद्धा । अथ च सर्वश्रेष्ठं शोभनभाग्यवत्त्वरूपफलमुद्दिश्य, स्वराष्ट्रशिक्षाऽनुकूलं सर्वदा कार्याऽऽचरणं प्रतिज्ञातम् 'तद्विरुद्धा हि क्रिया स्वराष्ट्रशिक्षाया अग्रहणम्, अथ च स्वराष्ट्रशिक्षासम्पन्नता द्रोहश्चेति सा विरुद्धा क्रिया कथमनुकूलं फलं जनयितुं सम्पद्येत । अथ च विरुद्धा क्रिया विरुद्धं फलं तु जनमत्येवेति निसर्गस्ततस्तदपि निरूपणीयमेवेति स्वराष्ट्रशिक्षाया अग्रहणं तत्सम्पन्नानां द्रोहश्चाऽत्र गर्तपातरूपं फलमेकमवश्यं प्रसूते इति निरूपितम् । एतेन गर्तपातरूपं फलं यदि केऽपि नाम वाञ्छेयुस्त एव राष्ट्रियज्ञानहीना भवन्तु । अथ च राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान् पुरुषान् विद्विषन्तु नामेति बोधितम् । न खलु कश्चिदपि प्रकृतिस्थश्चेतनो गर्तपातमभिवाञ्छन् लोके दृष्ट इति ज्ञानहीनता ज्ञानसम्पन्नद्वेषणं च निषिध्यते समुन्नतिरूपं फलमुद्दिश्येत्यन्यदेतत् । एतेनाऽऽदर्शराज्यवादिनोऽपि राष्ट्रियज्ञानहीना अभविष्यंश्चेत् राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान् अद्विषिष्यन् वा गर्तपात रूपफलमवश्यमभोक्ष्यन् इत्यपि बोध्यमेव । अत्रेदं बोध्यम्—मनुष्यास्तावद्द्विविधाः—भद्रनीतिप्रधाना अभद्रनीतिप्रधानाश्चेति । तत्र भद्रनीतिप्रधाना एव आर्या इति व्यपदिश्यन्ते । एतेऽपि द्विविधाः आदर्शराष्ट्रवादिनः आदर्शराज्यवादिनश्चेति । अभद्रनीतिप्रधाना अनार्या भवन्ति । एतेऽपि द्विविधाः राज्यवादिनो राष्ट्रवादिनस्चेति । तत्राऽऽदर्शराज्यवादिनां नीतिः खलु न चिरकालिकां समुन्नतिव्यवस्थां स्थापयितुं

समुन्नति व्यवस्था के स्थापित करने में समर्थ नहीं होती । आदर्शराष्ट्रवादियों की नीति ही सुनीति कहलाती है, जो निखिल ब्रह्माण्ड की कल्याणकारिणी होती हैं । राष्ट्रिय ज्ञानहीनता से तथा राष्ट्रियज्ञान-सम्पन्न पुरुष से द्वेष के कारण उन्नति नहीं हो सकती है । ऐसा करने से गर्तपात अवश्यम्भावी होता है । जिस राष्ट्र में राष्ट्र की समुन्नति चाहने वाले लोग रहते हैं, वह राष्ट्र कभी भी परतन्त्र नहीं हो सकता है । स्वतन्त्रता का सम्मान सभी लोग करते हैं । मूर्ख लोग भी स्वतन्त्रता का अपमान नहीं करते हैं ।

प्रभवति। सङ्घवाद्यपरपर्यायाणां राष्ट्रवाद्यनार्याणां व्यक्तिवाद्यपर-पर्यायाणां राज्यवाद्यनार्याणां च नीतिः पुनः कुनीतिरेव सर्वथा सर्वतश्च मात्स्यन्यायमुद्भावयन्त्य शान्तिकारिणीति सा हेयतयैव समभिलष्यते इति समामनन्ति नयाम्नायाचार्याः ततश्चाऽऽदर्शराष्ट्रवादिनामेव नीतिः सुनीतिरिति सैव निखिलब्रह्माण्डकल्याणकारिणी भवितुं प्रभवतीत्यादि सर्वमपि प्रकृतभाष्यकृत्प्रणीतक्रान्तिकौमुदीतोऽवसेयम्। समुन्नतिः किल क्वापि राष्ट्रियज्ञानहीनतया राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नपुरुषद्वेषेण च नैव भवितुं शक्येति, तथा न भाव्यम्। इत्येव न किन्तु राष्ट्रियज्ञानहीनतया राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नपुरुषद्वेषेण च गर्तपातोऽवश्यं भावीति सर्वाऽधमफल-भोगान्निर्वर्तितुं चाऽवश्यमेव यतितव्यमिति विज्ञेयं सुधीभिरित्यलम् ॥19॥

(एवं शिक्षाविषयो निरूपितः सर्वोऽपि तत्फलवर्णनपुरः सरम्। एतत्सर्वं स्वसमुन्नतिकामाय पुरुषाय। स्वसमुन्नतिं च सर्वोऽपि कामयत एवेति स्वभावो वस्तुमात्रस्य। एतस्याः पूर्तेर्निदानं परं राष्ट्रमेवेति निखिललोकप्रसिद्धम्। अतस्तद्राष्ट्रं कदाऽपि नाऽवमन्तव्यं परतन्त्र-मपि। स्वतन्त्रं तु सर्वैः स्वीयैः परैश्च सम्मान्यत एवेति तदवमाननं तु मूर्खेणापि नैव क्रियते। परं चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि यत् स्वीयं राष्ट्रं भवितुमर्हति, तदपि कदाऽपि नाऽवमन्तव्यं परैरवमानितमपीति फलनिर्देश-पूर्वकं विवृण्वन्नाह—

भुक्तिमुक्तिप्रदं राष्ट्रं नरो यो नाऽवमन्यते ॥
सर्वसम्पन्निधानानि लभतेऽसौ महायशाः ॥20॥

[अधिक से अधिक सुखभोग तथा स्वातन्त्र्य को देने वाले राष्ट्र का जो नर अपमान नहीं करता, वह महान् कीर्तिशाली पुरुष सम्पूर्ण सम्पदाओं के निधानों को प्राप्त करता है ॥20॥]

स्वराष्ट्र का कभी अपमान नहीं करना चाहिए–इसका फल निर्देशपूर्वक विवरण दिया जा रहा है :—

कारिका–20

जीवलोक का यह स्वभाव है कि वह स्वप्रकाश का सम्मान करता है, पर-प्रकाश का अपमान करता है। परतन्त्रता के कारण स्वप्रकाश तो स्वयंमेव प्रकाशित होता है। परतन्त्रता के कारण परप्रकाश किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है, तब प्रकाशित होता है। परतन्त्र होने से परप्रकाश स्वप्रकाश से दुर्बल है और

(भुक्तिमुक्तीति । यः—नरः—भुक्तिमुक्तिप्रदं—राष्ट्रं—न—अवमन्यते असौ—महायशाः—सर्वसम्पन्निधानानि—लभते । इति परियोजनिका ।]

"य"—वर्ण्यमानः 'नरः'—मनुष्यः "भुक्तिमुक्तिप्रदम् भुक्तिः—आपेक्षिकं सुखं, मुक्तिः—परिपूर्णं सुखं च प्रदाति तत् 'राष्ट्र"—व्याख्यातपूर्वम् न अवमन्यते' न अपमानं करोति । 'असौ' एतादृशः पुरुषः 'महायशाः'—महत्—विस्तृतं यशः—कीर्तिः यस्य सः महायशाः सन् 'सर्वसम्पन्निधानानि'–सर्वाः–समस्ताः सम्पदः–अभिलषितवस्तूनि तासां निधानानि–निधयः तानि 'लभते'–प्राप्नुते ॥

अयमत्राशयः सर्वोऽपि खलु जीवलोकः स्वप्रकाशं सम्मानयति, परप्रकाशं चाऽपमानयति इति सर्वत्रैव दृश्यते । युक्तं चेदम् । स्वप्रकाशं खलु स्वयमेव प्रकाशते स्वतन्त्रतया, परप्रकाशं च प्रकाशे प्रकाशकान्तरमपेक्षते परतन्त्रतया इति परप्रकाशं स्वप्रकाशाद्दुर्बलम् । स्वप्रकाशं च परप्रकाशात्प्रबलमिति प्रबलदुर्बलभावः सर्वैरपि स्वभावत एव निर्णीतोऽस्ति । अत एव स्वाभाविकोऽयमिति नोपायानां कोप्यपि परावर्तितुं शक्यते । परावर्तनस्याऽऽवश्यकताऽपि नाऽस्ति । अथ च प्रबलं स्वप्रकाशं स्वयं प्रकाशमानं सत् परानपि यथायथं प्रकाशयतीत्यार्यस्वभावमवगाहते । दुर्बलं परप्रकाशं स्वयमप्रकाशमानं सत् परान् पुनर्यथा कथंचिदपि न प्रकाशयतीत्यनार्यस्वभावमवगाहते । अत एव आर्याः स्वप्रकाशशीलाः परप्रकाशकस्वभाववत्तया अनार्यानप्यार्यगुणैः प्रकाशयितुं यतन्ते । अनार्याश्च परप्रकाशशीलाः पराच्छादकस्वभाववत्तया आर्यानप्यनार्यगुणैरा-

---

स्वप्रकाश परप्रकाश से प्रबल होता है । प्रबल स्वप्रकाश आर्यस्वभावतः स्वयं प्रकाशमान होते हुए दूसरों से भी सम्यक् प्रकाशित करता है और दुर्बल परप्रकाश अनार्यस्वभावतः स्वयं अप्रकाशमान होते हुए दूसरे को प्रकाशित नहीं करता है ।

आर्य लोग स्वप्रकाशशील हैं । आर्य लोग अपने परप्रकाशक स्वभाव के कारण अनार्यों को भी अपने गुणों से प्रकाशित करने का प्रयत्न करते है । परप्रकाशशील अनार्यों का स्वभाव दूसरों के गुणों का आच्छादन करता है । अतः वे आर्यों को भी अनार्य गुणों से आच्छादित करने का प्रयास करते हैं । जैसे कि सूर्य स्वप्रकाश है और अपने परप्रकाश स्वभाव के कारण मेघों को भी प्रकाशित करता है, परन्तु मेघ परप्रकाश होते हुए पराच्छादक स्वभाव के कारण सूर्य को भी आच्छादित कर देते है । सबको प्रकाशित करने के कारण ही सूर्य को सभी लोग सम्मानित करते

च्छादयितुं यतन्ते इति स्वभाव एवायमार्याणामनार्याणां च । यथा सूर्यः स्वप्रकाशः सन् परप्रकाशकस्वभाववत्तया मेघेभ्योऽपि प्रकाशस्वभावगुणं दत्त्वा प्रकाशयति, मेघाः पुनः परप्रकाशाः सन्तः पराच्छादकस्वभाववत्तया सूर्यायाऽप्याच्छादकत्वं दत्वा सूर्यमाच्छादयन्ति । परं त्वेवं सत्यप्यार्यः स्वप्रकाश इति स नाऽपेक्षते स्वात्मनः प्रकाशाय, अत एवाऽऽत्मानं सर्वतोभद्रतया प्रकाशयन् सर्वानपि सम्मानयन्नन्त अनार्यानप्यार्यीकर्तुं प्रभवत्येवेति सम्मानभाजनं सर्वत्र भवतीति सर्वोऽप्येनं सम्मानयति । एवमनार्यः पुनः परप्रकाश इति सोऽपेक्षत एव स्वात्मप्रकाशाय प्रकाशकान्तरम् । अत एव स्वयमेकतोभद्रतयाऽऽत्मानमेवाऽन्यतः प्रकाशमादाय प्रकाशयन्नन्यांश्चाप्रकाशयन् केवलमात्मानं सम्मानयन्नन्यांश्चाऽसम्मानयन्नन्ते आर्यानप्यनार्यतया न रक्षितुं प्रभवतीति सर्वोऽप्येनमवमानयति । एवं च सर्वथाऽपि स्वतन्त्र एव सम्मानयोग्यः परतन्त्रश्चाऽपमानयोग्य इति फलितमिति वस्तुस्थितिः । तदेवं वर्तमाने यत् किञ्च भुक्तिमुक्तिप्रदं राष्ट्रं तद् यदि दैवदुर्विलसितेन परतन्त्रं तदा किं तदपमानयोग्यमेवाऽऽहोस्वित्सम्मानयोग्यम् ? इति प्रश्नः, अयमभिप्रायः —स्वतन्त्रतायाः सम्मान्यतया परराष्ट्रमपि स्वतन्त्रमिति सम्मान्यम् । परतन्त्रतया अवमान्यतया स्वराष्ट्रमपि परतन्त्रमित्यवमान्यमेवेति प्राप्ते आचार्यो नैतद्युक्तमिति प्रतिपादयति–भुक्तिमुक्तिप्रदमिति । स्वराष्ट्रमेव खलु भुक्तिमुक्तिप्रदं भवति इत्येको नियमः । अथ भुक्तिमुक्तिप्रदमेव स्वराष्ट्रं भवतीति द्वितीयो नियमः । प्राकृताप्राकृतेति द्विविधो बाह्यः स्वत्वप्रयोजकः सम्बन्धो यः पितृभूत्वरूपः पूर्वमुक्तः 'पितृपुण्यभुवं' (रा. 4) इति कारिकायां स एवाऽत्र भुक्तिपदेन लक्षितः । प्रधानाऽप्रधानेति द्विधा आन्तरः स्वत्वप्रयोजकः सम्बन्धो यः पुण्यभूत्वरूपः पूर्वमुक्तस्तत्रैव (रा. 4) स एवाऽत्र मुक्तिपदेन

हैं । इसी प्रकार आर्य स्वप्रकाश है । अतः अपने को सब प्रकार से प्रकाशित करते हुए और सभी का सम्मान करते हुए अनार्यों के भी आर्य बनाते हैं । अतः सर्वत्र सम्मानित होने से अनार्य परप्रकाश होते हैं । अपने प्रकाश के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखते है । अतः केवल अपने को प्रकाशित और दूसरों को अप्रकाशित करते हुए स्वयं को सम्मानित और दूसरी को असम्मानित करते हुए अनार्य स्वभाव के कारण आर्यों की भी रक्षा नही कर पाते हैं । अतः सभी उन्हें अपमानित करते हैं । कथन का सारांश यह है कि स्वतन्त्र का सर्वत्र सम्मान होता है, परतन्त्र का अपमान होता है ।

लक्षितः। चतुर्विधसम्बन्धेनाऽप्यनेन यद्युक्तं राष्ट्रं तत्स्वतन्त्रं वाऽस्तु परतन्त्रं वा स्वकीयं तु तदेव भवितुमर्हति। एवमेव स्वकीयमेव तद्भवति यदुक्तं चतुर्विधसम्बन्धवत् तत्स्वतन्त्रं वा परतन्त्रं वा नाऽन्यदीयमिति पूर्वं निरूपितमेव 'समानसंस्कृति' (रा. 3) इत्यत्र भाष्ये। इदमप्यत्र बोध्यम्—भुक्तिर्भोगः, स द्विविधः अनुकूलः प्रतिकूलश्च। सोऽपि द्विविधः प्रत्येकं बाह्य आभ्यन्तरश्चेति। सर्वोऽप्ययमापेक्षिक एव। मुक्तिः—मोक्षः, अयमपि द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति, सोऽपि प्रत्येक द्विविध आपेक्षिकः पूर्णश्चेति। समस्तमपि भोगत्वाऽवच्छेदकावच्छिन्नं, मोक्षत्वाऽवच्छेदका-ऽवच्छिन्नं च स्वराष्ट्रमेव ददाति। यदेव च राष्ट्रं ददाति समस्तमेतत्तदेव च सर्वथा स्वकीयमपि भवितुं शक्नोतीत्यपि पूर्वं 'समानसंकृति' (रा. 3) इत्यस्या भाष्याऽवसरे उक्तमेव। इदं तु बोध्यमेव—स्वतन्त्रं स्वराष्ट्रं समस्तानामुपादेयतयाऽभिलषितानां भोगानां प्रदायकं भवति। परतन्त्रं च तदेव समस्तानां हेयतयाऽभिलषितानां भोगानां प्रदायकं भवति इत्यपि 'पुमर्थ साधनम्' (रा.6) इत्यस्या भाष्ये निरूपितमेव। मोक्षः पुनर्न केना-ऽपि प्रकृतिस्थचेतनेन हेयतयाऽभिलष्यते इति सर्वेणाऽप्युपादेयतयैवाऽभिल-ष्यते इति। अप्रकृतिस्थचेतनः कोऽप्यभिलषति चेत् तस्य पशुपतित्वा-द्वा पशुत्वाद्वा स न शास्त्रेऽत्राऽधिक्रियते। यतः खलु शास्त्राणि कुहचित् प्रवर्तयन्ति कुतश्चित् च निवर्तयन्त्यधिकारिणम्। अत एव शास्त्रलक्षण-मेवमुपदिष्टं भट्टकुमारिलेण—

यदि भुक्तिमुक्ति प्रदान करने वाला राष्ट्र, दुर्दैव से परतन्त्र हो जाय, तो क्या वह सम्मान योग्य होता है अथवा अपमान योग्य? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाता है। अतः स्वतन्त्र पर-राष्ट्र का भी सम्मान होना चाहिए। परतन्त्रता का अपमान किया जाता है। वस्तुतः स्वराष्ट्र ही भुक्ति-मुक्ति प्रदाता होता है और भुक्ति-मुक्ति प्रदाता ही स्वराष्ट्र होता है। यह प्राकृत-अप्राकृत दो प्रकार का बाह्य स्वत्व प्रयोजक सम्बन्ध और प्रधान-अप्रधान दो प्रकार का आन्तरिक स्वत्व प्रयोजक सम्बन्ध क्रमशः भुक्ति और मुक्ति पदों से लक्षित किया गया है। इस चतुर्विध सम्बन्ध से युक्त राष्ट्र स्वतन्त्र हो या परतन्त्र, वही स्वकीय हो सकता है। अतः परतन्त्र स्वराष्ट्र का भी अपमान होता है।

भुक्ति (भोग) भी दो प्रकार का है—अनुकूल एवं प्रतिकूल। ये भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध होते हैं। मुक्ति मोक्ष को कहते है। यह भी दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। ये भी आपेक्षिक और पूर्ण भेद से द्विविध होते हैं।

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति कथ्यते ।।इति ।

इष्टसाधनत्वबोधनेन कार्ये प्रवर्तयति शास्त्रमनिष्टसाधनत्वबोधनेन चाऽकार्यान्निवर्तयतीति तु तत्त्वम् । अतएव कार्याऽकार्यव्यवस्थाविषये शास्त्रं प्रमाणं भवतीत्याह भगवान् वासुदेवोऽपि पार्थं प्रति यथा—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ । इति गी. 16/23)
शास्त्रे चाऽधिकारी मानवलोकेऽत्र स्वातन्त्र्येण मनुष्य एव । पारतन्त्र्येण तु समस्तमपि जडाऽजडं वस्तु । समस्तवस्तुनः किल यथायथं कल्याणाय मनुष्य एव स्वभावेन नियतः पराशिवेनेति । अत एव मनुष्य एवाऽत्र प्रकृतिस्थचेतनः । तदपेक्षया परतन्त्राश्च पशवः प्रकृतिस्थचेतनाः ।

इदमप्याकलनीयम् तत्र तत्र सन्देह एव किल निर्णयाऽवसरमुत्थापयति कार्याऽकार्यविषये । संदेहश्चेदं युक्तमयुक्त वा इत्याकारको विरुद्धकोटिद्वयाऽवगाहि ज्ञानमवलम्बते । विरुद्धकोटिद्वयाऽवगाहिज्ञानं च प्रतिपन्न निश्चयानां, अनुत्थितसन्देहानां वा नास्तीति ते न निर्णयमाकाङ्क्षन्ते । मनुष्यस्यैव सन्देहो भवति, ज्ञानप्रधानयोनिसमुत्पन्नत्वात् । पशवस्तु न ज्ञानप्रधानयोनिसमुद्भूता इति न सन्दिहते । अत एव यो मनुष्योऽपि अत्यन्ताऽज्ञ तयाऽनुत्थितसन्देहः पशुप्रायः स मा नाम मोक्षमुपादेयतयाऽभिलष्यतु, प्राप्तपरिपूर्णमोक्षो मनुष्यः कोऽपि परिपूर्णनिश्चयान्नष्टसन्देहः पशुपतिसमानो निराशंसतया मोक्षं पूर्णतया हेयतयैव वाऽभिलष्यतु न शास्त्रस्याऽनवकाशः सिद्ध्यति । मध्यकोटिनिविष्टेषु शास्त्रस्य साऽवकाशत्वात् । अत एवाऽन्यत्रोक्तम्—

नाऽत्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान् ।इति।

स्वतन्त्र स्वराष्ट्र, उपादेयता से समस्त अभिलषित भोगों का प्रदायक होता है और परतन्त्र राष्ट्र हेयता से अभिलषित भोगों का प्रदायक होता है । कोई भी प्रकृतिरूप चेतन शील मोक्ष की देयता से अभिलाषा नहीं करता है, अपितु उपदेयता से करता है । यदि अप्रकृतिस्थ चेतनकील अभिलाषा करता भी है, तो पशुपति या पशु होने से उसे शक्ति अधिकृत नहीं करता है । शास्त्र का लक्षण बतलाते हुए कुमारिलभट्ट ने कहा है कि जो इष्टसाधनत्वबोधन से सत्कार्य में प्रवृत्त करता है तथा अनिष्टसाधनत्व-बोधन से अकार्य से निवृत्त करता है, वह शास्त्र है । जब कार्याकार्य व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित होता है, तब शास्त्र को ही माना जाता है ।

एवं च स्वकीयत्वेन सर्वथा सम्मान्यत्वं परतन्त्रस्याऽपि स्वराष्ट्रस्य प्राप्तं, परकीयत्वेन च स्वतन्त्रस्याऽपि परराष्ट्रस्य असम्मान्यत्वं प्राप्तं, एवमेव स्वतन्त्रस्य प्रबलतया सर्वसम्मान्यतया परराष्ट्रस्याऽपि स्वतन्त्रस्य सम्मान्यत्वं प्राप्तम्, परतन्त्रस्य दुर्बलतया सर्वेषामवमान्यतया स्वराष्ट्रस्याऽपि परतन्त्रस्य अवमान्यत्वं प्राप्तम्, तत्र सन्देहः स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रमेव सम्मान्यं परतन्त्रमपि वा ? स्वराष्ट्रं परतन्त्रमवमान्यमेव नाऽवमान्यं वा ? परराष्ट्रं स्वतन्त्रं सम्मान्यमेवाऽवमान्यमपि वा ? परराष्ट्रं परतन्त्रमवमान्यमेव वाऽनवमान्यमपि वा ? इति । तत्र स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रमेव सम्मान्यं न परतन्त्रमपि, स्वराष्ट्रं परतन्त्रमवमान्यमेव न सम्मान्यम्, परराष्ट्रं स्वतन्त्रं सम्मान्यमेव नाऽवमान्यम्, परराष्ट्रं परतन्त्रमवमान्यमेव न सम्मान्यमिति पूर्वपक्षसिद्धान्तः । नाऽयं सिद्धान्तः समञ्जसः, अत आह स्वराष्ट्रं परतन्त्रमपि नाऽवमान्यमिति । यतः खल्वेतद्भुक्तिमुक्तिप्रदम् । अयं भावः—स्वतन्त्रमपि परराष्ट्रं न भुक्तिमुक्तिप्रदं भवति. किन्तु परतन्त्रमपि स्वराष्ट्रमेव भुक्तिमुक्तिप्रदं भवतीति स्वराष्ट्रं परतन्त्रमपि नाऽवमान्यम् । सम्माने गौरवं च सर्वथा भुक्तिमुक्तिप्रदस्यैव राष्ट्रस्य भवितुमर्हतीति कारिकाभावः । स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रं वा परतन्त्रं वा भवतु सर्वदा तत्सम्मान्यमेव न कदाऽप्यवमान्यं तत् इत्युत्तरपक्षसिद्धान्तः । अत्रेदमाकलनीयं रहस्यम्—आर्याः किल राष्ट्रवादिनः सर्वतोभद्रनीतिप्रधाना इति परस्परं सम्भावनैकप्रणयिन इति परतन्त्रं परराष्ट्रमपि नाऽवमानयन्ति । ते हि सर्वसुहृद् इति सर्वाण्यपि राष्ट्राणि सम्मानयन्त्येव । अथ राज्यवादिनः कृत्रिमाऽऽर्या इति परस्परदानैकप्रवणा इति सर्वेषां सकारणमित्राणीति स्वतन्त्राणि सर्वाण्यपि राष्ट्राणि सम्मानयन्ति । स्वराष्ट्रन्तु परतन्त्रमपि सम्मानयन्त्येव । परतन्त्रं पुनः परराष्ट्रं स्वार्थलाभे सम्मानयन्ति स्वार्थहानौ चाऽवमानयन्ति । अनार्याः पुनः

इस मानवलोक में स्वतन्त्र होने से मनुष्य ही शास्त्र का अधिकारी हैं । परतन्त्र होने से जड़ाजड़ वस्तु भी परशिव के द्वारा मनुष्य को ही सामान्य वस्तुओं के कल्याण के लिए नियत किया गया है । अतः मनुष्य को ही प्रकृतिस्थ चेतन माना गया है । कार्याकार्य के विषय में सन्देह ही निर्णय का अवसर उपस्थित करता है । यह युक्त है या अयुक्त, यह विरुद्ध कोटिक ज्ञान सन्देह में होता है । यह ज्ञान प्रतिपन्न निश्चय तथा अनुत्थित सन्देहों में नहीं होता है । अतः वे निर्णय की आकांक्षा नहीं कर पाते हैं । मनुष्य में ही कार्याकार्य का (विचार)

सङ्घवादिनः स्वराष्ट्रमेव सम्मानयन्ति । परराष्ट्राणि पुनरिमे सन्देहाकुलाः सर्वदा परस्परविनिमयैकप्रणयिमानसाः सर्वत्रोदासीनाः स्वतन्त्राणि सम्मानयन्ति परतन्त्राणि चाऽवमानयन्ति । स्वराष्ट्रमपि पारतन्त्र्येण ग्रस्तं सत् न सम्मानयन्ति । न चाऽवमानयन्ति । अथ व्यक्तिवादिनोऽनार्या अभिनिविष्टमूढा इति परस्पराऽपहारमात्रजीवनाः सर्वशत्रवः सर्वाण्यप्यवमानयन्त्येव । स्वपारतन्त्र्येणाऽशक्तौ स्वस्य भयेनैव सम्मानयन्ति सर्वदेति । अत्राऽपीदं तत्त्वम् – आर्याः खलु भद्रप्रधानाः अनार्याश्चाऽभद्रप्रधानाः । तत्राऽपि राष्ट्रवादिनः सर्वतोभद्रनीतिप्रधानाः राज्यवादिनश्चैकतो भद्रनीतिप्रधानाः । सङ्घवादिनः पुनरेकतोऽभद्रनीतिप्रधानाः । व्यक्तिवादिनश्च सर्वतोऽभद्रनीतिप्रधाना इत्यलम् । 'उपाध्यायाम्' (मनु 2.14.5) इत्यनेन मनुना 'मातृदेवोभ'व इत्याद्युपनिषद्भिः श्चसम्मान्यत्वं निर्णीतम् । तच्चात्र पूर्वं निरूपितमेव । अयं भावः सम्मानप्रयोजकेषु निमित्तेषु स्वातन्त्र्यमतिगौणा भुक्तिमुक्तिप्रदत्वाऽपेक्षया। यतः साशंसा आर्या आत्मानं सम्मानयन्त एव परान् अनार्याननार्यतमानपि नाऽवमानयन्ति । आत्मानमपि नाऽवमानयन्ति । इति तु विशेषः यथा योग्य आर्याऽनार्यादिविभागेन तारतम्येन सम्मानयन्ति । यदा आर्या अभुक्तिमुक्तिप्रदमपि स्वतन्त्रं परतन्त्रमपि वा राष्ट्रान्तरमार्यतयैव नाऽवमन्यन्ते, तदा ते अनार्याणामपि सम्मान्यं भुक्तिमुक्तिप्रदं कथमवमन्येरन् । अनार्याः पुनः स्वतन्त्रमपि राष्ट्रं यत् नाऽवमन्यन्ते तत्र हेतुर्लोभादिः संकुचितातार्थः, भयादिर्वा स्वार्थघातहेतुः । एवं च परतन्त्रमपि स्वराष्ट्रं

संदेह उत्पन्न होता हैं, न कि पशु में । क्योंकि मनुष्य में ज्ञान है तथा वह ज्ञानप्रधान योनि में उत्पन्न हुआ है । जो मनुष्य अत्यन्त अज्ञानी है उसमें अज्ञता के कारण सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता ।

स्वतन्त्र भी परराष्ट्र भुक्ति मुक्तिदाता नहीं होता, किन्तु परतन्त्र भी स्वराष्ट्र भुक्ति-मुक्तिदायक होता है । अतः परतन्त्र भी स्वराष्ट्र की अवमानना नहीं करनी चाहिए । सम्मान में भुक्ति-मुक्तिप्रद राष्ट्र का गौरव होता है । स्वराष्ट्र स्वतन्त्र हो या परतन्त्र उसका सम्मान करना ही चाहिए । आर्यलोग तो राष्ट्रवादी तथा सर्वतोभद्रनीतिप्रधान होते हैं । परस्पर समभाव रखने वाले होते है, अतः ये परतन्त्र परराष्ट्र का भी अपमान नहीं करते हैं । सबके मित्र होने से वे सभी राष्ट्रों का सम्मान करते हैं ।

भुक्तिमुक्तिप्रदमिति नैवाऽवमन्तव्यम् । ननु परतन्त्रस्याऽपि अनवमाननेन को लाभः ? इति वदति—सर्वैति । 'असौ'—नरः बुद्धिमान् पुरुषः अनवमन्ता "सर्वसम्पन्निधानानि"--'सर्वाः'—समस्ताः इज्यमाणताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नाः । 'सम्पदः'—सम्यक् प्राप्तयः अनुकूलवेदनीयतया सुखावहाः तासां निधानानि निधयः "लभते"--प्राप्नोति । अत्राऽयं भावः—नाऽवमन्यते इत्यनेन उपेक्षामपि नाऽचरति परतन्त्रस्याऽपि स्वराष्ट्रस्येति कुतो द्वेषाऽवसरः, अवमानननिषेधवर्णनेन च 'स्वयं कपर्दकाऽन्वेषणपरो याचको भर्त्सितोऽपि सन् अस्मत्प्रपितामहो महाधनी महान् दाता चासीदित्येवं हास्यास्पदवल्गनाभिरभिमन्यते । इत्यपि ध्वनितम् । एवं च एवं भूतो नरः परतन्त्रस्याऽपि भुक्तिमुक्तिप्रदस्य स्वराष्ट्रस्याद्वेष्याऽनुपेक्षकश्च यो भवति नरः, असौ स्वातन्त्र्यं प्राप्य समस्तमनोरथाऽनुकूलनिधानानि लभत एव । अथाऽत एव 'महायशाः' अपि भवति दिगन्तव्यापिन्या शोभनीयकीर्त्या च मण्डितो भवति । अथवैवं व्याख्येयम्—असौ एवम्भूतो नरः परतन्त्रमपि स्वराष्ट्रं नाऽवमन्यते यः स महायशाः—महनीयकीर्तिः सन् सर्वसम्पन्निधानानि लभते । अयं भावः अनार्याः किलाऽभद्रनीतिप्रधाना इति स्वकीयं राष्ट्रं परतन्त्रतया दुःखप्रदमिति मत्वा तदुपेक्षन्ते द्विषन्ति च, तत्स्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्याय यतन्ते चेत्, परतन्त्रकारिराष्ट्रान्तरं प्रति हिंसायाः परिपूर्त्या एव च स्वातन्त्र्याय

राज्यवादी जो आर्य हैं, वे कृत्रिम आर्य हैं । वे सबके सकारण मित्र होते है । अतः सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों का सम्मान करते है । अपने परतन्त्र राष्ट्र का भी वे सम्मान करते ही है । स्वार्थलाभ के लिए परतन्त्र परराष्ट्र का भी सम्मान करते हैं, किन्तु स्वार्थ-हानि होने पर उसका अपमान करते हैं । अनार्य लोग संघवादी होते हैं । वे केवल स्वराष्ट्र का ही सम्मान करते हैं, परराष्ट्र के प्रति इनके मन में सन्देह होता है । ये परस्व-विनिमय से अनुराग रखने वाले उदासीन होकर स्वतन्त्र राष्ट्रों का सम्मान करते हैं, परतन्त्र राष्ट्रों का अपमान करते हैं। यदि अपना राष्ट्र भी परतन्त्रता से ग्रस्त हो जाय, तो न उसका सम्मान करते, न अपमान ही करते हैं । अनार्य व्यक्तिवादी होते हैं, मूर्ख होते हैं । परस्पर अपहरण से जीवन बिताने वाले सभी के शत्रुरूप ये सभी का अपमान करते हैं । अपने पारतन्त्र्य से अशक्त भय से ही सदा सम्मान करते हैं । आर्य भद्रप्रधान और अनार्य अभद्रप्रधान होते हैं । राष्ट्रवादी सर्वतोभद्रनीति प्रधान, राष्ट्रवादी एकतोभद्रनीतिप्रधान, संघवादी एकतोऽभद्रनीतिप्रधान और व्यक्तिवादी सर्वतोऽभद्रनीतिप्रधान होते हैं ।

यतन्ते । ये पुनः केवलमार्यहृदयतयैव स्वराष्ट्रदुःखं दूरीकर्तुं प्रयतन्ते तेन पारतन्त्र्यकारिराष्ट्रान्तरप्रतिपूर्त्यै यतन्ते, किन्तु आर्यतयैव सर्वतोभद्र-नीतिप्रियतया इति महनीयकीर्तित्वमुचितमेव परतन्त्रस्याऽपि स्वराष्ट्र-स्याऽनवमन्तुस्तस्याऽपि पुनर्भुक्तिमुक्तिप्रदस्येति । अत एवार्यत्वेन शोभ-नीयकीर्तिमत्तया प्रसिद्धस्य स्वातन्त्र्यप्राप्तिमूलभूते स्वराष्ट्रशिक्षाऽनु-कूलकार्याचरणेनाऽसौ सर्वसम्पन्निधानानि लभते इति तद्युक्तमेव । एवं च परतन्त्रस्याऽपि स्वराष्ट्रस्य न कदाप्यवमान कर्तव्य इति बोधितम् । अवमन्ता च परिणामेऽविश्लोकोऽतिदुःखी च भवतीति बोधितम् । अन-वमन्ता तु परिणामे सर्वसम्पन्निधानानि प्राप्य पुण्यश्लोको भूत्वा कीर्त्ति-शरीरेणाचिरायावतिष्ठते इति ध्वनितम् । किं चेदानीं परतन्त्रमपि भुक्तिमुक्तिप्रदं स्वराष्ट्रमेव स्वस्वातन्त्र्यसमये आनन्दयति नान्यत् स्व-स्वतन्त्रमपि राष्ट्रम् इत्यपि ध्वनितम् । एतच्च प्रस्तुतभाष्यकृतैव स्वोप-ज्ञायां 'अन्योक्तितारावल्यां सुष्ठूक्तम्—

सुहृदयि ! पिकपातं माऽवमंस्थाः कदापि
प्रकृतिमधुरवाचं कृष्णदेहं निरीक्ष्य ।
विलसति मधुमासे मानसं मोहयन्तो
धवलतनुबकाः किं सौख्यमुत्पादयन्ते ॥

इत्यलम् ॥ 20 ॥

एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वराष्ट्रशिक्षाया आवश्यकत्वं निरूपितम् । तस्य पुनश्चतुष्प्रकार उपयोगो भवति, अधीत्या, बोधेन, आचरणेन प्रचारेण चेति तेषु सर्वदोपादेयतया सर्वविधाऽभिलषणीयपुरुषार्थसाधन

आर्य तो अपने परतन्त्र स्वराष्ट्र की उपेक्षा भी नहीं करता, द्वेष की तो बात ही कहां । अवमानना के निषेध-वर्णन से यह भी ध्वनित होता है कि जैसे कोई मूर्ख याचक पैसे मांगने के लिए निकला हो, लोग उसे फटकार रहे हो तथा यह कह रहा हो कि मेरे पितामह तो महाधनी तथा महादानी थे–पुनरपि वह हास्यास्पद हो जाता है । अतः आर्य स्वराष्ट्र के दुःख दूर करने का प्रयत्न करते हैं । स्वराष्ट्र शिक्षा के अनुकूल आचरण करते हैं । अतः सब प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त करते हैं । इस प्रकार परतन्त्र स्वराष्ट्र का अपमान नहीं करना चाहिए । अपमान करने वाला समृद्ध और यशस्वी बनता हैं । दुष्टतम अनार्यो का भी अपमान नहीं करते । अनार्य स्वतन्त्र राष्ट्र का अपमान नहीं करते, इसका कारण संकुचित लोभादि या भयादि होते हैं । इस प्रकार परतन्त्र भी स्वराष्ट्र को भुक्ति-मुक्तिप्रद मानकर उसको अवमानना नहीं करनी चाहिए ।

भूतस्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्यप्राप्तय उपायतया प्रकारत्रयं सम्यगुपपादितम् । परं तु त्रयमप्येतच्छिक्षकाऽभावे नोपपद्यते । प्रचारकाऽभावे कथमेतत्सर्वं ज्ञातव्य भवेदिति समस्तस्याऽस्य परं निदानं शिक्षक एवेति तन्निरूपणं साम्प्रतमतीव साम्प्रतम् तद्बलेनैव हि राष्ट्रस्य जीवनादिति निरूपयन्नाह-

यस्मिन्राष्ट्रे न विद्यन्ते राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाः ।
आशु नश्यति तद्राष्ट्रं भुजङ्गो निर्विषो यथा ॥21॥

[जिस राष्ट्र में राष्ट्रिय ज्ञान के शिक्षक विद्यमान नहीं होते, वह राष्ट्र निर्विष सांप के समान शीघ्र नष्ट हो जाता हैं ॥21॥]

यस्मिन् इति । यस्मिन्-राष्ट्रे—राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाः—न-विद्यन्ते तत्—राष्ट्रं-आशु-नश्यति—निर्विषः—भुजङ्गः—(नश्यति) इति पदयोजनिका ।

('यस्मिन्'—विवक्षिते 'राष्ट्रं'— वर्णित पूर्वे 'राष्ट्रिय-ज्ञानशिक्षकाः राष्ट्रज्ञानप्रचारकाः 'न विद्यन्ते'-न सन्ति 'तत्'-राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाऽभाववत् 'राष्ट्रं'-उक्तलक्षणकम् 'आशुं-शीघ्रं 'नश्यतिं-अदृश्यतमायाति । 'यथा'-येन प्रकारेण 'निर्विषः'-निर्गतविष. 'भुजङ्ग'-सर्पः 'नश्यति'—नाशमेति । अयमभिप्रायः-शिक्षा हि सर्वस्याऽपि मूलमिति सिद्धान्तः, तां चान्तरेण न किमपि सिद्ध्यतीत्यपि सत्यमेव । अत एव तस्याः पूर्वनिरूपणं कृतम् । अनन्तरं च तत्प्रचारकविषये । निरूपणमपि योग्यमेवेति तदपि कारिकयैतया विधीयते ननु शिक्षा किल व्यापारमात्रं, तच्च स्वतन्त्रतया कर्तारमाक्षिपति, परतन्त्रतया च कर्माऽपि । शिक्षकश्च स्वतन्त्र इति तमनिरूप्यैव शिक्षणीयानां कथमत्र निरूपणं पूर्वं युज्यते

कारिका-21

अन्वय-व्यतिरेक से स्वराष्ट्रशिक्षा को आवश्यक बताया गया है । राष्ट्रिय शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षक की उपादेयता पर विचार किया जा रहा हैं—

शिक्षा ही सबका मूल है । शिक्षा के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है । शिक्षा एक व्यापार है, जो स्वतन्त्ररूप से कर्ता पर आश्रित है । आचार्य ने पहले शिक्षणीय विषय के सम्बन्ध में नहीं बतलाया था, अब शिक्षा के बारे में बतला रहे हैं, क्योंकि शिक्षक एवं शिक्षणीय में सम्बन्ध स्थापित करने वाली शिक्षा ही है । ज्ञान-ग्रहण-व्यापार का दूसरा नाम ही शिक्षा है । विद्या का ग्रहीता भी शिक्षणीय होता है । शिक्षा मुख्य है, गौण शिक्षणीय शिक्षक है । शिक्षक भी तभी शिक्षक होता है, जब वह शिक्षा ग्रहण कर लेता है । अतः वह भी शिक्षणीय होता है ।

इति चेन्नेदं समीचीनं कथनं शङ्कस्य भवत इति ब्रूमः । यतो हि आचार्येण खलु न शिक्षणीयविषये निरूपितमिदानीं किन्तु शिक्षाविषये निरूपितम् । शिक्षक—शिक्षणीययोः सम्बन्धविधायिनी शिक्षैवेति सैवाऽभ्यर्हिततया पूर्वं निरूपयितुमुचिता क्रियाशक्तिरूपतया तस्यास्तदैकायत्त्वत्वात्तत्कारकाणाम् । ननु 'स्वराष्ट्र' (रा. 16) "सदाचरन्तः" (रा. 17) "राष्ट्रियज्ञान" (रा. 18) "राष्ट्रिय" (19) भुक्ति-मुक्ति" (20) इत्यादिषु स्पष्टमेव शिक्षणीयविषये मुख्यतया निरूपणं प्रतीयते इति कथमुच्यते शिक्षाविषये वर्तते निरूपणमिति चेदुच्यते । शिक्षा किल ज्ञानग्रहणव्यापारस्य नामधेयान्तरम् शिक्षविद्योपादाने" इति पाणिनिस्मरणात् । विद्याग्रहणस्य कर्ताऽपि किल शिक्षणीय एव इति शिक्षणीयविषयेऽपि निरूपणं चेदागतं तदाऽपि न कोऽपि दोषः । किं च 'राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान्" (रा. 18) "राष्ट्रियज्ञानहीनानाम्"—(रा. 19) इत्यत्र शिक्षकविषयेऽपि निरूपणं वर्तत एवेति सहैव शिक्षया मुख्यभूतया गौणरूपेण शिक्षणीयस्य शिक्षकस्याऽपि निरूपणं भवति चेत् का नो हानिः । अत एव "राष्ट्रस्योत्थान पतने" (रा. 15) इत्यत्र कमण्यनीयर् प्रत्ययान्तं शिक्षणीया इति प्रयुज्य शिक्षणीयविषये गौणरूपेण निरूपणं सूचितम् । वस्तुतस्तु शिक्षका अपि शिक्षाग्रहणमन्तरा न समुद्भवन्तीति तेऽपि शिक्षणीया एवेति यच्छिक्षकनिरूपणं विहाय शिक्षानिरूपणं शिक्षणीयनिरूपणं च विहितं तदुचितमेव । किं च प्रचारः किलाऽऽचारस्य क्रियते, आचारश्च बुद्धस्य क्रियते बोधश्चाऽधीतस्य क्रियते इति परिपाट्या प्रचारस्याऽन्तिमफलतया तन्निरूपणमधीतिबोधाचरणादनन्तरं युक्तमेव । फलमपि बीजस्याऽपि बीजमिति सर्वनिदानमिति त्वन्यदेतत् । शिक्षाप्रचारे विधिवत् गृहीतशिक्षस्य तथार्यज्ञानसम्पन्नस्य तदनुकूलाऽऽचरणशीलस्य

आचार का प्रचार किया जाता है । आचार प्रबुद्ध का किया जाता है । जो शिक्षा ग्रहण करता है, उसको बोध होता है, यही परिपाटी है । फल भी बीज से निष्पन्न होता है । बीज ही सब का मूल है । विधिवत् जिसने शिक्षा ग्रहण की है, और तदनकूल जो आचरण करता है, शिक्षा का प्रचार भी, वही कर सकता है । शिक्षक पद से साम्प्रदायिकता का बोध होता है । आचार्यों ने सद्गुरु के प्रति परम्पराचरण-शुश्रूषा से प्राप्त ज्ञान-विज्ञानशालिता को साम्प्रदायिकता कहा है ।

जिनका अन्तःकरण कदाग्रहों से भरा हुआ है, वे अनार्य हैं । वे उक्त साम्प्रदायिक संज्ञा को कलंकित करते हैं । सम्प्रदाय में अनेक रहस्यपूर्ण बातें

शिक्षकस्याधीन इति तस्याऽत्यन्तिकीमावश्यकतां बोधयति-'यस्मिन्' इति यस्मिन् कस्मिन्नपि राष्ट्रे स्वतन्त्रे परतन्त्रे वा राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाः– राष्ट्रियज्ञानं व्याख्यातं "राष्ट्रियज्ञानसम्पन्नान्" (रा. 18) इत्यस्याः कारिकायाः भाष्याऽवसरे। तस्य शिक्षकाः—यथायोग्यं शिक्षा-ग्राहकाः अत्र शिक्षकपदेन साम्प्रदायिकत्वमावश्यकमिति बोध्यते। सद्गुरुपरम्परा-चरणशुश्रूषया समर्जितज्ञानविज्ञानशालित्वं साम्प्रदायिकत्वमित्याचार्याः। तेन खलु सङ्कुचितमतमात्रपरिग्रहसाऽभिनिवेशाः साम्प्रदायिकपदव्यवहारयोग्या भवितुमर्हन्ति। आग्रहग्रहिलान्तःकरणास्ते पुनरनार्यापसदाः कलङ्कयन्ति साम्प्रदायिकाऽभिधानम्। सम्प्रदाये किल बहूनि रहस्यानि भवन्ति, तानि किल शिष्यप्रशिष्यपरम्परया सम्यक् प्रदीयन्ते लोकेभ्यः। प्रदाने सम्यक्त्वं च साङ्गोपाङ्गरहस्यवत्तया तदेतत्सर्वं शिक्षकपदेन व्यज्यते। त एते न विद्यन्ते तद् राष्ट्रं एतादृग्योग्यशिक्षकाऽभाववद् राष्ट्रमाशु नाशमेति।

अयमाशयः योग्यराष्ट्रियज्ञानशिक्षकाऽभावेन स्वराष्ट्रशिक्षायाः प्रचाराऽभावः सुतरां भाव्येव। ततश्च छिद्रप्रेक्षिभिरनार्यैं राष्ट्रान्तरैः कुशिक्षाप्रचारो दासभावप्राप्तिकरः कर्तव्य एव। मनुष्यस्य ज्ञानप्रधान-योनिसमुत्पन्नतया किमपि नु शिक्षणीयमेवेति प्रकृतिसिद्धम्। स्वराष्ट्रे राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाऽभावादराष्ट्रियशिक्षाऽपि तैः ग्राह्यैवेति, तदनन्तरं

होती है, वे शिष्य–परम्परा से लोगों को प्राप्त होती है। यह ज्ञान शिक्षक ही दे सकता है। योग्य शिक्षकों के अभाव में राष्ट्र शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। योग्य तथा राष्ट्रिय ज्ञान वाले शिक्षकों के अभाव में स्वराष्ट्रशिक्षा का प्रचार नहीं हो सकता। अनार्य लोग अन्य राष्ट्रों में कुशिक्षा का प्रचार करते हैं, ताकि वह राष्ट्र पुनः दासभाव को प्राप्त कर ले। ज्ञान-प्रधान योनि में उत्पन्न होने के कारण मनुष्य को शिक्षित करना ही चाहिए। स्वराष्ट्र में राष्ट्रिय शिक्षा का अभाव होने से वे अराष्ट्रिय शिक्षा ग्रहण करेंगे ही। वे राष्ट्र-द्रोही भी होंगे ही। ऐसे राष्ट्रघाती चाण्डाल अपने राष्ट्र का नाश ही करेंगे। अतः राष्ट्रियज्ञानयुक्त शिक्षकों की अतीव आवश्यकता होती है। इसे एक उदाहरण से दृढ़ किया जा रहा है।

सर्प प्रायः विषवाले हुआ करते हैं। यदि किसी भी कारण से उनका विष बाहर निकल जाय, तो उनसे कोई नहीं डरता है। डरपोक आदमी भी उन्हें मार डालते हैं। इसी प्रकार जो राष्ट्र शिक्षा प्रचार से, लोभ से, स्त्री

स्वराष्ट्रोपेक्षकैः स्वराष्ट्रद्रोहिभिश्च तैरवश्यं भाव्यमिति राष्ट्रमपि तैर्नाशनीयमेव स्वराष्ट्रघातिभिश्चण्डालैः। अतो राष्ट्रियज्ञानशिक्षाकाणामतीवाऽवश्यकता भवति। एतदेवोदाहरणेन दृढीकरोति–भुजङ्गेति। "भुजेन" भुजाकारेण शरीरेण गच्छत्यसौ भुजङ्गः—सर्पः यथा "निर्विषः—निर्गतविषं प्राणनाशकः पदार्थो यस्मात् सः नाशमेति। अयमभिप्रायः सर्पाःकिल विषवन्त एव सम्मान्यन्ते लोके। येषां हि विषं केनाऽपि कारणेन बहिर्निर्गतं, तेभ्यो न कोऽपि विभेति, घ्नन्ति च तान् भीरवोऽपि जनाः। एवमेव यत्र राष्ट्रे राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाः विद्यन्ते तद्राष्ट्रं राष्ट्रान्तराणि कुशिक्षाप्रचारेण वा, लोभदानेन वा, स्त्रीलोभदानेन वाऽन्येनाऽपि वा केनाऽप्युपायेन न परतन्त्रयितुं नाशयितुं वा प्रभवन्ति, किं च तद्राष्ट्रजा अपि स्वराष्ट्रशिक्षालाभेन स्वहिताऽहित—ज्ञानवत्तया नोपक्षन्ते स्वराष्ट्रं न च विद्विषन्ति ततश्च, ते राष्ट्रियाः सर्वदा राष्ट्रसंरक्षका भवन्ति। अतो न तद्राष्ट्रं कदाऽपि नश्यति। भुजङ्गः किल करचरणादिरहितोऽपि भुजाकारेणैव शरीरनिर्वाहमाचरन्नपि यावत्कालं स्वविषं न वहिर्निर्गमयति स्वशरीरे एव संरक्षति तावत् कालं स निर्भयः सर्वत्र सञ्चरति, बिभ्यति चाऽन्ये सर्वेऽस्मात्। निर्विषश्चाशु नश्यति। एवमेव राष्ट्रे यावत्पर्यन्तं राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाः सन्ति तावत्पर्यन्तं न तन्नाशयितुं केनाऽपि शक्यते। तेषामभावे आश्वेव तन्नाशमेति। इदमप्यत्र बोध्यम्—भुजङ्गो हि स्वविषमार्यभावेन कदाऽपि यो न निर्गमयति वहिः स स्वेच्छया नवां नवां तनुं धारयन् महाबलः सन्नजरामरतां याति परैरधृष्यश्च भवतीति प्रसिद्धिर्लोके, एवमेव यदेव राष्ट्रं सर्वदा राष्ट्रियज्ञानशिक्षकान् सर्वतोऽधिकं पालयति, तत्तदधिकारेषु नियोजयति, कदाऽपि बहिर्न निर्गमयति

लाभ से अथवा अन्य किसी उपाय से परतन्त्र नहीं कर सकते। साथ ही राष्ट्रवासी भी स्वराष्ट्र की शिक्षा ग्रहण कर लेने और हिताहित के ज्ञान से युक्त होने के कारण अपने राष्ट्र से उपेक्षा और द्वेष नहीं करते, और फिर वे राष्ट्र संरक्षक हो जाते हैं। अतः वह राष्ट्र कभी नष्ट नहीं होता। हस्तपादादिरहित भुजंग बाहर घूमता हुआ भी जब तक अपना विष बाहर नहीं फेंकता, तब तक वह निर्भय होकर विचरण करता है। सब लोग इससे डरते हैं। जब वह निर्विष होता है, तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार जो राष्ट्र सर्वदा राष्ट्रियज्ञानशिक्षकों को अधिक मात्रा में पालन पोषण करता है, उन्हें अधिकारों में नियुक्त करता है, उन्हें बाहर नहीं

सर्वदा तान् दानमानसत्कारैः सत्करोति, यथायथं सर्वं शुश्रूषते तद् राष्ट्रं राष्ट्रियज्ञानशिक्षकाणां प्रबलप्रभाववत्तया नवं नवमभ्युदयं लभमानं परं निःश्रेयसं जगत्यद्वितीयतां लभते,पूर्णमार्यराष्ट्रविजयमुद्घोषत् समस्तमप्यार्यींकरोतीति ।।21।।

एवमेतावत्पर्यन्तं राष्ट्रलक्षणं, तत्पृथक्त्वाऽपृथक्त्वविवेचनं, (रा.3) तत्स्वत्वाऽस्वत्वविवेचनं, (रा. 4, 5) तस्य सुखकरत्वाऽसुखकरत्वं (रा.6) तदवमानकारणं (रा.7) तन्मूलराष्ट्रदृष्ट्यभावेन हानिनिरूपणं (रा. 8) राष्ट्रदृष्ट्यभाववतां कोलकौशिकसादृश्यवर्णनं (रा. 9, 10) राष्ट्रपतन-कारणं, (रा. 11) आत्मोत्सर्गाऽकारिणां, उपेक्षाकाणां, द्वेषिणां च राष्ट्रपतनकारणत्वेन निरूपणं (रा. 12, 13, 14,) सर्वस्याऽप्येतस्य निदानं शिक्षैवेति तन्माहात्म्यनिरूपणं (रा. 15) चतुर्विधायास्तस्याः आवश्यकतावर्णनं पृथक्-पृथक् प्रकाराणां हानिलाभवर्णनं, शिक्षायाः शिक्षकाऽधीनतया सदृष्टान्तं तदावश्यकतानिरूपण च विहितमिदानीं स्व-तन्त्रं राष्ट्रं कतमत् भवतीति निरूपणमतोवाऽवश्यकमिति तन्नि-रूपयन्नाह —

परराष्ट्रस्य सम्बन्धः सेना कोषश्च सर्वथा ।।
यत्र हस्ते राष्ट्रियाणां स्वतन्त्रं राष्ट्रमस्ति तत् ।।22।।

[परराष्ट्र का सम्बन्ध, सेना, और कोष सब प्रकार से जिस राष्ट्र में राष्ट्रियों के हाथ में होता है, वह राष्ट्र स्वतन्त्र है ।।22।।]

[परराष्ट्रस्येति । परराष्ट्रस्य–सम्बन्धः–सेना–कोषः–च–सर्वथा–राष्ट्रियाणां–हस्ते-यत्र–अस्ति–तत्–राष्ट्रं–स्वतन्त्रं-अस्ति । इति पद-योजनिका ।

करता है, आदर मान दानादि से उनका सत्कार करता है, वह राष्ट्र राष्ट्रिय-ज्ञानशिक्षकों के प्रबल प्रभाववश नवीन अभ्युदय और कल्याण प्राप्त करता हुआ संसार में अद्वितीय स्थान प्राप्त कर लेता है । पूर्ण आर्य राष्ट्र के विजय की उद्घोषणा करते हुए सभी को आर्य बना लेता है ।

अब स्वतन्त्र राष्ट्र कौन सा होता है ? इसका निरूपण किया जा रहा है:–
कारिका–22

पुमर्थ साधन और फलदायक राष्ट्र वही होता है, जो स्वतन्त्र होता है । यह बात पहले कही जा चुकी है । स्वतन्त्र राष्ट्र का क्या लक्षण है–यह बात वहां पर नहीं बतलायी गई है । इसका निरूपण अब किया जा रहा है ।

['परराष्ट्रस्य'– अन्यराष्ट्रस्य 'सम्बन्धः'-संसर्गः 'सेना'–बलं 'कोषः अर्थौघः 'च' 'सर्वथा'–सर्वेणाऽपि प्रकारेण 'राष्ट्रियाणां–राष्ट्रजानां 'हस्ते'–पाणौ 'यत्र-राष्ट्रे' 'अस्ति'-विद्यते 'तत्–तादृक्लक्षणं 'राष्ट्र'– पूर्ववर्णितं 'स्वतन्त्रं'–आत्माऽधीनं 'अस्ति'–भवति । इति वेदितव्यमिति शेषः । अयमत्राऽभिप्रायः—पुमर्थसाधनं पुमर्थफलदायकं च किल तदेव राष्ट्रं भवति यत् किल स्वतन्त्रं भवति, इत्युक्तं पूर्वम् । स्वतन्त्रराष्ट्र-लक्षणं च तत्र नोक्तमतस्तन्निरूपणमतीव साम्प्रतं साम्प्रतमिति तन्नि-रूप्यते । यत्र राष्ट्रे 'परराष्ट्रस्य सम्बन्धः—पराणि-अन्यानि च तानि राष्ट्राणि–पूर्वोक्तलक्षणभूप्रदेशाः तानि परराष्ट्राणि राष्ट्रान्तराणीति भावः । तानि किल बहूनि भवन्ति तत्र कानिचित् पूर्णस्वतन्त्राणि, कानिचित् आंशिकस्वतन्त्राणि अथ कानिचित्पूर्णपरतन्त्राणि । अथ च, आर्याऽनार्यभेदेनाऽपि विविधानि भवन्ति । अथ च पुनस्त्रिविधानि मित्र राष्ट्राणि, उदासीनराष्ट्राणि, शत्रुराष्ट्राणि च । एतेषां सर्वेषां सम्बन्धः– सम्बन्धनं सम्बन्धत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्न इति यावत् । इदमत्रतात्पर्यम्— द्वैतप्रपञ्चेऽत्र किल सर्वत्र प्रकारताभेदेनाऽनेकेषु वस्तुषु यः कश्चिदेकः शक्तिविशेषोऽनुस्यूतो लक्ष्यते येनाऽयं सर्वोऽपि प्रपञ्चः प्रचलति स सर्वा-धारः सम्बन्धः–सम्यग् वध्यन्ते यत्र बन्धने सम्यक्त्वं च व्यवहाराऽनुकू-मेव । अयं हि महाशक्तिरूपः परशिवः सर्वत्र सर्वात्मना विहरन्नात्म-विलासं पश्यति । इदमात्मविलासाऽवलोकनमेव शिवताण्डवं दृष्ट्यन्तरेण च शक्तिलास्यं भवति । निमज्जनासतत्त्वसङ्कोचप्राधान्येन समस्त सम्बन्धनिदानभूतमहासम्बन्धपरिस्फुरणं ताण्डवव्यपदेशमेति । तदेवो-न्मज्जनासतत्त्वविकासप्राधान्येन लास्यतामवगाहते । अत एव पञ्चस्त-व्यामेवं वर्ण्यते –

राष्ट्र अनेक प्रकार के होते हैं । कुछ पूर्ण स्वतन्त्र, कुछ आशिक स्वतन्त्र और पूर्णपरतन्त्र होते हैं । आर्य और अनार्य भेद से भी विविध प्रकार के होते हैं । और फिर वे तीन प्रकार के होते हैं–मित्रराष्ट्र, उदासीनराष्ट्र, शत्रुराष्ट्र । इस संसार में प्रकारभेद से, अनेक वस्तुओं में कोई एक शक्ति विशेष अनुस्यूत रहती है, जिससे यह सब कार्य चलता रहता है । महाशक्तिरूप परशिव सर्वत्र पूर्णरूपेण बिचरण करता हुआ आत्मविलास को देखता हैं । यह आत्मविलासा-वलोकन ही शिवताण्डब है । इसे शक्तिलास्य भी कहते हैं । यह शक्तिवैशिष्ट्य अनेक रूपों में सुना जाता है, अनुमान किया जाता है, देखा जाता है । जब वह प्रत्यक्ष-प्रमागम्य होता है, तब देखा जाता है । जब अनुमानगम्य होता है, तब

कल्पोपसंहरणकेलिषु पण्डितानि
चण्डानि खण्डपरशोरपिताण्डवानि ।
आलोकनेन तव कोमलितानि भातः
लास्यात्मना परिणमन्ति जगद्विभूत्यै ।। (पं. स्त. 4.10)

कल्याणवृस्टिस्तवे स्फुटमेव साक्षित्वमेवं निर्वर्णितम्—

कल्पोपसंहरणकेलिषु पण्डितस्य
देवस्य खण्डपरशोः परभैरवस्य ।
सा साक्षिणी विजयते तव मूर्तिरेका ।।इति
पाशाङ्कुशैक्षवशरासनपुण्यवाणैः ।।इति।।

अलमनेन रहःरहस्यनेन । सिद्धाऽऽचारसम्प्रदायरहस्यमेतन्निजदैशिकचरणारविन्दयुगलशुश्रूषया समधिगन्तव्यं तद्वदनाऽरविन्दादेव । प्रपञ्चितं च श्रीलात्मविलासे तद्व्याख्यायां च । भवतु शक्तिविशेषस्तत्र तत्र नानाविधै रूपैः श्रूयतेऽनुमीयते, दृश्यते च । इदमाकूतम् प्रत्यक्षः प्रमाणगम्येषु दृश्यते, अनुमानगम्येष्वनुमीयते, शब्दगम्येषु च श्रूयते । एवं चाऽनन्ताः प्रकारा अस्य । एकैकस्मिन्वस्तुनि अनेके सम्बन्धास्तिष्ठन्ति । अत एव एक एव पदार्थः पदार्थान्तरोपस्थितौ नानाविधान् सम्बन्धान् यथाऽभिलषितमुपस्थापयति मर्यादामनतिक्रम्य तदेतेषां सर्वेषां सम्बन्धानामाकलने न कोऽपि जीवः प्रभवति । भवतु अनेनैव

उसका अनुष्ठान किया जाता है । जब वह शब्दगम्य होता है, तब सुना जाता है ।

एक वस्तु में अनेक सम्बद्ध रहते हैं । यही कारण है कि एक ही पदार्थ अन्य पदार्थों की उपस्थिति में नानाविध सम्बन्धों को मर्यादानुसार यथेष्ट उपस्थित कर देता है । इन सम्बन्धों के आकलन में कोई भी जीव समर्थ नहीं हो सकता है । शक्ति के इस नियम से सम्पूर्ण वस्तु सम्बद्ध रहती है । इसी प्रकार राष्ट्र अनेक सम्बन्धों से सम्बद्ध रहते हैं, ये सम्बन्ध मनुष्यों के ज्ञान-प्रधान योनि में उत्पन्न होने के कारण दृष्टिगत हो जाते हैं । मनुष्य इन्हें अनेक कारणों से प्रकट करते हैं अथवा छिपा देते हैं ।

कर्मकौशल को जानने वाले विद्वान् योगी, अनेक प्रकार के सम्बन्धों को स्थापित करने के लिए, उत्पन्न करने के लिए और नाश करने के लिए समर्थ होते हैं । अयोगी ऐसा नहीं कर पाते हैं । इसी प्रकार राष्ट्रों में भी राष्ट्रवेत्ता या कर्मकौशल के जानने वाले मित्रसम्बन्ध, उदासीनसम्बन्ध और शत्रुसम्बन्ध इन तीनों सम्बन्धों को स्थापित करते हैं । और नष्ट करते हैं ।

राष्ट्र चार प्रकार के हो सकते हैं :—

शक्तिनियमेन सर्वमपि वस्तुजातंसम्बद्धम स्त्येवेति तु निश्चप्रचमेव। एवं च राष्ट्राण्यपि परस्परं सम्बद्धान्येवाऽनेकैः सम्बन्धैः ते च सम्बन्धा मानवानां ज्ञानप्रधानयोनिसमुद्भूततया गोचरतामायान्ति। अथ च तैस्तैर्व्यापारैः प्रकटोक्रियन्ते प्रच्छाद्यन्ते च मानवैः आत्मनि समाविश्य हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं पार्यते सर्वैर्णाऽपि स्वकलया। परतन्त्राः पशुप्रायाः पुनः स्वतन्त्रस्थापितैरेव सम्बन्धैर्व्यवहरन्ति मोदमानाः भवत्वि दमपि रहस्यतया नोद्घाटनोयम्। इदमेवाऽन्यत्रोक्तं यथा—

वेद्यवेदकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्॥
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे साऽवधानता॥इति॥

---

1. आर्यराष्ट्रवादप्रधान 2. आर्यराज्यवादप्रधान 3. संघवादी या अनार्यराष्ट्रवादप्रधान, 4. व्यक्तिवादी या अनार्यराज्यवादप्रधान।

1. आर्यराष्ट्रवादप्रधान, कृतयुग, मोक्षप्रधान, ब्रह्मयुग होता है।
2. आर्यराज्यवादप्रधान, त्रेतायुग धर्मप्रधान क्षत्रयुग होता है।
3. अनार्यराष्ट्रवादप्रधान, द्वापरयुग, अर्थप्रधान वैश्ययुग होता है।
4. अनार्यराज्यवादप्रधान, कलियुग, कामप्रधान, शूद्रयुग होता है।

ये महायुग एवं अन्तर्युग चक्र की तरह सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह, अनुग्रह, वाले होते हैं। सत्ययुग में भी, सब राष्ट्रों में तारतम्य के अभाव में युग की व्यवस्थाएं भी भिन्न-भिन्न ही होती है।

सत्ययुग में मित्रता अधिक होती है। त्रेतायुग में मित्रसम्बन्ध का बाहुल्य होता है। द्वापरयुग में उदासीन सम्बन्धों का बाहुल्य होता है। कलियुग में शत्रु सम्बन्धों का बाहुल्य होता है। सेना, कोष अर्थ ये तीनों बल जिस राष्ट्र में चतुर्विध सम्बन्ध से सम्बन्धी राष्ट्रियों के हाथ में होते हैं, अर्थात् यदि वे परराष्ट्र के साथ स्वराष्ट्र के सम्बन्ध को स्थापित करने न करने या अन्यथा करने में समर्थ होते है, जो सेना की संख्या कम या अधिक करने, विविध स्थानों में नियुक्त करने न करने या तद्विषयक सब कुछ करने न करने या अन्यथा करने में समर्थ होते हैं और जो आय-व्यय व्यवस्था के करने न करने या अन्यथा करने में समर्थ होते हैं, तो वह राष्ट्र स्वतन्त्र होता है। इन तीनों बलो के स्वातन्त्र्य में जितनी त्रुटि होती है, उतना ही राष्ट्र परतन्त्र होता है। इनमें पूर्व-पूर्व अधिक प्रबल होते हैं। जहां कोष पूर्ण है, वहां सेना व्यवस्था ठीक है। जहां दोनों है, वहां परराष्ट्र-सम्बन्ध सुव्यवस्थित किये जा सकते हैं। मोक्ष युग में इन तीनों बलों में तारतम्य

कर्मकौशलविज्ञाः खलु योगिनो नानाविधान् सम्बन्धान् स्थापयितु-मुत्पादयितुं नाशयितुं च प्रभवन्ति। अयोगिनः पुनर्नैवम्। एवं च राष्ट्रेष्वपि परस्परं राष्ट्रविज्ञैः कर्मकौशलविज्ञैः सम्बन्धाः स्थांप्यन्ते नाश्यन्ते च ते च समासत एते मित्रसम्बन्धः, उदासीनसम्बन्धः, शत्रु सम्बन्धश्चेति। इदमत्र रहस्यम्-राष्ट्राणि किल चतुर्विधानि भवितुमर्हन्ति आर्यराष्ट्रवादप्रधानानि 2 आर्यराज्यवादप्रधानानि 3 संघवाद्यपरपर्याया-ऽनार्यराष्ट्रवादप्रधानानि 4 व्यक्तिवाद्यपरपर्यायाऽनार्यराज्यवादप्रधानानि च। तत्र 1 आर्यराष्ट्रवादप्रधानराष्ट्रबहुत्वे कृतयुगं मोक्षप्रधानं ब्रह्मयुगं भवति। 2 आर्यराज्यवादप्रधानराष्ट्रबहुत्वे त्रेतायुगं धर्मप्रधानं क्षात्रयुगं भवति। 3 अनार्यराष्ट्रवादप्रधानराष्ट्रबहुत्वे द्वापरयुगमर्थप्रधानं वैश्ययुगं भवति। 4 अनार्यराज्यवादप्रधानराष्ट्रबहुत्वे कामप्रधानं कलियुगं शूद्रयुगं भवति। इमान्यपि महायुगान्यन्तर्युगाण्यपि चक्रनेमिक्रमेण सृष्टिस्थिति-लयनिग्रहानुग्रहवन्तीत्यपि बोध्यमेव। किं च सत्ययुगेऽपि सर्वेषु राष्ट्रेषु तारतमाभावेन युगव्यवस्थाऽपि भिन्नभिन्नैवेत्यपि बोध्यमेवेति। अथेद-मप्याकलनीयम्– सत्ययुगे सुहृत्त्वमधिकम्। त्रेतायुगे मित्रसम्बन्ध-बाहुल्यम्। द्वापरयुगे उदासीनसम्बन्धबाहुल्यम्। कलियुगे शत्रुसम्बन्ध-बाहुल्यम्। एवं च सर्वोप्यय सम्बन्धत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नः, परराष्ट्रस्य सम्बन्ध इत्युच्यते। अथ "सेना"—शारीरिकबलवत्समुदायः 'कोषः'— अर्थौघः। एतानि त्रीण्यपि यत्र राष्ट्रे चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि सम्बधिनां राष्ट्रियाणां हस्ते सन्ति। 'अयमाशयः-यत्रत्याश्चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि सम्बन्धितः स्वराष्ट्रस्य परराष्ट्रेण सम्बन्धं सर्वप्रकारमपि कर्तुमकर्तुमन्य थाकर्तुं प्रभवन्ति, अथ च शरीरबलेन बलिनां सङ्ख्यान्यूनाऽऽधिक्यभावं,

---

के कारण पूर्ण अविरोधी के साथ इनमें साम्य का स्वाभाविक स्वातन्त्र्य होता है। बाद में वैषम्य की दृष्टि का अपकर्ष होने लगता है। अतः मोक्षयुग को सत्ययुग कहा जाता है।

जिस युग में मनुष्यों की मनोकामना परिपूर्ण हो जाती है, वह कृतयुग कहलाता है। त्रेतायुग कर्तव्यप्रधान होता है। तीन अग्नियों का समूह त्रेता कह-लाता है। ये तीन अग्नियां हैं—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय। त्रेतापद से कर्मकाण्ड का बाहुल्य भी ध्वनित होता है। इस युग में शुभकर्म को ही कर्तव्य माना गया है। इस युग में सेना-बाहुल्य स्वाभाविक है। परराष्ट्र-सम्बन्ध मित्रादि रूप से कर्तव्य के लिए किये जाते हैं। सत्त्वमिश्रित रजोगुण का प्राधान्य होता है। आर्यों का बाहुल्य होता है। द्वापर युग सन्देह प्रधान युग है। द्वापर शब्द का

तेषु तेषु स्थानेषु नियोजनवियोजने, अन्यदपि तद्विषयकं सर्वमपि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभवन्ति । अथ च अर्थौघस्य आयव्ययव्यवस्थां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभवन्ति तद्राष्ट्रं सर्वथा स्वतन्त्रमित्याख्यायते । एतत्त्रयस्वातन्त्र्ये यावत्येव त्रुटिस्तावदेव परतन्त्रं तदिति न तत्सर्वथा स्वतन्त्रमिति । अत्रेदमप्याकलनीयं रहस्यम् एषु पूर्वं पूर्वमधिकाऽधिकं प्रबलम् यत्र कोषः परिपूर्णः तत्रैव सेनाव्यवस्था सम्यग्भवति । यत्र च द्वयमिद सुव्यवस्थितं तदेव परराष्ट्र-सम्बन्धमपि सुव्यवस्थितं कर्तुं पारयति । 'परराष्ट्रसम्बन्ध' इत्यनेन बुद्धिवृत्तिसूचिता । 'सेना' इत्यनेन बलवृत्तिसूचिता । 'कोष' इत्यनेन च ऐश्वर्यवृत्तिः सूचिता । अथ चेदमपि बोद्धव्यम् । मोक्षयुगे किल सर्वेषां साम्यत्वेन परिपूर्णमविरोधि स्वाभाविकं स्वातन्त्र्यं भवति, अनन्तरं वैषम्यवृद्धिक्रमेणाऽवनतिरपि साम्यस्य भवति । अत एव मोक्षयुगं सत्यमिति कथ्यते, सत्यं-यथार्थं सत्त्वबहुलमिति यावत् । अत्र सर्वेऽप्यार्यस्वभावाः स्वभावेनैव । एतत्कृतयुगमपि कथ्यते कृतं-पर्याप्तं सर्वकामानां पारिपूर्ण्येन अस्मिन्युगे प्रायस्तृप्ता एव सर्वे भवन्ति । अथाऽनन्तरं कर्तव्यप्रधान त्रेतायुगं भवति त्रेता-अग्नित्रयम् । गार्हपत्यः, दक्षिणाग्निः, आहवनीयश्चैते ये त्रयोऽग्नयो भवन्ति एतत्त्रयमग्नीनां त्रेता इत्युच्यते । "अग्नित्रयमिदं त्रेता" (अमर 2/3/20) इत्यमरः । त्रेता पदेन कर्मकाण्डबाहुल्य सूच्यते । अत्र हि युगे कर्तव्यबुद्ध्या शुभाऽऽचरणं क्रियते न स्वभावेन । अतएवाऽत्र युगे सेना-

---

अर्थ ही सन्देह है । इस युग में सब लोग कर्तव्याकर्तव्य के विषय में सन्देह रखते हैं । अतः इस युग में अनार्यों का बाहुल्य होता है । आर्यों की विरलता होती है । अतः इस युग में कोषबाहुल्य होना स्वाभाविक है । परराष्ट्र-सम्बन्ध प्रायः उदासीन होता है । कोष के लोभ से कहीं मित्र-सम्बन्ध होता है । कोष और योग क्षेम के लिए वे लोग परराष्ट्र सम्बन्ध और सेना का सम्मान करते हैं । सुहृत्सम्बन्ध का प्रायः अभाव ही रहता है ।

सकारण मित्र-सम्बन्ध कभी-कभी होता है । सन्देह-प्रधान होने से उदासीन सम्बन्ध होता है । अतः कर्तव्यबुद्धि से भी सर्वतोभद्रनीति का प्राधान्य नहीं होता है । किन्तु कोष-लोभ से उनका उपयोग होता है । प्रायः सभी कोषलोभ में सलग्न रहते हैं । अतएव इस युग में अनार्य कर्तव्य में सन्देह करते हुए कोष के लिए संगठित होकर सेना का सम्मान करते हैं । प्रायः ये कर्तव्य-विमुख होते हैं । यहां तमोगुण मिश्रित रजोगुण की प्रधानता होती है । अतः आधिभौतिक मिश्रित आधिदैविक का प्राधान्य होता है ।

बाहुल्यं स्वाभाविकम् । परराष्ट्रसम्बन्धश्च कर्तव्य-बुद्ध्या क्रियते मित्रादि-रूपेण । सत्त्वमिश्ररजः प्राधान्यमत्र । आहार्यतयाऽऽर्याणां बाहुल्यं, स्वभावत आर्या विरलाः, कर्तव्यज्ञानायैव विशेषः सम्मानः परराष्ट्रसम्बन्धस्य । अतएव न सुहृत्सम्बन्धबाहुल्यं, किन्तुसकारणमित्रसम्बन्धबाहुल्यम् । अत-एव च न स्वभावतः सर्वतोभद्रनीतेः प्राधान्यम्, किन्तु कर्त्तव्यबुद्ध्या तस्या उपयोगः प्रायोजककर्तव्यपरायणाः सर्वे इति । अथाऽनन्तरं सन्देहप्रधानं द्वापरयुगं भवति, "द्वापरः"—सन्देहः 'सन्देहद्वापरौ चाऽथ" इत्यमरः । कर्तव्याऽकर्तव्यविषये सन्दिहाना एव प्रायः सर्वे, अतएव स्वभावतो-ऽनार्याणां बाहुल्यमत्र, आहार्याऽऽर्यत्ववतां वैरल्यम्, स्वभावत आर्याणां तु अतीव वैरल्यम्, अत एवाऽत्र युगे कोषवाहुल्यं स्वाभाविकम्, परराष्ट्र-सम्बन्धश्च प्राय उदासीनः, कोषलोभात् क्वचिन्मित्रसम्बन्धः, कोषयोग-क्षेमार्थमेव परराष्ट्रसम्बन्धस्य सेनायाश्च सम्मानः सुहृत्सम्बन्धस्य प्रायोऽभाव एव, सकारणमित्रसम्बन्धः क्वाचित्कः, सन्देहप्रधानतयैव उदासीनसम्बन्धोऽधिकः अत एव च न कर्तव्यबुद्ध्याऽपि सर्वतोभद्रनीतेः प्राधान्यं, किन्तु कोषलोभेन तस्या उपयोग इत्यत एव सङ्घबाहुल्यम् । प्रायोऽत्र कोषलोभपरायणाः सर्वे, अत एवाऽत्र युगे स्वभावतोऽनार्याः कर्तव्ये सन्दिहानाः कोषायैव सङ्घीभूताः सेनायाः सम्मानमाचरन्ति, कर्तव्यविमुखा एव प्रायः सर्वे इति । तमोमिश्ररजः प्राधान्यमत्र, अत एवाऽधिभौतिकमिश्राधिदैविकप्राधान्यं च । अथाऽनन्तरं कलहप्रधानं कलियुगं भवति, कलिः—कलहः, बुभुक्षया कलहायमाना एव प्रायः सर्वे । अत एव स्वभावतोऽत्यनार्याणां बाहुल्यमत्र, वैरल्यं चाऽनार्याणाम् । आहार्याऽऽर्यत्ववतामप्यतीव वैरल्यम् । स्वभावत आर्याणां त्वदर्शनमेव ।

कलियुग लहप्रधान युग है । भूख के कारण लोग परस्पर कलह करते हैं । अतः इस में अनार्यों का बाहुल्य होता है, आर्यों का तो अदर्शन ही रहता है । इस युग में बुभुक्षा का बाहुल्य स्वाभाविक होता है । परराष्ट्र सम्बन्ध प्रायः शत्रुरूप होता है, कभी बुभक्षा की पूर्ति के लिए सकारण उदासीन भी होता है । उसकी पूर्ति से ही मित्र-सम्बन्ध अतिविरलता से होता है । बुभुक्षा-पूर्ति से ही परराष्ट्र-सम्बन्ध, सेना और कोष का सम्मान होता है । सुहृत्सम्बन्ध का अभाव ही होता है । सकारण मित्रसम्बन्ध अत्यन्त विरल होता है । बुभुक्षा-कलह की प्रधानता से शत्रुसम्बन्ध अधिक होते हैं । अतः सर्वतोऽभद्रनीति का ही प्राधान्य होता है । प्रायः सभी कलह में संलग्न रहते हैं । अतः इस युग में अनार्य व्यक्ति बुभुक्षा की

अत एवाऽत्र युगे बुभुक्षाबाहुल्यं स्वाभाविकं, परराष्ट्रसम्बन्धश्च शत्रु-रूपः प्रायः बुभुक्षापूर्त्यै क्वचित्सकारण उदासीनोऽपि, तत्पूर्त्या एव मित्र-सम्बन्धोऽप्यतिवैरल्येन, बुभुक्षापूर्त्या एव परराष्ट्रसम्बन्ध-सेना कोषाणां सम्मानः, सुहृत्सम्बन्धस्य त्वत्यन्ताऽभाव एव, सकारणमित्र-सम्बन्धोऽतीव विरलः, बुभुक्षाकलहप्रधानतयैव शत्रुसम्बन्धोऽधिकः, अत एव सर्वतोऽभद्रनीतेरेव प्राधान्यं, प्रायोऽत्र कलहपरायणाः सर्वे, अत एवाऽत्र युगे स्वभावतोऽत्यनार्या व्यक्तिबुभुक्षापूर्त्यै सङ्घानपि विभिद्य विभिद्य परान् दासीकर्तुं सेनायाः कोषस्य न सम्मानं कुर्वते । इत्यतो वैयक्तिकताबाहुल्यं, सङ्घानां वैरल्यम् । कर्तव्याऽनादर एव सर्वत्र, सङ्घस्वार्थाऽऽदरः क्वाचित्कः, तमस एव प्राधान्यं, अतएव चाऽधि-भौतिकताऽऽधिक्यमपि । व्यक्तिबुभुक्षाशान्त्यै एव सर्वे कलहाः, तदर्थमेव कोषादीनामनादरः दासानां बाहुल्यम् । एवमियं युगचतुष्टयी व्यवस्था । कलियुगान्ते च सर्वक्षयस्ततः पुनः सत्ययुगं प्रादुर्भवतीति । एव च, स्वाभा-विकमेतत्त्रयं यत्र राष्ट्रे राष्ट्रियाणां करगतं तद्राष्ट्रमेव परिपूर्णस्वतन्त्र-तया परिपूर्णमार्यम् । एतादृक् च परिपूर्णं स्वातन्त्र्यं न च पूर्णमार्यत्वम् अतएव पूर्णशान्तियुगं ब्राह्मयुगं प्रथमम्, आंशिकशान्तिप्रधानं क्षात्रयुगं द्वितीयम् । आंशिकाऽशान्तियुगं वैश्ययुगं तृतीयम् पूर्णाऽशान्तियुगं चतुर्थम् । एवं चैतेनेदमपि ध्वनितं यत् ये किल परिपूर्णां शान्तिमिच्छन्ति तैः सत्ययुगव्यवस्थैव प्रवर्त्तनीया इति । अस्त्वलमनेनाधिकेन ॥22॥

पूर्ति के लिए संघों को तोड़कर दूसरों को दास बनाने के लिए सेना और कोष का सम्मान करते हैं । अतः वैयक्तिता की अधिकता, संघों की विरलता, कर्त्तव्य का अनादर, तमोगुण का और अधिभौतिकता का प्राधान्य होता है । व्यक्ति-बुभुक्षा की शान्ति के लिए ही सारे कलह होते है और उन्हीं के लिए कोषादि का अनादर और दासों का बाहुल्य होता है ।

कलियुग के अन्त में सब का क्षय हो जाता है । पुनः सत्ययुग का प्रादुर्भाव होता है । जहां ये तीनों (परराष्ट्र सम्बन्ध सेना और कोष) राष्ट्रियों के हस्तगत होते है, वहां पूर्ण स्वातन्त्र्य से युक्त पूर्ण आर्यराष्ट्र होता है । ऐसा परिपूर्ण स्वातन्त्र्य सत्ययुग में ही होता है । अन्य युगों में न पूर्ण स्वातन्त्र्य होता है । और न पूर्ण आर्यत्व । अतः प्रथम पूर्ण शान्तियुग ब्रह्मयुग होता है । द्वितीय आंशिक शान्ति युग वैश्ययुग होता है । पूर्ण अशान्ति युग शुद्र युग होता है । अतः जो पूर्ण शान्ति चाहते हैं, उन्हें सत्ययुग की व्यवस्था में प्रवृत्त होना चाहिए ।

एवं स्वतन्त्रराष्ट्रलक्षणं निरूप्य तन्माहात्म्यं निरूपयितुमाह—

स्वतन्त्रमेतत्त्रयं स्याद्यत्र राष्ट्राणि तानि तु ।।
राष्ट्रसंख्यां हि गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ।।23।।

[जिन राष्ट्रों में ये तीनों वस्तुएं स्वतन्त्र होती हैं, वे ही राष्ट्र राष्ट्रों की गणना में आते हैं। तथा महान् यश को अपनी ओर खींचते है ।।23।।

स्वतन्त्रमिति । एतत्–त्रयं–यत्र–स्वतन्त्र–स्यात्–तानि–तु–राष्ट्राणि (भवन्ति) हि–राष्ट्रसङ्ख्यां–गच्छन्ति–महद्–यशः सुकर्षन्ति च । इति पदयोजनिका ।

'एतत्'–अधुनैवोक्तं, 'त्रयं'–परराष्ट्रसम्बन्धसेनाकोषेति त्रयं, 'यत्र'-राष्ट्रे 'स्वतन्त्र'–चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनामधीनं 'स्यात्'–भवेत् यदि इति शेषः 'तु'–र्ताह 'तानि'–पूर्ववर्णितानि 'राष्ट्राणि'–पूर्वोक्तलक्षणलक्षितानि भवन्ति 'हि'–एतद्युक्तमेव 'राष्ट्रसङ्ख्यां–राष्ट्राणां–पूर्वलक्षितानां मध्ये संख्या गणना तां 'गच्छन्ति'–यान्ति, महत्'–पूज्यं विस्तृतं वा 'यशः'–कीर्त्ति 'कर्षन्ति प्राप्नुवन्ति 'च' ।

अयमभिप्रायः–साधारणजनाऽनुल्लंघ्यस्थावरपदार्थविशेष विशिष्टसीमाभिः सीमितो मनुष्याऽधिष्ठितो भूप्रदेशो राष्ट्रमिति पूर्वमुक्तम् । राष्ट्रशब्दः किल 'राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात् "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" (उ. सू.) इत्यनेन ष्ट्रन्प्रत्यये सिद्ध्यति । राजमानमित्यर्थः । अथवा रञ्जयति लोकान् स्वकीयस्थावरजङ्गमपदार्थैः तत् इति । परतन्त्रं खलु किं राजमानं भवेत् किं वा रञ्जनं भवेत्, इति परतन्त्रे राष्ट्रे गौण एव राष्ट्रशब्दः,

---

स्वतन्त्रराष्ट्र का निरूपण करके अब स्वतन्त्रराष्ट्र के माहात्म्य का निरूपण किया जा रहा है :—

कारिका–23

सामान्य जन से अनुल्लेखनीय स्थावर पदार्थ विशेष की सीमाओं से सीमित मनुष्यों से अधिष्ठित यह भू-प्रदेश राष्ट्र कहलाता है । राजृ दीप्तौ से ष्ट्रन् प्रत्यय करके बने राष्ट्र का पदार्थ यही है कि जो अपने स्थावर-जंगम पदार्थों से लोगों को आनन्दित करे, वही राष्ट्र है । परतन्त्र राष्ट्र क्या तो सुशोभित होगा और क्या लोगों को आनन्दित करेगा ? परतन्त्र राष्ट्र में राष्ट्र शब्द गौण होता है । स्वतन्त्र राष्ट्र के अर्थ में राष्ट्र शब्द का प्रयोग होना चाहिए । इस सम्पूर्ण जगतीतल में अनेक राष्ट्र हैं । उनमें परतन्त्र राष्ट्र की नहीं, पृथक्शः स्वतन्त्र राष्ट्रों की ही गणना होती है । अप्रधान राष्ट्रों की पृथक् से गणना कहीं भी

स्वतन्त्रे तु राष्ट्रशब्दः, पूर्णतया सङ्गच्छते इत्याह—स्वतन्त्रमिति। एतत् त्रयं स्वतन्त्रं स्याद्यत्र राष्ट्रे तानि तु राष्ट्राणि राष्ट्रेषु गणनामवश्यं गच्छन्त्येव। अत एव च महद्–विशालं, पूज्यं च यशः 'कर्षन्ति'–आकर्षन्ति। अयमाशयः–जगतीतलेऽत्र निखिलेपि खलु वर्तमानेषु अनेकेषु राष्ट्रेषु यानि खलु राष्ट्रसङ्ख्यां गच्छन्ति तान्येव राष्ट्राणि भवितुमर्हन्ति। राष्ट्रगणनाऽवसरे हि परतन्त्राणां न गणना भवति पार्थक्येन। पार्थक्येन गणना तु स्वतन्त्राणामेव भवति। उचितमप्येतत्। यदधीना ये भवन्ति तेषां गणनयैवाऽधीनानामपि गतार्थत्वात्। अत्र हि बीजमिदम्—अप्रधानानां न क्वाऽपि पृथक् गणना दृश्यते, यथा करचरणाद्यवयवैः सम्पूर्णोऽवयवी यत्र गणना विषयस्तत्र नाऽवयवानां पृथक् गणना क्रियते सुखदुःखादिविषये अवयवानामवयव्यधीनतया सुखदुःखादिविषय अवयव्येव पृच्छयते नाऽवयवास्तेषां परतन्त्रतया जडत्वात्। एवमेव यानि राष्ट्राणि परतन्त्राणि तान्यवयवसमानि पारतन्त्र्यकर्तुः। पारतन्त्र्यकर्ता किल, आर्यराष्ट्रवादी तु नैव सम्भवति, आर्यराज्यवादी, अनार्यराष्ट्रवादी, अनार्यराज्यवादी चेति त्रयः सम्भवन्ति, सर्वथाऽपि शासकानां पार्थक्येण गणना भवति राज्ञां राष्ट्राणां वा। अवयवितया तेषां को वा तानगणयितुं प्रभवेत्। शास्यानामवयवानां पुनरवयविगणनयैव गतार्थतया सर्वेऽपि तान्यगण्यान्येवेत्यगणयितुं प्रभवन्त्येव। स्वस्वामिभाव सम्बन्धेन सम्बन्धिनोः पदार्थयोः स्वाम्येव सर्वैः सम्मान्यते। दासः खलु निजस्वाम्यनुज्ञामन्तरेण न किंचिदपि कर्तुं प्रभवतीति स निःस्वतया सर्वदा नगण्य एव। अत एवोक्तं—

नहीं होती है। जैसे करचरणादि अवयवों से पूर्ण अवयवी की जहां गणना होती हैं, वहां पृथक् से अवयवों की गणना नहीं होती। सुख-दुःख आदि के सन्दर्भ में अवयवी ही पूछा जाता है, अवयव नहीं, क्योंकि अवयव परतन्त्र तथा जड़ होते हैं। अतः जो राष्ट्र परतन्त्र होते हैं, वे जड़ के समान होते हैं। और वे पारतन्त्र्याकर्त्ता के अवयव के समान होते हैं।

आर्यराष्ट्रवादी कभी किसी को परतन्त्र नहीं करता है। आर्यराज्यवादी अनार्य राष्ट्रवादी और अनार्य राज्यवादी—ये तीनों पारतन्त्र्यकर्ता हो सकते हैं। शासकों में राजा और राष्ट्र की पृथक्शः गणना होती है। स्वस्वाभिमान सम्बन्ध से सम्बन्धी पदार्थों में स्वामी ही सम्मानित होता हैं। दास तो अपने स्वामी की अनुज्ञा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकता। राष्ट्रों की गणना में स्वातन्त्र्य ही करण होता है।

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाऽधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् । (मनु 8/416)

परतन्त्रं राष्ट्रं राष्ट्रसङ्ख्यां नैव गन्तुमर्हम् । यत् राष्ट्रं गणनाऽवसरे न गण्यते तत्किं राष्ट्रम् । उक्तमपि--

गुणिगणगणनाऽऽरम्भे न पतति कठिनी ससंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम ॥

निष्फलकोपप्रसादस्य राष्ट्रस्याऽपि नाम गणना राष्ट्रे चेद्भवति तदा राष्ट्रशब्दार्थ एव निरर्थकः स्यादिति भावः । अतो राष्ट्राणां मध्ये गणानायै किल स्वातन्त्र्यमेव कारणम् । परराष्ट्रसम्बन्धः सेना कोषश्चैतेषां त्रयं एतत् पूर्वकारिकानिरूपितं यत्र राष्ट्रेषु चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनां सर्वथा करगतं भवति तान्येव स्वतन्त्राणीति सफल-कोप-प्रसादवन्तीति, अवर्याविरूपाणीति, स्वामि-रूपाणीति, राजमानतयाऽन्वर्थनामधेयेषु राष्ट्रेषु गणनामवश्यमेव गच्छन्ति, अत एव च पूजनीयं, स्वातन्त्र्यवत्तया सत्कारयोग्यं, सर्वत्र भू-मण्डले विस्तृततया च महद् यशः कर्षन्ति । अथवैवमपि व्याख्येयेयं कारिका–एतत् त्रयं स्वतन्त्रं यत्र स्याच्चेत् तर्हि निश्चयेन महद्यशः कर्षन्ति राष्ट्रसङ्ख्यां गच्छन्ति तानि राष्ट्राणि भवन्ति । अत्र 'गच्छन्ति' 'कर्षन्ति' इति द्वयमपि शत्रन्तं प्रथमाबहुवचनम्। अयमभिप्रायः–महद् यशः किल न साधारणैः प्राप्यते कर्षणं तु दूरापास्तम् । साधारणयशःकर्षणेनाऽपि न राष्ट्र–संख्यायां समावेशो भवतीत्यपि ध्वनितम् । 'कर्षन्ति' इति पदं च राष्ट्रनिष्ठां कर्षणस्वातन्त्र्यकलां बोधयति, तेन यशसः कर्षणे य एव कारणताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य व्यापारः स सर्वोऽप्यावश्यक एवेति बोध्यते । अन्यथा महद्यशः प्राप्तिर्न सम्भाव्यते । इदं च खलु व्यज्यते 'कर्षन्ति' इति पदेन-प्राप्तिस्तावत् कस्याऽपि वस्तुनो द्विविधा, काचित्पराऽधीना काचिच्च

परतन्त्र राष्ट्र को राष्ट्र नहीं कहा जा सकता है । जो निग्रह और अनुग्रह शक्ति वाले स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, वे ही यश को आकर्षित कर सकते हैं । राष्ट्रवादी आर्य निग्रहवान् होकर भी अनुग्रह-परायण होते हैं, क्योंकि उनका यह स्वभाव ही होता है । राज्यवादी तो पुण्य यश के लाभ के लिए कर्त्तव्य–परायण होकर कृत्रिमता से अनुग्रह करते हैं । इनका अनुग्रह न्यून और निग्रह अधिक होता है । ब्राह्मणस्वभाव आर्यराष्ट्रवादी ही युक्तयोगी होते हैं । अतः वे सत्ययुगप्रवर्तक होते हैं । क्षत्रिय स्वभाव आर्यराज्यवादी युञ्जान योगी होते

स्वाऽधीना, पराऽधीना प्राप्तिः, किम्प्राप्तिः, स्वाऽधीना प्राप्तिः सम्प्राप्तिः, कर्षणं तु स्वाधीनेष्वेव विलसति, किं च 'कर्षन्ति' पदं कर्षणसाधनभूतां निग्रहशक्तिमप्याक्षिपति । इदमाकूतम्—यानि किल राष्ट्राणि निग्रहशक्तिमन्ति स्वातन्त्र्येण तान्येव यशः कर्षणाय सम्पद्यन्ते, परमनार्यराष्ट्राण्येवैतादृशीति ध्वननायाह 'महद्' इति 'महत्'–पुण्यं यशः कर्षन्ति । अयं भावः–निग्रहशक्त्या किल स्वतन्त्रराष्ट्राणि यशसः कर्षणायाऽवश्यं प्रभवन्ति परं न पुण्ययशसः । पुण्यस्य पुनर्यशसः कर्षणायाऽनुग्रहशक्तेरेवाऽवश्यकतेत्यनुग्रहशक्त्या कर्षणं ध्वनितं 'महद्' पदेन । एवं चेदमवगम्यते–निग्रहाऽनुग्रहयोः सर्वथा स्वतन्त्राणि यानि राष्ट्राणि तान्येव महद् यशःकर्षन्ति सन्ति राष्ट्रेषु सफलकोपप्रसादवत्तया गणनां गच्छन्ति सन्ति निश्चयेनाऽन्वर्थनामानि राष्ट्राणि भवन्ति । अयमभिप्रायः—यानि किल पूर्वकारिकोक्तत्रयस्वातन्त्र्यवन्ति राष्ट्राणि भवन्ति तानि निग्रहाऽनुग्रहयोरपि स्वतन्त्राणि भवितुमर्हन्ति । अत एव च तान्यनार्याणि निगृह्याऽऽर्याण्यनुगृह्य पुण्यं यशः कर्षन्त्येवेति युक्तमेव । इदमपि पुनरवधेयमेवाऽत्र—आर्याः किल निग्रहशक्तिमन्तोऽपि प्रायोऽनुग्रहपरायण दृश्यन्ते, आर्येष्वपि राष्ट्रवादिनस्त्वतीवाऽनुग्रहपरायणा भवन्ति स्वभावेनैव । राज्यवादिनः पुनः पुण्ययशोलाभाय कर्तव्यपरायणाः सन्तोऽनुगृह्णन्ति कृत्रिमतया । पूर्वाऽपेक्षयाऽत्राऽनुग्रहो न्यूनः निग्रहश्चाऽधिकः परं तु निग्रहोऽपि कर्तव्यबुद्ध्येति परिणामे सोऽप्यनुग्रहकल्पतामापद्यते । पूर्वे हि ब्राह्मणस्वभावाः अपरे क्षत्रस्वभावाः। अत एवाऽनयोर्नीतिरपि न भेददण्डप्रधाना, किन्तु सामदानप्रधानैव । साम—सान्त्वं, एतच्च विशिष्टबुद्धिमत्पुरुषशक्त्यधीनं भवति । आर्यराष्ट्रवादिनः किल प्रायो युक्तयोगिनः । अत एव ते सत्ययुगप्रवर्तकाः समस्तवस्तुज्ञानविज्ञानशालिन इति साम्नैव सर्वाण्यपि कार्याणि सम्पादयितुं प्रभवन्ति । ते हि सामकुशला अतीव सत्त्व-

---

है । ये त्रेतायुग के प्रवर्तक होते है । समस्त वस्तुओं के ज्ञान-विज्ञान साधक ये सभी कार्य दान से ही कर सकते हैं ।

पात्रापात्र का पर्यालोचन करके यथायोग्य वस्तु का वितरण करना ही दान है । दान से सम्पूर्ण लोक पर अनुग्रह किया जा सकता है । क्षत्रिय युञ्जान होने के कारण सिद्ध नहीं, साधक होता है । अतः पूर्णकाम नहीं होता है । जो न अपने कर्तव्य का पालन करे और न कल्याण की कामना करें, वह युक्त योगी

प्रधानाः सर्वदा सत्यस्वरूपाः, अधमादप्यधमं स्वेच्छयैव स्वसारूप्यं दातुं प्रभवन्ति । तत्र हि ते सिद्धहस्ता मताः। अपरे क्षत्रियस्वभावा आर्यराज्यवादिनः पुनः प्रायो युञ्जानयोगिनः, अत एव ते त्रेतायुगप्रवर्तकाः कर्तव्यप्रधानाः । समस्तवस्तुज्ञानविज्ञानसाधका इति दानेनैव सर्वाण्यपि कार्याणि कर्तुं प्रभवन्ति । दानं हि नाम पात्राऽपात्रपर्यालोचनया यथायोग्यं वस्तुवितरणम् । दानेन हि सर्वो लोकोऽनुग्रहीतुं शक्यते । क्षत्रियः किल युञ्जानतया न सिद्धः, किन्तु साधकः । अत एव न स पूर्णकाम इति साशंसः सः । अत एव योग्यामाशंसां सर्वेषां पूरयन्नयं स्वयमपि पूर्णकामो भवति । लोकानप्ययं दानेनाऽनुगृह्णन् स्वयमप्ययं तान् स्वसारूप्यप्रदानाय प्रभवति । लोककर्तव्याणामयं रक्षक इति यथायोग्यमनुग्रहाय कर्तव्यविरोधिनं निगृह्णाति पुण्ययशोलाभायाऽयशसो नरकस्य च निवारणाय । सम्भावितोऽयं कर्तव्याऽपरपर्यायिधर्मपरायणः । अयं हि स्वमरणमपि श्रेयो मन्यतेऽयशसः । गीतास्वप्युक्तम्—

सम्भावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते । (भ. गी. 2.34)

यो हि न कर्तव्यं पालयति निःश्रेयसकामः सन्नपि स नाम कथं युक्तयोगी भवेत् । अत एव साधकस्य सर्वत्राऽपि अप्रमादित्वमावश्यकं कर्तव्येषु । अत एवोक्तं श्रीमद्भगवद्गीतासु—

युक्ताऽहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।(गी. 6.17)

एवं च दानं किल अस्वाभाविकं वशीकरणम् । परमेतेनाऽपि महतो यशसः प्राप्तिर्भवति । अनुग्रहप्राधान्यात् । कर्तव्ये प्रमाद्य पुनरन्यथा फलनिष्पत्तिरवश्यं भाविनी । अत एवोक्तं मनुनाऽपि—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाऽप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।। (मनु. 8.128)

एतद् द्वयमपि निवृत्तिप्रधानम् । तत्राऽपि क्षत्रिये कृत्रिमा निवृत्तिः ।

कैसे हो सकता है ? अतः साधकों के लिए वस्तुओं में सर्वत्र अप्रमाद आवश्यक है । दान एक प्रकार से अस्वाभाविक वशीकरण है । अनुग्रह का प्राधान्य होने के कारण इससे भी महान् यश की प्राप्ति होती है । कर्त्तव्य में प्रसाद रखने से अन्यथाफल की निष्पत्ति होना स्वाभाविक है ।

अनुग्रह-शक्ति-सम्पन्न अनार्य उसकी अवहेलना करते हैं । क्योंकि वे उसके आनन्द को नहीं जानते । वे यश तो प्राप्त करते हैं, पर अधिक नहीं, क्योंकि

ब्राह्मणे च स्वाभाविकी निवृत्तिः । स्वभावतो निवृत्तिमान् ब्राह्मणः । आहार्यनिवृत्तिमान् क्षत्रियः । अनुग्रहशक्तिमन्तोऽपि तामवहेलयन्तोऽनार्या किल सर्वदा दृश्यन्ते । यतः खल्वनुग्रहशक्त्युपयोगाऽऽनन्दाऽनभिज्ञास्ते । अत एव ते पूर्वकारिकावर्णितत्रितयस्वातन्त्र्यवन्तो यशोऽवश्यं कर्षन्ति परं न तन्महत् कुतः, अनार्यतया, यतः किलाऽनार्याणां स्वतन्त्राणां पुरस्तात् तेभ्यो भीतभीता लोका दुर्गुणानपि सुगुणतयाऽवश्यं वर्णयन्ति, परोक्षं पुनस्तेषां सर्वानपि दोषान् वर्णयन्ति । अथोपर्युपरि तु पुरस्तेषां तानभिनन्दन्ति, परं हृदयेन तु तेभ्यो द्रुह्यन्त्येव लोकाः । अत एवैते भेद-दण्डप्रधानाः । एतेषु हि राष्ट्रवादप्रधाना अनार्या भेदनीतिप्रधाना धन-लोभेन कर्तव्यविमुखान् विदधतो नानाविधार्थरुचिमुत्पादयन्तो विभिद्य विभिद्य परानार्यान् स्वसङ्घान् विरचयन्तः, आर्यान् अनुग्रहव्याजान्नि-गृह्णन्ति । अत्र हि कृत्रिमोऽनुग्रहः परिणामे निग्रहः । भेदेनवैते सर्वान् वशीकुर्वन्ति । अत्र हि सामदानयोरपि प्रयोगो भेदायैव विधीयते । अनु-ग्रहोऽपि निग्रहायैव । भेदः—भेदनं कर्तव्यपराङ्मुखीकरणमिति यावत् । अयमभिप्रायः अर्थलोभादिना अकर्तव्येषु रुचिमुत्पाद्य, कर्तव्याद्भेदनं कुर्वन्ति । अत एवैते द्वापरयुगप्रवर्तकाः । अयमभिप्रायः— राज्यवादिनः कर्तव्ये सन्देहमुत्पाद्य भिन्द्यन्त एभिरनार्यैः । अथ च रुचिपूरणमर्थमुपा-र्जितुं स्वसम्मतस्याऽनुकूल्यं लोकान्प्रदर्शयितुं सङ्घीभवन्ति । सङ्घी-भूताश्च कर्तव्यपरायणं राजानं स्वमार्गकण्टकमिति मत्वान्यायव्याजेन निगृह्णन्ति । एते किल दण्डोन्मुखाः न दण्डप्रधानाः । अत एवैते परान् भिन्दन्तस्तैरपि शत्रुभूतैर्भिद्यन्ते परिणामे । अत एते वैश्यस्वभावाः । एवं चैते परस्परं भिन्दन्तो भिन्नभिन्नतामुपगच्छन्ति । रुचिश्च बुभुक्षायां परिणमते । सा च निग्रहायैव निग्रहं कारयति । अत एवैतेऽति प्रवृत्ति-मन्तोऽतीव भिन्नभिन्ना दण्डनीतिप्रधाना भवन्ति । कलियुगप्रवर्तका

स्वतन्त्र अनार्यों के समक्ष भयभीत होकर दुगुणों को सुगुण की भांति वर्णित करते हैं और परोक्ष में सभी दोषों का वर्णन करते हैं । लोग उपर-उपर से उनका अभिनन्दन करते हैं, किन्तु हृदय से द्रोह करते हैं । अतएव ये भेददण्ड-प्रधान होते हैं । इनमें राष्ट्रवाद प्रधान अनार्य अर्थलोभ से अकर्त्तव्य में रुचि उत्पन्न करके कर्त्तव्य का भेदन कर देते है । अतः वे द्वापर युग के प्रवर्तक हैं ।

ये दूसरों में भेद उत्पन्न करते हैं और अन्त में शत्रु इनका भी भेदन कर देते हैं । ये वैश्यस्वभाव होते हैं । इनकी रुचि बुभुक्षा में होती है । अतिप्रवृत्ति से

एते। अत एवैते शूद्रस्वभावाः केवलमिन्द्रियभोगपूरणायैव सर्वमपि कुर्वते। वैश्यस्वभावा हि कर्तव्यविषये मूढा इति कर्तव्यविमुखा भूत्वाऽकर्तव्यमनुतिष्ठन्ति। एते पुनरकर्तव्येष्वेवाऽभिनिविष्टाः। अत एव परस्परं दण्डयन्ति। यथेच्छाचारितां च प्रचारयन्ति। अत एव दण्डेनोद्विग्नाः सर्वतो नष्टा भवन्ति। यमेवैते दण्डं बहु मन्यन्ते। स दण्ड एवैतान् वशयति। अयं निग्रह एवैतान्निगृह्णन् द्रागेव कांचित्परमकल्याणकारिव्यवस्थायै प्रेरयति। ततश्च ते सर्वेऽपि आत्मानं पीडितं मन्यमाना इतरान्दुष्टा इति निग्रहीतुं भगवन्तं प्रार्थयमानाः सर्वेऽपि निगृहीताः पापक्षयं गच्छन्ति। अथ च शुद्धीभूताः पुनः समस्ताननुग्रहीतुं प्रार्थयन्ते भगवन्तम्। अत एव पुनः सर्वेऽपि सुहृद्भावेन सङ्घीभूताः समस्तकल्याणाकाङ्क्षिणो भवन्ति। त एवैते सामप्रधाना आर्यराष्ट्रवादिनो भवन्ति इति। एवं च त्रयमप्येतत् स्वतन्त्रं यत्र राष्ट्रेषु तान्येव राष्ट्राणि महद्यशः कर्षन्ति राष्ट्रसङ्ख्यां गच्छन्ति इति सर्वं रमणीयम् ॥23॥

इदमप्यत्र बोध्यम्—भाषैक्यं राष्ट्रं सङ्ग्रथ्नाति, राष्ट्रियेषु परस्परमाचारविचाराऽऽदानप्रदानैः प्रेमाणमुत्पादयति राष्ट्रे स्वत्वमुत्पादयति। अतश्च राष्ट्रसङ्घट्टनाय एकस्या राष्ट्रभाषाया अतीवाऽवश्यकताऽऽस्तीत्यलम्।

एवं स्वतन्त्रराष्ट्रलक्षणं 'परराष्ट्रस्य' इति कारिकायां (रा. 22) उपपाद्य तत्फलमपि 'स्वतन्त्र (रा. 23) इत्यनया सम्यगुपपादितम्। इदानीं पुनः सुव्यवस्था–सम्पादनाय परस्परमैकमत्यमेव क्षममिति विज्ञाय ऐकमत्यस्थापनाय च परस्परमाचारविचारादानप्रदान्यावश्यकानीति पर्यालोच्य तेषामपि साधनं भाषैवेति समाकलय्य, भाषैक्यं कर्तुं तच्छिक्षां सक्रमामुपपादयन्नाह—

युक्त ये दण्डनीति-प्रधान होते हैं। ये कलियुग के प्रवर्तक होते हैं। अतः शूद्र-स्वभाव के होते हैं। केवल इन्द्रिय-भोग की पूर्ति के लिए सब कुछ करते हैं। वैश्यस्वभाव तो मूढ होते हैं। कर्त्तव्य से विमुख होकर अकर्त्तव्य करते हैं। परस्पर दण्ड का आश्रय लेते हैं। स्वेच्छाचारिता का प्रचार करते हैं। दण्ड से ही उद्विग्न होकर नष्ट हो जाते हैं। चूंकि ये दण्ड को बहुत मानते हैं, वह दण्ड ही इन्हें नष्ट कर देता है। यही निग्रह इन्हें परमकल्याणकारी व्यवस्था के लिए प्रेरित करता है। तत्पश्चात् वे सब अपने को पीड़ित मानकर दूसरों को दुष्ट रूप से निग्रह करने के लिए भगवान् की प्रार्थना करते हुए निग्रह में पड़कर

मनुष्यमात्रः स्वामादौ राष्ट्रभाषां ततोऽभ्यसेत् ।।
ततो धर्म्यग्रन्थभाषां ततोऽन्या राष्ट्रपोषिणीः ।।24।।

[सभी मनुष्य अपनी भाषा (मातृभाषा) को सबसे पूर्व पढ़ें, तदनन्तर राष्ट्र-भाषा का अभ्यास करें। उसके पश्चात् धर्म्यग्रन्थभाषा का, तदनन्तर राष्ट्र को पोषण करने वाली अन्यान्य भाषाओं का अभ्यास करें ।।24।।]

[मनुष्यमात्र इति । मनुष्य मात्रः—आदौ स्वां–ततः—राष्ट्रभाषां – ततः-धर्म्यग्रन्थभाषां ततः—राष्ट्रपोषिणीः—अन्याः – अभ्यसेत् । इति पद योजनिका ।]

मनुष्यमात्रः—कृत्स्नो मनुष्यो मनुष्यमात्रः 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ् मात्रचः" (पा. सू. 5.2.30) इति मात्रच् प्रत्ययः मनुष्यताऽवच्छेदकाऽव-च्छिन्न इति भावः । यद्यपि मात्रपदाऽभावेऽपि जातिवाचकत्वमङ्गीकृत्य निरुक्तोऽर्थो लब्धुं शक्यस्तथाऽपि सर्वेषां मनुष्याणां भाषा-शिक्षाया आत्य-न्तिकीमावश्यकतां द्रढयितुं मात्रपदं पुनरपि दत्तम् ।

"आदौ" - प्रथमं कस्मादादाविति विषये सर्वस्मादप्यादाविति लभ्यते तेन सर्वतः पूर्वं इति निश्चीयते बाधकाऽभावात् । स्वां-स्वकीयां स्वकीयत्वेनाऽभिमतां भाषामिति शेषः । "ततः"—स्वभाषाया अनन्तरं राष्ट्रभाषां राष्ट्रस्य पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य भाषा –स्वाऽभिप्राय-प्रकाशनस्य शब्दमयं साधनं तम् "ततः—तदनन्तरं "धर्म्यग्रन्थभाषां धर्मात्—(रा. 1) पूर्वोक्तलक्षणलक्षितात् अनपेताः धर्म्याः "धर्मपथ्यर्थ-

---

पापक्षय को प्राप्त होते हैं। फिर शुद्ध होकर सभी पर अनुग्रह-हेतु भगवान् से प्रार्थना करते हैं। अतः फिर सभी मित्रभाव से संगठित होकर कल्याण के आंकाक्षी होते हैं। ये ही सामप्रधान आर्य राष्ट्रवादी होते हैं।

पारस्परिक ऐकमत्य, आचार-विचार और आदान प्रदान आदि का साधन भाषा ही है। भाषा की एकता के लिए उसकी क्रमपूर्वक शिक्षा का उपपादन किया जा रहा है–

कारिका–24

यद्यपि जातिवाचक मनुष्य पद से ही निरुक्त अर्थ निकल जाता है, पुनः मात्रच् प्रत्यय का प्रयोग, "सभी मनुष्यों के लिए राष्ट्रिय–शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है" इस भाव को दृढ़ करने के लिए किया गया है।

इच्छा दो प्रकार की होती है। आशंसा तथा बुभुक्षा । आशंसा को आर्या इच्छा कहा गया है। यह ज्ञान-विज्ञान से अनुस्यूत है। बुभुक्षा को अनार्या इच्छा कहा गया है, जो क्रिया तथा विक्रिया से अनुस्यूत है।

न्यायादनपते" (पा. सू. 4.4.92) इति यत् प्रत्ययः। तादृशाः ये ग्रन्थाः =शब्दव्यञ्जकसाधनीभूताऽक्षररचना-विशेषविशिष्टाः पुस्तकानीति यावत्। तेषु या भाषा तां "ततः"—तदनन्तरं "राष्ट्रपोषिणीः"—पूर्वोक्त लक्षणलक्षितस्य राष्ट्रस्य पोषिणीः—पुष्टिकारिणीः "अन्याः"—इतराः "अभ्यसेत्"—हृदयङ्गमाः कुर्यात् इति। "गणकार्यं सर्वमनित्यम्" इति परिभाषित्वान्न श्यन्नन्तः प्रयोगः कृतः।

अत्रेदं निगूढमाकूतम्—पूर्वं हि परिपूर्णस्याऽतएव निराशंसस्य बिन्दो नैसर्गिक्या स्वविसर्गशक्त्या स्वस्मिन्नेव कल्पित रूपेण विकास इष्यते ज्ञायते क्रियते च। ततश्च पुनः प्रतिलोमेन क्रमेण, कृतस्य ज्ञात्वा ज्ञातस्य इष्यते स्वस्मिन् अकल्पितरूपेण सङ्कोचः अयमेकः कल्पः। अस्याऽऽरम्भस्थानं समाप्तिस्थानं च बिन्दुरेव। अयं बिन्दुरेव नानाविधदर्शनैर्नानाविधो दृश्यते। एवमेव बिन्दुं कस्याऽप्यभावस्याऽनिर्धारणेन एकत्वेनाऽस्तित्वेन च मन्यन्ते सद्वादिनः। अथाऽन्ये पुनरेनमेव कस्यापि भावस्याऽनिर्धारणेन शून्यत्वेन नास्तित्वेन च मन्यन्ते। किन्तु एते एकदेशिन इति परस्परमाक्षिपन्तो वैषम्यं प्रकटयन्तो न पूर्णां शान्तिं पूर्णदृष्टिमाप्नुवन्ति। समदर्शिनः पुनः सर्वमपि पश्यन्तीति सर्वदा पूर्णशान्तिस्वरूपा इति पर शिवाऽभिन्नाः। एतत्सर्वमात्मविलासे तद्व्याख्यायां च स्पष्टम्। उक्तं च प्रस्तुतभाष्यकृतैवैतदतिसमासत आत्मविलाससंस्कृतव्याख्याया मङ्गलाचरणश्लोके यथा—

पहले पतन का निरूपण करना उचित होगा, क्योंकि बाह्य विकास पतन से ही होता है। तदनन्तर उत्थान का निरूपण करना चाहिए। इसीलिए राष्ट्र-पतन के कारणों का पहले निरूपण किया गया है, तत्पश्चात् उत्थान का। उसके लिए शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा पद से विद्या का ग्रहण किया जाता है। विद्या का व्यापार गुरुशिष्यों के मध्य सम्पन्न होता है। शिष्य ज्ञान ग्रहण करता है, गुरु ज्ञान प्रदान करता है। यह अदान-प्रदान भी साधन के बिना नहीं हो सकता, और साधन एकमात्र भाषा ही है। अपने अन्तःकरण में स्थित अभिप्राय को दूसरों के अन्तःकरण तक पहुंचाने या प्रकट करने का साधन भाषा ही होती है। सम्पूर्ण जीवलोक अपने अभ्युदय तथा निःश्रेयस (कल्याण) की कामना करता है। इसकी पूर्ति राष्ट्रभाषा से ही हो सकती। स्वराष्ट्र का ज्ञान भी शिक्षा से ही हो सकता है। शिक्षा प्राप्त करने का ज्ञान भी भाषा ही है।

भावाभावोल्लासिकलं बिन्दुगं निजमन्दिरे ।
दीव्यति स्वाऽवबोधं तन्महो वैसर्गिकं सदा ।इति।

इदमप्यत्र बोध्यम्–ज्ञानप्रधानं वर्णद्वयम् क्रियाप्रधानं च वर्णद्वयम् । तत्राऽपि ज्ञानमपि विज्ञानोन्मुखं यत्र वर्णे स क्षत्रियो वर्णः । अथ तद्विज्ञानमपि इच्छोन्मुखं यत्र स ब्राह्मणो वर्णः एवमेव क्रियाप्रधाने वर्णद्वये क्रियाविक्रियोन्मुखी यत्र वर्णे स वर्णो वैश्यवर्णः । अथ च विक्रिया इच्छोन्मुखी यत्र, स शूद्रवर्णः । अत्रेदं रहस्यमपि समाकलनीयम्–इच्छा तावद् द्विविधा आशंसा बुभुक्षा चेति भेदात् । तत्र पूर्वाऽऽर्याज्ञानविज्ञानयोरनुस्यूता । अपराऽनार्या क्रियाविक्रिययोरनुस्यूता । इदमेव वर्णचतुष्टयं ऋ ॠ ऌ ॡ इत्येवंरूपेण सिद्धसम्प्रदायमर्मविदामभिमतमत्र शिष्य जनाऽनुजिघृक्षया समासतः प्रकटितम् । अतोऽधिकं निजनाथमुखारविन्दादेवावगन्तव्यम् । अस्तु । प्रकृतमनुस्रियते । पूर्वं पतनमेव निरूपयितुं योग्यम् । यतो बाह्यविकासः पतनेनैव भवतीति । ततश्चोत्थानं निरुपणीयम् । अतएव राष्ट्रपतनकारणानि पूर्वं निरूपितानि । अनन्तरं च तदुत्थानाय शिक्षैवावश्यिकेति पूर्वं निरूपितमेव । शिक्षा नाम विद्याया ग्रहणम् । अयं हि व्यापारो गुरु शिष्या वा क्षिपति तावन्तरेणाऽऽनुपपन्नत्वात्तस्याः । 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाऽऽक्षिप्यते' इति नियमात् । शिष्येणाऽऽदीयते गुरुणा च प्रदीयते ज्ञानम् । परमिदमादानं प्रदानं च

भाषा किसे कहते हैं ? जिस क्रिया के द्वारा अपना अभिप्राय बतलाया जाय, वह भाषा कहलाती है । यह भाषा अनेक प्रकार की है । अतः अभिप्राय भी अनेक प्रकार से बतलाया जा सकता है । हाथों के संकेत से, नेत्रों के सकेत से और ध्वनि के संकेत से अपने अन्तःकरण का अभिप्राय बतलाया जा सकता है । इनमें ध्वनि का संकेत श्रेष्ठ संकेत हैं ।

ध्वनि भी दो प्रकार की है अव्यक्त एवं व्यक्त । मनुष्य से अधम कोटि के प्राणी अव्यक्त वाणी में बोलते हैं । मनुष्य में स्वातन्त्र्य का विकास अधिक हुआ है, अतः वह ज्ञानवान् है । इसी कारण से मनुष्य ध्वनि को सर्वाधिक अभिव्यक्त करने में समर्थ है । अन्तःकरण में स्थित भावों को अभिव्यक्त करने में सुव्यक्त ध्वनि समर्थ होती है । शुक (तोता) आदि भी शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करते हैं, किन्तु स्वतन्त्ररूप से नहीं । वादित्र (बाजे) आदि की अपेक्षा पशु पक्षियों की वाणी व्यक्त (स्पष्ट) होती है, परन्तु मनुष्य की वाणी तो सुव्यक्त होती है तथा सभी प्राणियों की वाणियों से श्रेष्ठ होती है । इसीलिए अपने अभिप्राय को सुव्यक्त करने के साधन को भाषा कहा गया है ।

साधनमन्तरा कथं भवेत् । साधनं चाऽत्र भाषा भवति स्वान्तः स्थितस्याऽभिप्रायस्य परस्वान्तस्थसाधनमेव भाषेत्युच्यते । इदमप्यत्र बोध्यम्—अभ्युदयनिःश्रेयसकामना किल सर्वस्यापि जीवलोकस्य भवतीति स्वभाव एव । एतत्पूर्तिश्च स्वराष्ट्र-ज्ञानाऽधीना । स्वराष्ट्रज्ञानं च शिक्षाधीनम् । शिक्षायाश्च साधनं भाषा इति । अतो भाषाविषयमधिकृत्यैव पूर्वं निरूपणं साम्प्रतम् । 'गण कार्यं सर्वमनित्यम्' इति परिभाषितत्वान्न श्यन्नन्तः प्रयोगः कृतः । अथ का नाम भाषा ? उच्यते भाष्यते-बोध्यते स्वाऽभिप्रायः अनया क्रियया सा भाषा । इयं च बहुविधा । यतः खलु स्वाऽभिप्रायबोधने बहुधा कर्तुं शक्यते । यथा हस्तसङ्केतेन स्वाऽभिप्रायः परस्य हृदये प्रकाश्यते, तथा नेत्रसङ्केतेनाऽपि स्वाशयः प्रकाशयितुं शक्यते । एवमेव ध्वनिभिरपि प्रकाश्यते । एषूत्तमं साधनं ध्वनिरित्यवगम्यते ।

परं ध्वनिरपि द्विविधः, अव्यक्तो व्यक्तश्च । मनुष्यतोऽधमकोटिकाः प्राणिनोऽव्यक्तवाचः । मनुष्यस्य स्वातन्त्र्यविकासऽऽधिक्येन ज्ञानवत्तया ध्वनिं सर्वतोऽधिकतयाऽभिव्यञ्जयितुं समर्थो भवति मनुष्यः । अतो

भाषा भी दो प्रकार की है—प्रत्यक्षवर्तिनी तथा परोक्षवर्तिनी । प्रत्यक्षवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराने में जो समर्थ है, वही भाषा है परोक्षवर्ती पदार्थों का भी ज्ञान जिससे होता है, वह लिपि है ।

प्रत्यक्षवर्तिनी भाषा स्वर, वर्ण, ध्वनिरूपा है तथा परोक्षवर्तिनी भाषा लिखित संकेतरूपा है । प्रत्यक्षवर्तिनी ध्वनिरूपा भाषा चार प्रकार की है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी । इनसे केवल चतुर्थ प्रकार की वैखरी वाणी ही व्यवहार-जगत् में प्रयुक्त होती है । अन्य प्रकारों का क्रम इस प्रकार है दृष्ट्यन्तर से सूक्ष्म सङ्कुचित स्वप्न जगत् में मध्यमा का व्यवहार होता है । इसी प्रकार दृष्ट्यन्तर से उत्पन्न सङ्कुचित सुषुप्त जगत् में पश्यन्ती स्वाभिप्राय का बोधन करती है । परा भाषा आद्या या दृष्ट्यन्तर से चतुर्थी है । वह समस्त जगत् की साम्यावस्था में इन तीनों की अतीत दशा में व्यवहृत होती है ।

सत्ययुग में लोग इन चारों प्रकार की भाषाओं में व्यवहार करने में समर्थ होते हैं । वे सामनीति से सब कुछ सिद्ध कर सकने में समर्थ होते हैं । त्रेता युग में परा भाषा के अतिरिक्त तीन भाषाओं में लोग प्रवीण होते हैं । वे दाननीति से सब कुछ सिद्ध कर सकते हैं । द्वापर युग में मध्यमा तथा वैखरी का प्रयोग प्रायः लोग किया करते हैं । अतः वे भेदनीति से अपने कार्य सिद्ध करते हैं । कलियुग

मनुष्यः सर्वानपि स्वान्तः स्थितान् भावानभिव्यञ्जयितुं क्षमते सुव्यक्त-ध्वनिव्यवहारेण। शुकादयोऽपि व्यक्तमुच्चारणं कुर्वाणा अवलोक्यन्ते। क्वचित्परं न स्वातन्त्र्येण तेऽपि कर्तुं पारयन्ति। वादित्रादिशब्दानामपे-क्षयाऽवश्यं पशुपक्ष्याऽदीनां प्राणिनां वाणी व्यक्ता, परं मनुष्यस्य तु सुव्य-क्ता इति सैव सर्वाऽतिशायनी भाषा। स्वाऽभिप्राय सुव्यक्तीकरणसाधना-परपर्याया भाषेयं द्विविधा, एका प्रत्यक्षवर्तिनो बाधनाय क्षमा, अपरा पुनः परोक्षवर्तिनः प्रबोधनायाऽपि क्षमा। तत्राऽपि प्रत्यक्षवर्तिनामेव बोधने या क्षमा सा भाषा भाषेत्युच्यते। अथैतस्याः प्रतिनिधिरूपा परोक्षानपि बोधयितुं स्थापिता भाषा लिपिरित्याख्यायते। एषा द्वि-विधाप्यत्र ग्राह्या पूर्वा हि स्वरवर्णध्वनिरूपा। परा च तद् ध्वनिबोधक-लिखितसङ्केतरूपा। अथैतयोः पूर्वा ध्वनिरूपा प्रथमतश्चतुर्धा भवति-परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीभेदात्। एतेषु प्रकारेषु चतुर्थप्रकार एवाऽति-स्थूले दृष्ट्यन्तरेणाऽतिसङ्कुचिते जाग्रज्जगति व्यवहारसाधनायते। अन्येषु प्रकारेषु पुनरयं क्रमः— सूक्ष्मे दृष्ट्यन्तरेण किञ्चित् सङ्कुचिते स्वाप्ने जगति मध्यमाया व्यवहारे साधनता। अथैवमेव कारणे दृष्टय-न्तरेणाऽतीव किञ्चित् सङ्कुचिते सौषुप्ते जगति पश्यन्ती क्षमते स्वा-ऽभिप्रायबोधनाय। परा पुनराद्या दृष्ट्यन्तरेण चतुर्थी वा तुर्यं दृष्ट्यन्त-रेण प्रथमे समस्तजगतां साम्याऽवस्थायां, अतएव एतत्त्रितयाऽतीत-दशायां व्यवहार-साधनं भवति। इदमप्यत्र बोध्यम् – सत्ययुगे चतुर्विधा-स्वपि भाषासु पटवः प्रायो लोका भवन्ति। अतएव ते सामनीत्या सर्वमपि साधयितुं प्रभवन्ति। त्रेतायुगे परां विहायाऽवशिष्टासु तिसृषु भाषासु पटवः प्रायोलोकाः। अत एव ते दाननीत्या सर्वमपि साधयितुमलं भवन्ति। अथ द्वापरयुगे मध्यमावैखर्य्योरेव प्रायोलोकाः पेशलाः। अतएव ते भेद-नीत्या निजकार्याणि साधयन्ति। कलौ युगे च वैखर्यामेव प्रायः पटवो लोकाः। अत एव ते दण्डनीत्या कार्याणि साधयितुं प्रयतन्ते। अथवैवं

में लोग वैखरी भाषा का प्रयोग करने में चतुर हैं। अतः वे दण्डनीति से कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि लोग, सत्ययुग में चार प्रकार की भाषा का प्रयोग किया करते थे। त्रेतायुग में तीन प्रकार की भाषा का व्यवहार होता था। द्वापरयुग में मध्यमा तथा वैखरी का व्यवहार होता था। कलियुग में मात्र वैखरी भाषा का व्यवहार होता है।

वैखरी वाणी भी उस-उस देश के वातावरण के कारण तथा इन्द्रियां की कुशलता के कारण अनेक प्रकार की होती है। इसी प्रकार उसकी प्रतिनिधि रूप परोक्ष व्यवहार में समर्थ लिपि अनेक प्रकार की होती है।

वक्तव्यम्–चतुर्विधभाषा व्यवहार प्रवीण लोकबाहुल्यवान् समयः सत्ययुगम् । तादृशो देशश्च सत्ययुगदेशः । परां विहाय त्रिविधभाषा-व्यवहारप्रवीणलोकबाहुल्यवान् समयस्त्रेतायुगम् । तादृशो देशस्त्रेतायुगदेशः । परां पश्यन्तीं च विहाय द्विविधभाषाव्यवहारप्रवीणलोकबाहुल्यवान् समयो द्वापरयुगम् । तादृशो देशो द्वापरयुगदेशःवैखरी । मात्रभाषाव्यवहारप्रवीणलोकबाहुल्यवान् समयः कलियुगम् । तादृशो देशः कलियुगदेशः । अत्राऽपि तारतम्यवशात् प्रकारषोडशी प्रकारद्वादशी च भवति, सा नाऽत्र प्रकटयितुं योग्या । तस्या अतिरहस्यत्वात्, प्रकटने योगिनीशापाम्नानात् । इदमपि बोध्यम्– वैखरीवागपि तत्तद्देशवातावरणवशात् करणपाटवाऽपाटववशान्नानाविधैव । एवं तत्प्रतिनिधिस्वरूपा परोक्षव्यवहारसाधनक्षमा लिपिरपि नानाविधैव कल्पिता विराजते । तत्र का प्रत्यक्षभाषा शिक्षणीया पूर्वं का च पश्चात्, अथ का च लिप्यपरपर्याया परोक्षभाषा प्रथमं शिक्षणीया का च पश्चात् इति सर्वमवश्यं निरूपणीयम् । अयमाशयः–सर्वोऽपि जीवलोकः स्वां समुन्नतिं चिकीर्षत्येव । तस्याः स्वाभाविकत्वात् । अथ तदसाधारणं कारणमपि शिक्षैव । साऽपि स्वराष्ट्रशिक्षैवेत्यादि निरूपितमेव पूर्वं "स्वराष्ट्र शिक्षांम्" (रा. 16) इत्यादिना । अथ शिक्षा साधनं भाषेति पूर्वं भाषा समभ्यसनीयेति निसर्गं समायातम् । अथ ययैव भाषया बहवो व्यवहरन्ति सैव पूर्वमभ्यसनीयेति क्रमप्राप्तमेव इत्येवं सर्वं समालोच्य कारिकाया अस्या आरम्भः क्रियते– मनुष्यमात्रेति स्वातन्त्र्य-विकासाऽऽधिक्यात् राष्ट्रोत्थाने मनुष्यमात्रस्यैवाऽधिकारात् स एवात्रोपदिश्यते । यत् मनुष्यमात्रः सर्वादौ स्वां भाषां समभ्यसेत् इति । अयमाशयः–सर्वेऽपि मनुष्याः कां नु कामपि भाषां शिक्षिष्यन्त्येवेति तु निश्चितमेव । तामन्तरेण सर्वस्याऽपि व्यवहारस्याऽनिष्पत्तेः । अतो व्यवहारसाधनाय शिक्षणीयासु भाषासु कदाचित् स्वभाषायाः कदाचिच्च परभाषाया अपि पूर्वं शिक्षा प्राप्ता अग्रेऽपि विनिगमनाविरहात् न कोऽपि सुव्यवस्थितो

प्रश्न उठता है कि कौन सी प्रत्यक्ष भाषा पहले सिखाई जाय और कौन सी बाद में ? तथा कौन सी लिपि-पर्याय वाली परोक्ष भाषा पहले सिखाई जाये और कौन सी बाद में । इन सबका निरूपण करना चाहिए ।

आशय यह है कि सभी प्राणी अपनी उन्नति चाहते हैं । शिक्षा का साधन भाषा है । जिस भाषा में बहुत से लोग व्यवहार करते है, उस भाषा को पहले सीखना चाहिए । स्वातन्त्र्य-विकास के आधिक्य के कारण राष्ट्र के उत्थ न में मनुष्य का ही प्रमुख योगदान रहता है । सभी मनुष्य कोई न कोई भाषा सीखेंगे

हितकरः क्रमो दृश्यते, इत्यत इयं पाक्षिकप्राप्ता स्वभाषा शिक्षा नियम्यते स्वसमुन्नतिमुद्दिश्य । तेन 'सर्वादौ मनुष्यमात्रः स्वामेव भाषामभ्यसेत्' इति नियमविधिरवगम्यते । एतदेव च स्वाभाविकमतएव समुन्नतेः साधनमपि । अथ च सर्वेऽपि मनुष्या अभ्यस्येयु इत्यप्यवगम्यते मात्र-पदेन । मात्र शब्दः कात्स्न्र्येऽत्र वर्तते । यतोऽवधारणं खलु तत्रैव भवितु-मर्हति यत्राऽन्ययोगप्राप्तिः, अन्ययोगं विना व्यवच्छेदस्याऽसम्भवात् । अभ्यासे मनुष्यस्यैवाऽधिकारात्तस्यैव स्वातन्त्र्यविकासात् । मनुष्येतरस्या-ऽभ्यासोपदेशाऽप्राप्तेः । मात्रपदाऽभावे मनुष्यताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्न अभ्यसेदित्येव बोध्येत, कश्चिदभ्यसेत् कश्चिच्च नाऽभ्यसेदिति, नियमयितुं मात्रपदं दत्तं, तेन सर्वेऽप्यभ्यसेयुरिति दृढीक्रियते । अभ्यासोऽपि पाक्षिकतया प्राप्तो नियम्यतेऽभ्यसेदेवेति । भाषाया अभ्यासस्ताव-न्नाप्राप्त एव क्रमेण नियम्यते । लिप्यभ्यासः पुनः स क्रमो विधीयते यत्— सर्वेऽपि मनुष्याः स्वामेव लिपिमभ्यसेयुरेवेति ।

कस्मादादाविति निर्धारणाऽभावात् सर्वस्मादिति समुपतिष्ठते । अथ स्वामेवेति तु ज्ञातं, परं स्वा केति नाऽवगतं तत्रोच्यते—अग्रे 'राष्ट्र-भाषाम्' 'धर्म्यभाषाम्' इति कथितं, तेनेदमवगम्यते यत् स्वराष्ट्रैकदे-शावच्छिन्नः स्वपित्राद्यभिजनजन्मभूभागः स्वः तत्रत्या या बहुजन-सम्मता भाषा सा स्वा भवितुमर्हति । यया पित्रादयो व्यवहरन्ति गृहे । सा द्विविधाऽपि सर्वादौ शिक्षणीया । 'अनन्तरं राष्ट्रभाषां अभ्यसेत्', अत्राऽपि स्वां राष्ट्रभाषां इति व्याख्येयमेव । अन्यथा महत्येवाऽनवस्था स्यात् इति । चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि स्वकीयं राष्ट्रं यथा प्रचुरं व्यवहरति सा स्वा राष्ट्रभाषा भवति । अयं भावः--पूर्वोक्तलक्षणे स्वराष्ट्रे या बहुजनसमाजव्यवहारसाधनं भवति, सा राष्ट्रभाषा भवतीति ता-मधीयीत । अथाऽनन्तरं 'धर्म्यग्रन्थभाषाम्' अभ्यसेत् । अत्राऽपि स्वामित्यु-

ही । उसके बिना किसी प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकता । अतः मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी भाषा का अभ्यास करना चाहिए । यह स्वाभाविक भी है तथा समुन्नति का साधन भी है । अभ्यास करने में मनुष्य का ही अधिकार है, क्योंकि स्वातन्त्र्य-विकास मनुष्य का ही हुआ है । लिप्यभ्यास में ही यही क्रम है कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपनी ही लिपि का अभ्यास करना चाहिए । अपने राष्ट्र में बहुजन-समाज-व्यवहार की साधन राष्ट्रभाषा होती है । उसी का अध्ययन करना चाहिए । राष्ट्रभाषा के बाद अपनी धर्म्यभाषा का भी अभ्यास करना चाहिए । धर्म से जो अदूरीभूत हो, उसे धर्म्य कहा गया है । अपने-अपने वर्णाश्रम, आचार के अनुकूल सम्पूर्ण लोक कल्याणकारी व्यवस्था के अनुकूल किया जाने वाला जो कार्यकलाप है, वही धर्म है । इस प्रकार के धर्म को बतलाने वाले जो ग्रन्थ हैं, वे

पतिष्ठत एव। धर्मात् अदूरीभूताः धर्म्याः। धर्मलक्षणमुक्तं (रा. 3) कारिका-भाष्ये (रा. 1) कारिका-भाष्ये च। विस्तृतं च निरूपितं धर्म-पदार्थ-विषये 'कलायाम्' कल्याणसौगन्धिक-व्याख्यायामिति तत एवाऽवसेयम्। समासतस्तु "स्वस्ववर्णाश्रमाऽऽचाराऽनुकूलसमस्तलोक-कल्याणकारिव्यवस्थाकारिविहितक्रियाकलापो धर्मः" इति। एतादृश-धर्मस्य प्रतिपादका ये ग्रन्थाः—सङ्ग्रहाः विदुषां कण्ठस्थाः, लिखित-पुस्तकस्थाश्च, तेषु या भाषा मुख्या प्रतिनिधिरूपा चेति द्विविधाऽपि सा स्वा धर्म्यभाषा तां अभ्यसेत्। ततः राष्ट्रपोषिणीः अन्याः अभ्यसेत्'। राष्ट्राणि पूर्वोक्तलक्षणानि पोषितुं—बाह्य-बलेन संवर्धयितुं शीलं यासां ताः राष्ट्रपोषिणीः। अन्याः एतदतिरिक्ताः अभ्यसेत्। अयमभिप्रायः—भाषात्रयमेतदतीवाऽवश्यकं सर्वस्याऽपि मनुष्यमात्रस्य। अत्राप्येवं व्यवस्था—यत्र स्वभाषैव राष्ट्रभाषा धर्म्यभाषा च तत्रैकेन प्रयत्नेनैव भाषात्रयशिक्षा सम्भवति। यत्र पृथक् पृथक्, यथा स्वभाषाऽन्या, राष्ट्रभाषाऽन्या धर्म्यभाषा चाऽन्या तत्र पृथगेव प्रयत्नो विधेयः शिक्षागृहणे-क्रमेण। यथासम्भवं पार्थक्ये चैक्ये च भाषाणां त्रयमेतदतीवावश्यकमिति सारांशः। क्वचिद् राष्ट्रे कस्यचिद् राष्ट्रियस्य त्रयमपि पृथक् सम्भवति कस्यचिदपृथगपीति। एतत्त्रयाऽनन्तरं राष्ट्रपोषिणीत्वेनाऽधिमतां यां कांचित् अभ्यसेत्। तत्र न कोऽपि क्रमो निर्धार्यते। अत्रेदमपि बोध्यम्—राष्ट्रपोषिणीमेवाऽन्यामेतत्त्रयादभ्यसेत्, न राष्ट्र-विघातिनीमिति। पोषिणपदेनेदमपि ध्वनितम् यत् त्रयमेतत् पूर्वोक्तं भाषाणां पोषणमेव

धर्मग्रन्थ कहलाते हैं। वे ग्रन्थ कुछ लोगों को कण्ठस्थ हैं तथा कुछ ग्रन्थ लिखित हैं। उन ग्रन्थों में भी जो भाषा मुख्य और प्रतिनिधिरूप है, वह दो प्रकार की होते हुए भी अपनी धर्म्यभाषा कहलाती है। इस भाषा का अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर ही अन्य राष्ट्रपोषिणी भाषाओं का अभ्यास करना चाहिए।

इस प्रकार स्वभाषा, राष्ट्रभाषा, और धर्म्यभाषा-इन तीन भाषाओं की शिक्षा प्रत्येक मनुष्य को अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। जहां स्वभाषा ही राष्ट्र-भाषा और धर्म्यभाषा है, वहां एक प्रयास से ही तीनों भाषाओं की शिक्षा सम्भव हो जाती है। जहां ये अलग-अलग हों अर्थात् स्वभाषा अन्य हो, राष्ट्र-भाषा अन्य हो तथा धर्म्यभाषा अन्य हो, वहां शिक्षा ग्रहण करने में पृथक् ही प्रयत्न करना चाहिए। किसी राष्ट्र में किसी राष्ट्रवासी की ये तीनों भाषाएं पृथक् हो सकती हैं या एक हो सकती है। इन तीनों के अध्ययन के पश्चात्

भवति न शोषणम् । अथेदमपि बोध्यम्—यत् स्वराष्ट्रपोषिणीः पूर्वमध्येतव्या अनन्तरं च परराष्ट्रपोषिण्योऽपि यथेच्छमिति । भाषापदेन द्विविधाऽपि सङ्गृहीतेति न लिपिः पृथगुपात्ता । तस्या अपि भाषात्वात् इति । एवं भाषाया आवश्यकत्वं तस्याः शिक्षायाः क्रमश्च निरूपितः । अथ च भाषात्रयमतीवाऽवश्यकमित्यप्युक्तम् । तत्र भाषात्रयेऽप्यतीव कस्या आवश्यकतेति निरूपणायाह—

राष्ट्रभाषा शिक्षणीयाऽवश्यं राष्ट्रहितैषिणा ।।
स्थविरेणाऽपि सा पूर्णं हितं तस्य विधास्यति ।।25।।

[राष्ट्रहितैषी बूढ़ा हो गया हो, तो भी राष्ट्रभाषा अवश्य सीखे, वह राष्ट्रभाषा सीखने वाले का हित अवश्य पूर्ण करेगी ।।25।।]

राष्ट्रभाषेति । राष्ट्रहितैषिणा—स्थविरेण– अपि–राष्ट्र–भाषा–अवश्यं—शिक्षणीया–सा–तस्य–हितं—अवश्यं—पूर्णं -विधास्यति । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रहितैषिणा'—राष्ट्रं—उक्तलक्षणं, तस्य हितं– परिणामसुखं, राष्ट्रं—समीहितुं शीलमस्य सः राष्ट्रहितैषी तेन 'स्थविरेणाऽपि'—वृद्धेनाऽपि "प्रवयाः स्थविरो वृद्ध' इत्यमरः । 'राष्ट्रभाषा'–पूर्वकारिकायां

राष्ट्रपोषिणी किसी भी भाषा का अभ्यास करना चाहिए । इसमें कोई क्रम नहीं है । यह भी ज्ञातव्य है कि इन तीनों भाषाओं से अन्य केवल राष्ट्रपोषिणी भाषा का ही अभ्यास करना चाहिए, राष्ट्र-विघातिनी का नहीं । यह भी ध्यातव्य है कि स्वराष्ट्रपोषिणी भाषाओं का पहले अध्ययन करना चाहिए, तत्पश्चात् परराष्ट्रपोषिणी भाषाओं का यथेच्छ अध्ययन करना चाहिए । कारिका में भाषा पद से दोनों प्रकार की भाषाओं को ग्रहण किया गया है । उसमें पृथक् से लिपि का उल्लेख नहीं किया गया है, वह भी भाषा का ही एक स्वरूप जो है ।

तीन भाषाओं का पढ़ना आवश्यक बतलाया गया है । इनमें किस भाषा का पढ़ना अत्यावश्यक है, इसका उल्लेख किया जा रहा है—

कारिका–25

स्वतः अन्य वस्तु की उपस्थिति में समस्त वस्तुओं में अदान-प्रदान का व्यवहार साथ ही प्रारम्भ हो जाता है । इसी प्रकार राष्ट्र में प्रधान और ज्ञान-प्रधान योनियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों में यह आदान-प्रदान का व्यवहार सर्वाधिक प्रचलित है । मानव का जीवन इस व्यवहार के आधीन ही है । इसके अभाव में

व्याख्यातैषा। 'अवश्यं'—अकाममपि 'शिक्षणीया'—शिक्षितव्या। 'सा' शिक्षिता राष्ट्रभाषा 'तस्य'—राष्ट्रहितैषिणः राष्ट्रभाषां शिक्षितवतः 'हित'—पारिणामिकं सुखं 'अवश्यं' 'पूर्णं'—समस्तं 'विधास्यति'—करिष्यति। अयमाशयः -समस्तेऽपि वस्तुसार्थे स्वतो वस्त्वन्तरसमुपस्थितौ आदान-प्रदान—व्यवहारः सममेव प्रारभ्यते इति खलु निसर्गः। एवमेव राष्ट्रे प्रधानभूता मनुष्यास्तेष्वप्यवश्यमेवाऽयं व्यवहारः प्रचलति। ज्ञानप्रधानयोनिषु सर्वश्रेष्ठत्वान्मनुष्येषु तु सुव्यक्तमेवाऽयं व्यवहारः सर्वतोऽधिकतया प्रचलति। उचितमप्येतत्। एतद्व्यवहाराऽधीनमेव जीवनम्। एतदभावे जीवनसत्ताऽपि न प्रतीयेत। अत एवाऽन्यत्रोक्तमपि-

ददाति प्रतिगृह्णाति नाऽन्यथैषः प्रसीदति। (स. की. 8.)

दानप्रतिग्रहकर्मरहस्यं तु विश्वसारतन्त्रे गुरुकीलकपटले समवलोकनीयम्। सर्वोऽप्ययं व्यवहारः पारतन्त्र्येण स्वातन्त्र्येण च भवति। पारतन्त्र्येण यैः क्रियते तेषां निमित्तमात्रतया व्यवहारजन्याऽनुकूलप्रतिकूलभागित्वं नास्त्यथाऽपि दुःखमेव भुञ्जन्ते स्वाऽज्ञानवशात्। यैः पुनः स्वातन्त्र्येण क्रियते व्यवहारस्तेषां पूर्णकर्तृतया व्यवहारजन्याऽनुकूलप्रतिकूलफल-भागित्वमस्त्यथाऽपि सुखमेव भुञ्जन्ते स्वज्ञानप्रभावात् इति वस्तुस्थितिः। अत एव श्रीमता भगवता वासुदेवेनाऽपि पार्थोऽर्जुन एवं बोधितः यत्त्वं मत्परतन्त्र एवासीः। कौरव-हननेन न ते कथमपि पापलेशसंस्पर्शोऽपि सम्भावनाकोटीमाटीकते। वृथैवाऽज्ञानेन पापमारोपयसि स्वशिरसि। त्वं न किमपि करोषि तवाऽस्वतन्त्रत्वात्। अहं तु सर्वमपि कुर्वाणोऽपि निष्क-लङ्क एव तिष्ठामि स्वज्ञानप्रभावेण इत्यादिना श्रीमद्भगवद्गीतासु। यथा—

जीवन की सत्ता भी प्रतीत नहीं होती है। यह व्यवहार स्वतन्त्र तथा परतन्त्र-इन दो रूपों में होता है। इसी के अनुसार अनुकूल तथा प्रतिकूल फल की भी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्र-व्यवहार से अनुकूल सुख, परतन्त्र-व्यवहार से प्रतिकूल दुःख की प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को यही उपदेश दिया था कि तू मेरे आधीन है। कौरवों को मारने से तुझे लेशमात्र भी पाप की प्राप्ति नहीं होगी। अज्ञान के कारण तू अपने शिर में व्यर्थ ही पाप का आरोपण कर रहा है। तू अस्वतन्त्र होने से कुछ भी नहीं कर सकता है। में तो सब कुछ करता हुआ भी अपने ज्ञान के प्रभाव से निष्कलंक ही रहता हूं।

इस प्रकार स्वतन्त्रता से किया गया व्यवहार अत्यन्त कल्याण कारक होता है। स्वतन्त्रता से व्यवहार सभी भाषाओं में किया जा सकता है, परतन्त्रता से

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥
(गी. 11/33)

एवं च सर्वोऽप्ययं व्यवहारः स्वातन्त्र्येण कृतो महते निःश्रेयसाय कल्पते। स्वातन्त्र्येण व्यवहारः खलु सर्वास्वपि भाषासु कर्तुं शक्यते। पारतन्त्र्येण पुनर्न तथा। अथाऽपि स्वातन्त्र्येण स्वभाषायां व्यवहारः स्वाभाविकः परभाषायां पुनरस्वाभाविकः। अज्ञतानिमित्तकश्च मौर्ख्याऽतिशयद्योतकः। तत्र स्वभाषा तावत्का इति पूर्वं निर्धारणीयम्। महति राष्ट्रे खलु नानाविधवाताऽवरणेन नानाविधा भाषा भवन्ति। तत्तदेकदेशेन तास्ताः स्वा इति भण्यन्ते च। तया तयैकदेशभाषया व्यवहरन् लोकः स्वराष्ट्रे एव राष्ट्रियमात्रेण न व्यवहर्तुं शक्नोति। अतो न सा तादृश्युपकारिणीति गौणी सा। एवमेव धर्म्यभाषाऽपि न सर्वत उपकारिणी। यतः खलु धर्मः पुरुषमस्तिष्कप्रादुर्भूतस्तद्हृदयपरीक्षितश्चेति तेऽप्येकराष्ट्रे एव नानाविधा अपि भवन्ति। तान्धर्मान् प्रतिपादयितुं ग्रन्था विधीयन्ते, ते चैकदेशिभाषाविद्भिः स्वस्वाऽभिमतैकदेशिभाषासु प्रतिपाद्यन्ते। एवं च तादृग्धर्माऽनुकूलभाषाऽपि नाऽन्यधर्माऽनुकूला सम्भवतीति साऽपि न तादृश्युपकारिणीति ज्ञायते। यतः सा सर्वमपि राष्ट्रमेकसूत्रे ग्रथितुं न प्रभवति। एकदेशाऽवच्छिन्नत्वात्। अतः काचिदीदृशी भाषा विधेया यया सर्वमपि राष्ट्रं व्यवहरेत्। सा च यथासम्भवं समस्ताऽविरोधिनी ग्राह्या। परं समस्ताऽविरोधः स्वतन्त्रराष्ट्रेऽपि न सम्भवति। कुतः परतन्त्रराष्ट्रे सम्भवेत्। यतः सर्वोऽपि लोकः स्वस्वैकदेशभाषामेव राष्ट्रभाषात्वेन प्रचारयितुमिच्छति स्वसाहित्य—प्रचाराय। एव स्थिते का खलु राष्ट्रभाषा भवितुमर्हतीति विचार्यमेवेति विचार्यते—पूर्वमिदमालोच्यं राष्ट्रभाषाविधाने यद् अस्मिन् राष्ट्रे कति

ऐसा नहीं किया जा सकता। स्वभाषा में स्वतन्त्रता से व्यवहार करना स्वाभाविक होता है, परभाषा में यह अस्वाभाविक होता है। साथ ही यह अज्ञता का कारण और मूर्खता का द्योतक होता है। अतः स्वभाषा कौन सी है? इसका निर्धारण करना चाहिए।

महान् राष्ट्र में नाना प्रकार के वातावरण के कारण नाना प्रकार की भाषाएं होती हैं। एक-एक देश के वासी उस-उस भाषा को अपनी भाषा कहने लगते हैं। अतः वे सम्पूर्ण राष्ट्र में एक भाषा का व्यवहार नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार किसी धर्मविशेष की भाषा भी सबका उपकार नहीं कर सकती है,

भाषा व्यवह्रियन्ते, कया कया भाषया कियन्तो मनुष्या व्यवहरन्तीति । तत्र यया भाषया सर्वतोऽधिका मनुष्या व्यवहरन्ति सा राष्ट्रभाषा विधेया । परं तु साऽपि चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि येषां स्वं राष्ट्रं तेषां बहुजनसम्मतैव या भवति सैव स्वराष्ट्रभाषा भवितुमर्हति । अथ च चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि सम्बन्धिनां बहुजनसम्मतधर्म्यभाषाया अविरोधिनी अपेक्षणीया । सैव चेत् स्वर्णे सुगन्ध इति किमतः परं स्वराष्ट्रसमुन्नत्यै साधनमिति । एतादृश्येव राष्ट्रभाषा विधेया सैव च परमोपकारिणी राष्ट्रस्येति । अथ सा राष्ट्रभाषा स्थविरेणाऽपि शिक्षणीयाऽवश्यमेव राष्ट्रहितैषिणा, सा हि तस्याऽपि हितं पूर्णं विधास्यति । अयमभिप्रायः—राष्ट्रस्य हितं समीहमानः पुरुषः प्रथमं पौर्वापर्यं पर्यालोचयति यत् राष्ट्रहितं खल्वैकमत्ये एवेति । ऐकमत्यं पुनर्न सम्भवति परस्पराभिप्रायविज्ञानमन्तरा । परस्पराऽभिप्रायविज्ञानेन हि राष्ट्रहितं विज्ञाय निश्चीयते । परस्पराऽभिप्रायविज्ञानं पुनर्न खलु सम्भवति भाषैक्यं विना, अतो भाषैक्यमावश्यकम् । तां च राष्ट्रभाषामजानानः स्वयं राष्ट्रहितं बुध्यमानोऽपि राष्ट्रियान् समस्तान् कया भाषया राष्ट्रहितं स्वाऽभिमतं बोधयितुं प्रभवेत् ? इत्यतो राष्ट्रहितैषिणा राष्ट्रभाषाऽवश्यं शिक्षणीयैव । ननु कश्चिद्ब्रूयात् यद्-अद्यावधि तु न शिक्षिता राष्ट्रभाषा सम्प्रति च स्थविरोऽहं किमाचरेयं राष्ट्रभाषां शिक्षित्वा शिक्षितुं पारयेयं न वा इति, स एवं विज्ञाप्यः यत् भद्रपुरुष ! न शोभत इदं राष्ट्रहितैषिणस्ते वक्तुमेवं यतः किल राष्ट्रभाषां शिक्षित्वा बहुविधं राष्ट्रज्ञानं प्रचारयितुं प्रभवसि । स्थविरो हि वयोवृद्ध इति बहु सम्मान्यते, तत्राऽपि राष्ट्रहितैषी पुनरतिशयेन स एव राष्ट्रभाषानिपुणश्चेदतीवा-

---

क्योंकि धर्मपुरुष के मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ है । एक ही राष्ट्र में अनेक धर्म हैं । उन धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थों की रचना की जाती है । वे उन ग्रन्थों का प्रणयन अपनी-अपनी भाषा में कर लेते हैं । अतः यह भाषा भी सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में नहीं पिरो सकती है । अतः किसी ऐसी भाषा का प्रणयन करना चाहिए, जो सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में पिरो दे । ऐसी भाषा वही भाषा हो सकती है, जिसके प्रति यथासम्भव समस्त लोगों का विरोध न हो, क्योंकि सम्पूर्ण रूप से अविरोध तो स्वतन्त्र राष्ट्र में भी नहीं होता, परतन्त्र राष्ट्र में तो कैसे हो सकता है ?

सभी लोग अपनी देशी भाषा को ही राष्ट्रभाषा के रूप में परिणत करना

ऽऽदरभाजनं भवति लोके । अत एव लोकास्तदुक्तं यद्वा तद्वाऽपि, आचरितुं सन्नद्धा भवन्ति किं पुनः सूक्तं सुविचारितम् । शिक्षितुं पारयेयं न वा इति यः सन्देहः स तु अज्ञानिन एव शोभते न ज्ञानवन्तस्तत्राऽपि पुनर्वृद्धस्य । अथ नाऽपि शिक्षितुं पारयति चेत् न काऽपि हानिः, लाभस्त्वेको महान् वर्तते यत् 'स्थविरोऽप्ययं राष्ट्रभाषां शिक्षते इति वीक्ष्यान्येऽपि युवानो बाला वृद्धा अपि शिक्षिष्यन्ते इति । उचितमप्येतदित्युपदिदेश भगवान् वासुदेवः—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। (गी. 3.24) ।

इति सुष्ठूक्तमाचार्येण स्थविरेणापीति । अथ च सा शिक्षिता चेत् तस्य राष्ट्रभाषां शिक्षितवतो मानवस्य ऐहिकं पूर्णं प्रचारादिना स्वमनोरथाऽनुरूपेण हितं पारिणामिकं कल्याणं विधास्यति । अत्रेद तात्पर्यम् यथा सर्वसाधारणभाषया सर्वसाधारणे प्रचारो विधातुं शक्यते । मनोऽनुकूलं तथा नाऽन्यया इति तां राष्ट्रभाषाभूतां भाषां शिक्षित्वा स्वमनोऽनुकूलराष्ट्रहितं साधयन् मनोवाचामगोचरमानन्दं विन्दते । अथार्धशिक्षिताऽपि भवान्तरे पूर्णशिक्षायै कल्पत एव । अत एव भगवत्या उपासनामधिकृत्योक्तमन्यत्र—

चाहते है तथा अपने साहित्य का प्रचार करना चाहते हैं । ऐसी स्थिति में किस भाषा को राष्ट्रभाषा बनाया जाय, इस विषय पर विचार किया जा रहा है ।

राष्ट्रभाषा के निर्धारण में इस बात पर विचार करना चाहिए कि इस राष्ट्र में कितनी भाषाओं का व्यवहार होता है ? कितने लोग किस-किस भाषा को बोलते हैं ? जिस भाषा को अधिक लोग बोलते है, उसे राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए । चतुर्विध-सम्बन्ध से बहुमत सम्पन्न भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है । राष्ट्रभाषा ऐसी हो, जो राष्ट्र की उपकारिणी हो ।

जो राष्ट्रहित की और राष्ट्र की उन्नति की साधनभूत भाषा है, उसी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहिए । जब तक लोग परस्पर लोगों के अभिमत को न समझें, तब तक राष्ट्रहित नहीं हो सकता है । भाषा की एकता के बिना परस्पर के अभिप्राय को नहीं जाना जा सकता हैं । अतः भाषा की एकता आवश्यक है । राष्ट्रहित का ज्ञान रखने वाले को भी समस्त राष्ट्रवासियों के लिए भाषा में राष्ट्रहित तथा स्वाभिप्राय समझना चाहिए । अतः राष्ट्र-हितैषी पुरुष को राष्ट्रभाषा अवश्य सीखनी चाहिए । यह कहना उचित नहीं कि अभी तक तो,

अक्रमेणाऽर्धभक्त्या वा भवान्याः कृतमर्चनम् ।
जन्मान्तरे क्रम–प्राप्त्यै पूर्णभक्त्यै च जायते ।।

शिक्षा भवानीति निर्विवादमेव । भवं–संसारं आनयति–जीवयति सा भवानी । समस्तोऽपि संसारो भाषामन्तरा न जीवितुं शक्यते इति । अत एव रहस्यसहस्रनामस्तोत्रे "भाषारूपा" इत्यपि भगवत्या नाम निर्दिष्टमास्ते । अथ च भवत्यस्मात्सर्वमपि सः भवः शिवः प्रकाशः तं आसमन्तान्नयति प्रापयति शक्तिविमर्शः सा भवानी । अयमभिप्रायः— प्रकाशः शिवः अर्थरूपः, विमर्शः शक्तिः वाक्रूपा इति तु रहस्यविदां गोचरमेव । अतएवाऽन्यत्रोक्तमपि "अर्थः शिवः शिवा वाणी" इति । इयं परादिरूपिणी वाग्रूपेण विमृशति अर्थरूपं प्रकाशम् । भवतु । समासतोऽन्यत्रोक्तं साम्बपञ्चाशिकायाम्—

या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूतान् ।।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां

राष्ट्रभाषा सीखी नहीं, अब स्थविर (वृद्ध) हो गया हूं, तो राष्ट्रभाषा को सीखकर लोगों को क्या सिखा पाएंगे ? वस्तुतः राष्ट्रहितैषी को ऐसा नहीं कहना चाहिए । क्यों कि वह राष्ट्रभाषा को सीखकर बहुविध राष्ट्रज्ञान का प्रचार कर सकता है । स्थविर, वयोवृद्ध, राष्ट्रभाषाहितैषी हो, तो फिर कहना ही क्या ? ऐसा स्थविर आदर का पात्र होता है ।

सिखा पाऊंगा या नहीं— यह सन्देह तो अज्ञानी करते हैं । ज्ञानी और फिर वृद्ध ऐसा सन्देह नहीं करते । फिर यदि नहीं भी सिखा पाता है, तो कोई हानि नहीं है, किन्तु एक बड़ा लाभ अवश्य है । यह स्थविर, राष्ट्रभाषा की शिक्षा दे रहा है–यह देखकर अन्य युवक, बाल, वृद्ध, सभी शिक्षित हो जाते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा भी है :—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य लोग उसका अनुकरण करते हैं । वह जो प्रमाण स्थापित कर देता है, लोग उसी को अपना लेते हैं ।

सर्वसाधारण की भाषा में ही सर्वसाधारण जनता को उपदेश दिया जा सकता है । मनोनुकूल राष्ट्रहित सम्पादन से मन और वाणी से परे आनन्द प्राप्त होता है । भाषा के बिना कोई भी जीवित नहीं रह सकता । शिव प्रकाशरूप,

वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ।।

अत्र विषये बहुवक्तव्यमपि रहस्यं नोद्घाटनीयमिति, विस्तरभयतश्चाऽत्रैव विरम्यते ।।

एवं च । अर्धशिक्षिताऽपि लाभमातनुते या सा कथमिव पूर्णशिक्षिता भाषा मनुष्यमात्रस्य न लाभमातन्यात् । अतः स्थविरस्याऽपि राष्ट्रहितैषिणः शिक्षिताऽर्धशिक्षिताऽपि स्वराष्ट्रभाषाऽवश्यमेव हितं पूर्णं विदधाति "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (पा. सू. 3.3.31.) लृट् वैकल्पिकः । पूर्णाम् साकल्येन । अतः सर्वास्वपि भाषासु स्वराष्ट्रभाषाऽतिशयमुपकारिणीति मनुष्यमात्रेणाऽवश्यमेव शिक्षणीया पूर्णहितसाधनायेति सूच्यते । अत्र पूर्वकारिकातः स्वामित्यनुवर्तते । अथ च प्रथमान्ततया परिणमते च । तेन स्वा स्वकीया राष्ट्रभाषेति फलितं निष्पद्यते । अत्रेदं त्ववगम्यमेव—राष्ट्रभाषा खलु द्विविधा भवति आन्तरा-बाह्या चेति । राष्ट्रस्यान्तर्गतसमस्तप्रदेशाऽभिजनानां चतुर्विधसम्बन्धवतां मानवानां व्यवहाराय स्थापिता 'आन्तरा' इति सङ्केत्यतेऽस्माभिः । राष्ट्राणि राष्ट्रान्तरैः साकं व्यवहारसञ्चालनायै यां बहुराष्ट्रसम्मतां भाषां स्थापयन्ति सा 'बाह्या' इत्येवं सङ्केत्यते । अनयोरान्तरा पुनः सर्वतः पूर्वमावश्यकी बाह्या तु न सर्वेषामपेक्षणीया । ज्ञाता सती लाभमशेषमातनुते । अज्ञाता च न हानिं कुरुते । एवं च द्विविधाऽपि राष्ट्रभाषा सङ्गृहीता भवति । भाषा पदं लिपिमपि सङ्गृह्णातीति पूर्वमुक्तमेव । अलमतिविस्तरेण ।।25।।

अर्थरूप विमर्शरूप है । शिवानी शक्तिरूपा, वाक्रूपा कहलाती है । यह परादिरूपिणी शक्ति वाग्रूपा ही है, जो अर्थरूप प्रकाश को फैलाती है ।

सभी भाषाओं में स्वराष्ट्रभाषा अत्यन्त उपकारिणी होती हैं, अतः उसे मनुष्य मात्र को पूर्णहितसाधनार्थ अवश्य सीखना चाहिए । राष्ट्रभाषा भी दो प्रकार की होती है—आन्तरा तथा बाह्य । राष्ट्र के अन्तर्गत समस्त प्रदेश के निवासी चतुर्विध सम्बन्धवाले मनुष्यों के व्यवहार के लिए स्थापित भाषा आन्तरा भाषा है । एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ व्यवहारसञ्चालन के लिए जिस बहुराष्ट्रसम्मत भाषा की स्थापना करते हैं, वह बाह्यभाषा कहलाती है । इनमें आन्तरा सभी के लिए आवश्यक है, बाह्य सभी के लिए अपेक्षित नहीं है । आन्तरा राष्ट्रभाषा का ज्ञान होने पर विशेष रूप से लाभ होता है । ज्ञान न होने पर हानि होती है । भाषापद के कथन से लिपि का संकेत भी स्वतः ही हो जाता है ।। 25 ।।

एवं स्वराष्ट्रस्य स्वराष्ट्रसंस्थापनाय तन्निदानभूतां शिक्षामुपपाद्य तत्साधनभूतां भाषां त्रिविधामप्याऽवश्यकतया प्रतिपाद्य तत्राऽपि स्वराष्ट्र-भाषाया अत्यावश्यकत्वं प्रतिपादितम् । किंच नैकासु भाषासु शिक्षा-क्रमोऽपि संस्थापितः । लिप्यध्ययनेऽपि स क्रमोऽभिहितः । अथेदानीं राष्ट्राभ्युदयसाधनभूतां शिक्षां सक्रमां सपरिपाटीकां विवेचयितुकाम आह-

प्रतिग्रामं पाठशाला स्थापनीया प्रयत्नतः ।।
राष्ट्रभाषां धर्म्यभाषां बालकान्पाठयेद् गुरुः ।।26।।

[प्रत्येक ग्राम में पाठशाला स्थापित करनी चाहिए । गुरु बालकों को राष्ट्रभाषा तथा धर्म्यभाषा पढ़ाएं ।।26।।]

प्रतिग्राममिति । प्रतिग्रामं–प्रयत्नतः —पाठशाला स्थापनीया—गुरुः बालकान्—राष्ट्रभाषां—धर्म्य-भाषां पाठयेत् ।। इति पदयोजनिका ।]

ग्रामे ग्रामे इति "प्रतिग्रामम्" सर्वेष्वपि ग्राममात्रेष्विति भावः । 'प्रयत्नतः'—प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः । यत्नः उद्योगः सोऽपि प्रकृष्टः अधिकताशाली । तस्मात् हेतौ पञ्चमी 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा. सू. 5.3.7) इति तसिल् 'पाठशाला'—पाठ्यन्ते=अध्याप्यन्ते ते पाठाः शिक्षाविशेषाः व्यक्तवागर्थकाण्णिजन्ताद्भावे घञ् । तेभ्यः शाला--शोभमानं गृहम् । 'स्थापनीया'—'राष्ट्रहितैषिणा' इति पूर्वतःऽनुवर्तत एव । अथ तत्र किं कार्यमित्याह —गुरुरिति । 'गुरुः'—अध्यापकः तस्यां पाठशालायामिति शेषः । बालकान्—अल्पा बाला बालकाः, 'अल्पे' 'पा.सू, 5.3.85) इति कन् । अष्टवर्षन्यूनान् इति तात्पर्यम् । 'राष्ट्रभाषां' पूर्वलक्षणलक्षितां 'धर्म्यभाषां'—निरुक्तचरीं पाठयेत्'--सुस्पष्टतया स्वराष्ट्रशिक्षां ग्राहयेत् ।

अब राष्ट्र के अभ्युदय में साधनभूत शिक्षा का विवेचन किया जा रहा है :—

कारिका–26

शिक्षा के बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता और ज्ञान के बिना हिताहित का बोध नहीं होता । हिताहित बोध के बिना कार्य या अकार्य के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती है । प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य हित या अहित की प्राप्ति या निषेध नहीं होता । इन दोनों के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता । अतः मानव की प्रधान जीवनौषध शिक्षा ही है, यह सर्व विदित है । उसकी शिक्षा का भी निदान भाषा है । अतः पहले उसी की शिक्षा दी जानी चाहिए ।

अत्रेदं तात्पर्यम् – शिक्षान्तरेण न किमपि ज्ञातुं शक्यते, ज्ञानमन्तरेण च न हिताऽहितबोधो भवति, हिताऽहितबोधं विना च न कार्याकार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः अन्तरा च प्रवृत्तिनिवृत्ती न हिताऽहितप्राप्तिनिषेधौ विना च ताभ्यां न जीवितुं शक्नोति जीवलोक इति निसर्गः। अतश्च जीवलोकजीवनस्य सर्वतः प्रधानजीवातुः शिक्षैवेति समेषां विदुषां नाऽतितिरोहितम्। तस्याः शिक्षाया अपि निदानं भाषेति सैव पूर्वं शिक्षणीयेति पूर्वं निरूपितम्। अथ तस्याः शिक्षणाय किं किमावश्यकमित्यादिनिरूपणायाऽयमारम्भः प्रतिग्राममिति। 'राष्ट्रहितैषिणा' इत्यनुवर्तत एव। तथाविधेन पुरुषेण सर्वादौ बालकान् शिक्षयितुं प्रयत्नतः प्रातिग्रामं पाठशाला स्थापनीया। अयमाशयः—स्थाने विहितः प्रयत्नः फलाय कल्पते। मूले सिक्तश्च तरुवरः फलपर्यन्तं सुसिञ्चितो भवत्यथ च सर्वस्याऽप्यामूलभूतं कल्याणमातनुते। बालाः खलु राष्ट्रस्य सर्वस्याऽपि मूलभूताः, अतस्त एव पूर्वं सुतरां शिक्षणीया इत्युपदिश्यते। तेषां शिक्षणाय खलु सर्वत्र पाठशाला स्थापनीया। सा हि राष्ट्रे ग्रामे ग्रामे एकैका स्थापनीया। बालकाः खलु ग्रामे एव पाठशाला चेत्, सम्यक् पठितुं शक्नुवन्ति। स्वल्पवयस्कतया दूरं गन्तुं न प्रभवन्तीति, ग्रामे एव पाठशालाया आवश्यकत्वं प्रतिपाद्यते। पठिता अपि पितरः प्रायो गार्हस्थ्यभाराऽऽक्रान्ता तत्सञ्चालनायैव परिश्रमं कुर्वाणः समयाऽभावात्, कार्यगौरवात्, विविधकर्मकरणेन परिश्रान्ततया च न पाठयितुं क्षमन्ते इति, अथ च पित्रादिषु बालानां गुरुबुद्ध्यभावेन न गृहे पठन्तीति, अन्याऽन्यबालकानां पठनं निरीक्ष्य अहमहमिकया बालकाः पठन्तीति ग्रामे ग्रामे पाठशालाया अतोवाऽऽवश्यकतेति बोधनाय प्रतिग्राममित्युक्तम्। यत्नतः

सबसे पहले राष्ट्रहितैषी पुरुष को, बालकों को शिक्षित करने के लिए, प्रत्येक ग्राम में पाठशाला स्थापित करनी चाहिए। स्थानविशेष पर किया गया प्रयत्न फलदायक होता है। वृक्ष को मूल में ही सींचा जाय, तो वह फलपर्यन्त सिञ्चित हो जाता है। बालक ही राष्ट्र की मूलभूत सम्पत्ति है। अतः बालकों को ही अच्छी प्रकार शिक्षित करना चाहिए। उनके शिक्षण के लिए राष्ट्र में सर्वत्र प्रत्येक ग्राम में एक-एक पाठशाला स्थापित करना चाहिए। गांव में ही पाठशाला हो, तो बालक अच्छी प्रकार पढ़ सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक बालक पढ़ने के लिए अन्यत्र नहीं जा सकता है। छोटी उम्र होने के कारण वे दूर नहीं जा सकते हैं।

इत्येव सिद्धे प्रयत्नत' इति यदुक्तं, तेनेदं बोध्यते यत् कथङ्कारमप्यत्र न प्रमदितव्यम् । अथ चाऽनेन कारिकार्धेनेदमपि बोध्यते यत् समस्तराष्ट्रोद्धाराय राष्ट्रजा बालकाः सर्वत एवाऽग्रे शिक्षणीयाः । यतो बालका एव युवानो भूत्वा वृद्धा भवन्ति । ते बाल्ये एव शिक्षिताः सुशिक्षिता भवन्ति यथा तथा न यौवने, कुतः पुनः स्थविरे । इति सर्वेऽपि जानन्ति । यथा हि मसृणसरसा च मृत्तिका यथाऽभिलषितघटशरावादिरूपेण परिगमयितुं कुलालेन सर्वत्र शक्यते, तथैव शिशवोऽपि अज्ञतया यथाऽभिलषितं शिक्षयितुं शक्यन्ते इति बाल्ये एव पाठनीयाः । अत एव नीतिशास्त्रेष्वप्यन्यत्रोक्तम्—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ॥
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि च तं नरं न रञ्जयति ॥
(भ नी. 31) इति ।

शैशवं हि समस्तशरीरदशानां प्रारम्भदशा, सैव गृहाऽऽधारशिलेव समस्तसांसारिक जीवनाऽऽधाररूपेति तस्या एव सारवत्त्वमपेक्ष्यते तस्याः सारवत्त्वं च शिक्षयेति तत्रैव शिक्षा प्रारम्भणीया इति स्फुटमेवेति वक्तुमेव 'प्रयत्नतः' इति प्रोपसृष्टे यतिः प्रयुक्तः । यद्यपि 'यत्नः' प्रयत्न एव तथाऽपि 'विशेष्यवाचकपदानां विशेषणाऽन्तरसमवधाने सामान्यार्थपरत्वम् ।' इति नियमेन यत्न इत्यस्य सामान्योद्योगपरत्वं भवति, तदेव प्रेण विशेषीकृतमत्रेति । अथ च लिङ्लोट्तव्यानी-

---

पढ़े-लिखे माता पिता भी गृहस्थ के भार के कारण समय के अभाव में, कार्य अधिक होने से बालकों को नहीं पढ़ा सकते हैं । बालक भी माता-पिता से पढ़ना नहीं चाहते हैं । बालकों में माता-पिता के प्रति उतना गुरुभाव भी नही होता । प्रतिस्पर्धा की भावना से ही बालक, गुरु से पाठशाला में अच्छी प्रकार पढ़ सकते हैं । कारिका के अर्धभाग से यह भी स्पष्ट होता है कि समस्त राष्ट्र के उद्धार के लिए राष्ट्र में उत्पन्न बालक ही सर्वप्रथम सुरक्षित किये जाने चाहिए । क्योंकि बालक ही युवा होकर वृद्ध होते हैं । बाल्यावस्था में उन्हें सुशिक्षित किया जा सकता है, क्योंकि गीली मिट्टी से कुम्हार जब चाहे, जैसा चाहे, वैसा बर्तन बना सकता है । शरीर की समस्त दशाओं में शैशव प्रारम्भ दशा है । यह घर की नीव की तरह समस्त सांसारिक जीवन का आधार होती है । उसी की सारवत्ता अपेक्षित होती है, जो शिक्षा के द्वारा पुष्ट होती है । अतः शिक्षा का प्रारम्भ करना चाहिए ।

यरादीनां विध्यर्थकत्वस्य मीमांसकनियमात् 'स्थापनीया' इति विधिवाक्यं सिद्ध्यति। एवं च 'पाठशालायाः स्थापनं भावयेत्' इत्यपूर्वो विधिः। तच्च क्व इत्याकाङ्क्षापूर्त्यै उक्तं प्रतिग्राममिति। यथा 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इति विधर्यस्मिन्कस्मिंश्चिद्दिने सन्ध्योपासनमात्रेण न सार्थकता, तथैव यस्मिन् कस्मिन्नेकस्मिन् ग्रामे पाठशालास्थापनमात्रेण न सार्थकतेति बोधितं भवति 'प्रतिग्रामम्।' इत्यनेन। ग्रामशब्दोऽत्रैक-स्थानाऽवस्थितगृहसमुदाये रूढः। इदमप्यत्र बोध्यम्—

अनेकमनुष्यैः सम्मिलितमेकं कुटुम्बं गृहं वा भवति, कतिपयगृहैः सम्मिलितमेकं स्थानं ग्रामटिका भवति, अनेकग्रामटिकाभिश्चैको ग्रामो भवति, अनेकग्रामैरेकं शाखानगरं भवति, तदेवाऽनैकैर्मिलितं मूलनगरं भवति, अनेकैर्मूलनगरैरेको जनपदो भवति, अनैकैर्जन पदैर्भि-लितमेकं राष्ट्रं भवतीति व्यवस्था, तत्र समस्तराष्ट्रोद्धाराय प्रतिग्रामं पाठशालाऽतीवाऽऽवश्यिका राष्ट्रियमनुष्यमात्रशिक्षाव्यवस्था वा इति। नन्वेवं प्रतिगृहं पाठशालास्थापनीयेत्यपि कथनीयमिति चेन्न, प्रयत्नस्य प्रयोजनमात्रनिष्पत्तौ तात्पर्यात्। प्रतिगृहशिक्षायाः प्रतिग्राम-मेकपाठशालास्थापनेन सुसाध्यत्वात्। प्रतिग्राम पाठशालास्थापने आव-श्यकत्वमुक्तं पूर्वम्। भवतु। अथ तत्र किं कार्यमित्याह– गुरुरिति। 'गुरुः–स्वयं यथाविध्यध्ययनबोधाऽऽचरणैः कृतशिक्षोपयोगः। अयमभि प्रायः—अज्ञाननिवर्तनसमर्थः गुरुरित्युच्यते, अत एवाऽन्यत्रोक्तम्—

गुकारस्त्वन्धकारः स्याद्रुकारस्तन्निवर्तकः। इति।

यो हि स्वयमगृहीतशिक्षः, अप्रबुद्धः, अनाचरितशिक्षश्च स न कदाऽपि गुरुर्भवितुमर्हति। एवं च सर्वथाऽपि स्वराष्ट्रशिक्षाशिक्षितः तया सुप्रबुद्धस्तदनुकूलाऽऽचारवांश्च गुरुः तत्र पाठशालायां पाठयेत्, कान् पाठयेदित्याह—बालकानिति। 'बालकान्'—स्वल्पवयस्कान् बालान् शिशूनित्यर्थः। यौवनादिदशाः किलाऽऽचारप्रचाराद्यर्थं वर्तन्ते। तत्र विष-

---

अनेक मनुष्य सम्मिलित रूप से जिस कुटुम्ब में रहते हैं, वह घर होता है। जहां सम्मिलित रूप में कुछ घर हों, वह स्थान ग्रामटिका कहलाता हैं। अनेकों ग्रामटिकाएं मिलकर एक ग्राम होता है। अनेक ग्रामों से एक शाखानगर होता है। अनेक शाखानगरों के मिलने से एक मूलनगर होता है। अनेक मूलनगरों के मिलने से एक जनपद होता है। अनेक जनपदों से मिलकर एक राष्ट्र होता है।

योपभोगेच्छायाः स्वाभाविकत्वेनोद्भवात् तत्पूर्त्यै च शैशव एव शिक्षाया आवश्यकत्वात् । अशिक्षितो हि न सामञ्जस्येन पुरुषार्थान् साधयितुं प्रभवति । तच्च स्वाभाविकमिति, अनिवार्यमिति, तद्व्यवस्थाऽत्याव-श्यिका । तथा चाह कविकुलगुरुः कालिदासोऽपि रघुवंशवर्णनाऽवसरे—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।। (र, 1.8)

अथ बालकान् किं पाठयेदित्याह—'राष्ट्रभाषाम्' । इति अयं भावः—साधारणव्यवहाराय बालकाः किल गृहे पित्रादिपरिजन-मुखनिर्गतां भाषामाकर्ण्यैव शिक्षितुं पारयन्ति स्वां भाषामिति तस्याः पाठने नाऽस्ति तादृश्यावश्यकतेत्यार्याऽभिप्रायः । अतस्तत्र राष्ट्रभाषां प्रथमं तदनन्तरं च धर्म्यभाषां पाठयेत् । राष्ट्रभाषास्वरूपं धर्म्यभाषा-स्वरूपं चोक्तं पूर्वम् । 'पाठयेत्' इत्युक्त्या, यथासम्प्रदायमिति गम्यते । अत्र च पाठनविधानेन अध्ययने त्रुटौ गुरुरेव साऽपराध इति बोध्यते । अथ च पाठनसमर्थ एव गुरुस्तत्र पाठयेदित्यपि सूच्यते । राष्ट्रभाषा धर्म्यभाषा च स्वैव ग्राह्येति पूर्वं सिद्धान्तितमेव । अथ 'बालकान्' इति गुरुः 'इति च मनुष्यमात्रपरम् । पुंस्त्वमविवक्षितमत्र एतच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यतीति ।।26।।

एवं समस्तशिक्षाणां निदानतया स्वराष्ट्रभाषाया धर्मभाषायाश्च शिक्षाया आवश्यकत्वं तदर्थं प्रतिग्रामं पाठशालास्थापनं तत्र गुरोर्नियोजनं तेन च बालकपाठनं, तत्राऽपि प्रथमं राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाऽध्यापनं विधेय-तया निरूप्य सम्प्रति राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाद्वारा स्वराष्ट्रशिक्षां ग्राहयितुं महाविद्यालय-स्थापनं निरूपयन्नाह—

समस्त राष्ट्र के उद्धार के लिए प्रत्येक ग्राम में पाठशाला होना आवश्यक है ।

जिसने स्वयं शिक्षा ग्रहण न की हो, जो स्वयं अप्रबुद्ध हो, वह कभी गुरु नहीं हो सकता है । जिसने स्वराष्ट्र की शिक्षा ग्रहण की हो, जो प्रबुद्ध हो, तदनुकूल आचरण करता हो, उस गुरु को पाठशाला में बालकों को राष्ट्रभाषा की शिक्षा देनी चाहिए ।

साधारण व्यवहार के लिए तो बालक घर में माता-पिता के मुंह से निकली हुई भाषा को सुनकर सीख लेते हैं, उसके पढ़ाने की उतनी आवश्यकता नहीं । अतः बालकों को सर्वप्रथम राष्ट्रभाषा, तदनन्तर धर्मभाषा पढ़ानी चाहिए । इन दोनों के स्वरूप को पहले बताया जा चुका है ।

मण्डले मण्डले स्थाप्य एको विद्यालयो महान् ।।
विशुद्धवाताऽऽवरणे विजने वनशोभिनि ।।27।।

मण्डले इति । मण्डले-मण्डले-विशुद्धवाताऽऽवरणे विजने-वनशोभिनि एकः—महान्—विद्यालयः—स्थाप्यः । इति पदयोजनिका ।

'मण्डले मण्डले' नित्यवीप्सयोः' (पा. 8.1.4) इति द्वित्वम् । प्रतिमण्डलमित्यर्थः । चत्वारिंशत्क्रोशात्मको भूखण्ड एको मण्डलमित्युच्यते इति साम्प्रदायिकाः । 'विशुद्धवाताऽऽवरणे'—वातस्य-वायोः आवरणं-आवृतिः आवेष्टनमिति भावः । विशेषेण शुद्धं—निर्मल नैर्मल्ये विशेषः सात्त्विकसंस्कारोदयकारित्वेनाऽधिनाशकत्वेन च तादृक् वाताऽऽवरणं यत्र तस्मिन् 'विजने'—विगतः जनः-लोकसमुदायो यस्मात् तत् तस्मिन् जनसमूहसञ्चाररहिते एकान्ते इति भावः । 'वनशोभिनि'–वनेन–वृक्षसमूहेन शोभते तत् तस्मिन् । 'एकः'–प्रधानः, तदुक्तं कोषे—

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।
साधारणे समानेऽल्पे सङ्ख्यायां च प्रयुज्यते ।।

अथ च एकसङ्ख्याकोऽपि । महान्'– समस्तपाठ्यविषयपाठनव्यवस्थया विशालः 'विद्यालयः-विद्यानाँ–ज्ञानसाधनशिक्षाणां आलयः-मन्दिरं 'स्थाप्यः—स्थापनीयः इति । अस्याऽयं भावः–बाह्यसंस्कृतिरक्षायै तदभ्युदयाय च राष्ट्रभाषा द्वारा शिक्षाप्रचारे सौकर्यं शीघ्रं राष्ट्रहितसिद्धिश्चेति सा भाषैव पूर्वं

अब राष्ट्रभाषा तथा धर्मभाषा द्वारा स्वराष्ट्र की शिक्षा ग्रहण करने के लिए महाविद्यालय की स्थापना भी करनी चाहिए, इस विषय का निरूपण किया जा रहा है : –

कारिका–27

चालीस कोस का भूखण्ड एक मण्डल कहलाता है । जनसमूहसंचार–रहित एकान्त स्थान को विजन कहा जाता है । उसे वृक्ष-समूह से शोभित होना चाहिए और वातावरण विशुद्ध होना चाहिए । विशाल महाविद्यालय वह होता है, जहां प्राय: सभी विषयों के पढ़ने की व्यवस्था हो ।

बाह्य संस्कृति की रक्षा और अभ्युदय के लिए राष्ट्रभाषा द्वारा शिक्षा के प्रचार में सौकर्य होता है और राष्ट्रहित की सिद्धि भी शीघ्र होती है । अतः पहले राष्ट्रभाषा की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए । आन्तरिक संस्कृति की रक्षा

शिक्षणीया। अथ चाऽऽर्यत्वप्रापणनिपुणाया आन्तर-संस्कृति-रक्षायै तदभ्युदयाय च धर्म्यभाषाद्वारा शिक्षा-प्रचारे सौकर्यं शीघ्रं राष्ट्रहित-सिद्धिश्चेति राष्ट्रभाषया समभेव धर्म्यभाषाऽपि शिक्षणीयेति निरूपितम्। अथ तद् द्वारा गृहीतभाषामात्रशिक्षाणां बालाऽपि स्वाऽभ्युदयनिःश्रेयस-निदानभूतस्वराष्ट्रशिक्षाग्रहणाय महाविद्यालयानां संस्थापनमावश्यक-मित्याहमण्डले मण्डले इति। एकैकस्मिन् मण्डले इत्यर्थः। मण्डलशब्दश्चत्वारिंशत्क्रोशात्मकभूभागे प्रसिद्धः। तत्र प्रत्येकस्मिन्नपि मण्डले महान् विद्यालयः स्थाप्यः। अयं भावः—गृहीतभाषामात्रशिक्षा अपि बालकाः किल अल्पवयस्कतया स्वपितरौ विहाय सुदूरं गन्तुं न समीहन्ते, पितरावपि प्रेमपूरितान्तःकरणतया सुदूरं प्रेषितुं नाऽऽकाङ्क्षन्ते। अथ च नानाविधगार्हस्थ्यभाराक्रान्तया सुदूरप्रेषितः पुत्रः पितृभिर्यथेच्छं साक्षात्कर्तुं न पार्यत इत्यतो निकट एव महाविद्यालस्याऽतीवाऽऽश्वयक-तेति। अथ च सन्निकटे चद्विद्यालयो बारं बारं बालका गृहमागच्छन्तीति स्वाध्याये महती प्रत्यव्यूह-सम्भावना भवति। अतश्च नाऽतिदूरे न चाऽतिसन्निकटे महतो विद्यालयस्याऽऽवश्यकता भासते सर्वस्याऽपि शिक्षितसमुदायस्य। अत उक्तं मण्डले मण्डले इति। किं च स्वस्वमण्डलभवो जलवायुप्रभाव एव प्रायोऽनुकूलो भवति सर्वस्याऽपि। तत्रत्यमेवौषधा-दिकमपि तदीयरोग-निवृत्तये सम्पद्यते समीचीनम्। अत एवोक्तमपि—

यद्देशजो भवेज्जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्।

इत्येवं समस्त समालोचनेन प्रतीयते यत् मण्डले मण्डलेऽतीवाऽवश्यकता महतो विद्यालयस्येति। अथ च स्वमण्डल एव महान् विद्यालयश्चेत् बाल-

---

और अभ्युदय के लिए धर्म्यभाषा द्वारा शिक्षा-प्रचार में सौकर्य होता है और शीघ्र राष्ट्रहित की सिद्धि होती है। अतः राष्ट्रभाषा के साथ ही धर्म्यभाषा की शिक्षा आवश्यक हैं। भाषामात्र की शिक्षा-ग्रहण करने वाले बालकों के अभ्युदय और कल्याण के निदानस्वरूप स्वराष्ट्रभाषा की शिक्षा-ग्रहण करने के लिए प्रत्येक मण्डल में महाविद्यालयों की स्थापना आवश्यक है।

अल्पवयस्क बालक अपने माता-पिता को छोड़ कर अध्ययन के लिए सुदूर प्रान्त में नहीं जा सकते हैं। माता-पिता भी प्रेम के कारण उन्हें दूर नहीं भेज सकते हैं। अनेकशः गार्हस्थ्यभार से आक्रान्त होने के कारण दूर भेजे गए पुत्र से पिता मिल नहीं पाते। अतः निकट स्थान पर ही महाविद्यालय की आवश्यकता होती है। यदि यह विद्यालय सन्निकट ही होगा, तब भी बालक बार-बार घर

कानां तत्पालकानां पित्रादीनां च कृते समस्तपि सौकर्यं भवतीति तत्र 'स्थाप्यः' स्थापनीयः 'राष्ट्रहितैषिणा' इत्यनुवर्तत एव । अथ चाऽयं प्रधानतया स्थापनीयः अथ चैकः एकसंख्याकः तावतैव कार्यनिष्पत्तेः । एकमण्डलभवानां समस्तपाठशालासु गृहीतभाषाशिक्षाणां पाठनाय समर्थतया प्राधान्यमेकसङ्ख्याकत्वेन च । अत्रैकत्व न मन्दिरतात्पर्येण मन्दिराणि बहून्यपि भवन्तु, तत्तु यथासम्भवमेकत्वं बहुत्व वा भविष्यत्येव । व्यवस्थापकमण्डलस्यैक्यमपेक्ष्यते इत्येकत्वं बोध्यते । अयमाशयः–एकस्य मण्डलस्य व्यवस्थायै यथैकमेव मण्डलमलं, तथा एकस्मिन् मण्डले एकेनैव मण्डलेन महान् विद्यालयः स्थापनीयः इति । अथ च सोऽपि 'महान्' विशालः स्वमण्डलभवसमस्तबालकानां शिक्षाव्यवस्थापने समर्थः । तत्तन्नानाविधविद्यानां पाठनाय महत एव प्रयोजनमिति महान् इत्युक्तम् । अयमाशयः—यत्र हि यथासम्भवं समस्तानामपि विद्यानां पाठन—व्यवस्था भवति, अथ चोच्चात्युच्चविद्यानां व्यवस्था भवति तथा महान् विधेयः । महत्त्वं हि न केवलं बाह्यमात्रेण । यथासम्भव तदप्यावश्यकमेवेति मन्तव्यमेव । एतादृशो 'विद्यालयः–विद्याः–ज्ञानसाधनानि उक्तमप्यन्यत्र 'यद्विद्यातद्विद्यानां विद्यात्वम्' इति । नानाविधाश्च ताः, ताभिः सर्वमपि ज्ञातुं शक्यते । तासां आलयः मन्दिरं, अथवा विद्याभ्यः–विद्याध्ययनार्थं आलयः मन्दिरम् । इदमप्यत्र बोध्यम्–विद्या तावद्द्विविधा पराऽपरा च । यथा पारमार्थिकं स्वरूपं ज्ञायते सा परा, अथ च यया व्यावहारिकं स्वरूपं ज्ञायते सा अपरा । इयमेवाऽपरा विद्या अविद्येत्युच्यते कैश्चित् । तदुक्तमत एवाऽन्यत्र यथा—

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।(ई. उ. 11)इति

आयेंगे । इससे अध्ययन में बाधा पहुंचेगी । अतः महाविद्यालय न तो सन्निकट हो, न अतिदूर हो । अपने मण्डल का जलवायु भी बालक के स्वास्थ्य के अनुकूल होता है, आयुर्वेद में कहा भी है, जो प्राणी जिस देश में उत्पन्न हुआ है, उसके लिए उस देश की ओषधि अनुकूल होती है । इस समस्त विवेचना से यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक मण्डल में महाविद्यालय की आवश्यकता है । जैसे एक मण्डल की व्यवस्था के लिए एक ही मण्डल पर्याप्त होता है, उसी प्रकार एक मण्डल में एक ही महाविद्यालय स्थापित किया जाना चाहिए, जो उस मण्डल में उत्पन्न समस्त बालकों की शिक्षा की व्यवस्था में समर्थ हो ।

वयं तु ब्रूमः, विद्या नाम यथार्थज्ञानसाधनं, अविद्या च अयथार्थ-ज्ञानसाधनम् । ननु तर्हि ज्ञानं भिन्नं विद्या च भिन्नेत्यायतम्, । अथ तर्हि विद्येति कथं ज्ञायते ज्ञानेनैवेति चेदन्योन्याश्रयदोषः इति चेदुच्यते यथा आम्रादाम्र एव समुद्भवति, मनुष्यान् मनुष्यः तत्र मनुष्य एव पिता कारणं मनुष्य एव च पुत्रः कार्यं एव सत्यपि यथा तत्र न विरोधः, व्यक्तिविशेषमाश्रित्य कार्यकारणभावस्य साधीयस्त्वात् । तथाऽत्राऽपि भविष्यति, एकमेव ज्ञानमवस्थाऽनैक्यात् कार्यं कारणं च भवति । यथा पुत्रज्ञानं पितृज्ञानाऽधीनं, पितृज्ञानं च पुत्रज्ञानाऽधीन यत्र यदेव कारण-तया विवक्षितं तदेव कारणमन्यत् कार्यम् । एवं न कोऽपि दोषलेशः । इदमप्यत्राऽवगन्तव्यम्--या एव कारणवृत्तय उच्यन्ते बाह्यस्वरूपोल्वा-सनविधौ ता एव करणदेव्यो भवन्त्यान्तरस्वरूपोल्वासनविधौ । एवमेव विद्याऽपि द्विविधा भवति बाह्यपदार्थसार्थयथार्थज्ञानकारिणी अशुद्धविद्या कार्यविद्या वा । आन्तरपदार्थसार्थयथार्थज्ञानकारिणी च शुद्धविद्या कारणविद्या वा । अथेयमेव विद्या यदा अयथार्थज्ञानकारिणो भवति तदेयमेवाऽविद्येत्युच्चयते । इयमपि द्विविधा बाह्याऽभ्यन्तरभेदेन । एषा सर्वविद्याऽपि विद्या यत्र मन्दिरे शिक्ष्यते स विद्यालयः । अथ च इयमपि द्विविधा ज्ञानविज्ञानमूलतया । तत्र ज्ञानं तावन्निरूपितमेव । अथ विज्ञानं द्विविधं बाह्यपदार्थविज्ञानं आन्तरपदार्थविज्ञानं चेति । ज्ञानविज्ञान-लक्षणं खल्वेवं लक्षितं प्रस्तुतभाष्यकृतैवाऽन्यत्र यथा –

विद्या दो प्रकार की है–परा तथा अपरा । जिससे पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान हो, वह परा विद्या है तथा जिससे व्यावहारिक स्वरूप का ज्ञान हो, वह अपरा विद्या है । इस अपरा विद्या को कुछ लोग अविद्या कहते हैं ।

हमारा कथन है कि विद्या यथार्थज्ञान का तथा अविद्या अयथार्थज्ञान का साधन है । जबकि ज्ञान भिन्न है और विद्या भिन्न है, तो फिर विद्या को ज्ञान से कैसे जाना जा सकता है ? यहां अन्योन्याश्रय दोष होगा । इसका उत्तर है कि आम से आम ही उत्पन्न होता है और मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न होता है । मनुष्यरूपी पिता ही मनुष्यरूपी पुत्र का कारण है एवं मनुष्यरूपी पुत्र ही मनुष्य-रूपी पिता का कार्य है । यहां व्यक्ति-विशेष का आश्रय लेकर कार्यकारणभाव प्रवर्तित हो रहे हैं । पुत्रज्ञान पितृज्ञान के अधीन है तथा पितृज्ञान पुत्रज्ञान के अधीन है । जहां जो कारणरूप में विवक्षित होता है, वही कारण होता है, और तो कार्य होता है । अतः कोई दोष नहीं है ।

ज्ञानं तदुच्यते येन सदसद्वस्तुनिश्चयः ।।
यथेष्टं भावनिर्माणशक्तिर्विज्ञानमुच्यते ।।

इदमप्यत्र बोध्यम्—यदेवान्तस्तदेवं बहीरूपतया प्रत्येतुं शक्यते। यच्च प्रतीयते तत्सर्वमप्यन्तरस्त्येव। सर्वमेतदात्मविलासे निरूपितमास्ते। अथ राष्ट्रस्य बहिः पदार्थत्वात् तद्विषयकं ज्ञानमज्ञानं विज्ञानं चाऽवश्यकमिति तच्छिक्षायै महाविद्यालयस्याऽत्यावश्यकताऽपि वर्तत एव। इदं त्वाकलनीयमेव—स्वराष्ट्रशिक्षाग्रहणेन सर्वमपि सम्भवतीदमिति। अथ च बाह्याऽभ्यन्तरज्ञानविज्ञानसम्पादनाय महतो विद्यालयस्याऽत्यन्तमावश्यकता वर्तत एव तादृशी यत्र वर्तते व्यवस्था स एव महान् विद्यालयः। इदमपि समाकलनीयम्-ज्ञानाऽपेक्षया विज्ञानस्य महत्त्वम्। व्यावहारिकाऽभ्युदयनिःश्रियससिद्धये बाह्यज्ञानविज्ञानयोरपेक्षाऽतीव वर्तते। पारमार्थिकाऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिये आन्तरज्ञानविज्ञानयोरपेक्षा वर्तते। इदमत्र रहस्यं-ज्ञानं परां काष्ठामापन्नं विज्ञानं भवति। अथ च तत् ज्ञानमेकमेव दृष्टान्तरेण बाह्यं दृष्टान्तरेणाऽऽन्तर च भवति। एवमेव विज्ञानमपि। यथा येन द्वारेण बहिर्निर्गच्छति पुरुषस्तेनैव द्वारेण अन्तरपि गन्तुं प्रभवति। अथ तत्र यथा न द्वारभेदो भवत्येवमेवैकमेव ज्ञानमापेक्षिकदृष्टितारतम्येन बाह्यमाभ्यन्तर चेति व्यवह्रियते। कार्येण तु कारणस्याऽनुमानमेव भवति, कारणेन तु कार्यस्य सिद्धिर्भवति। एवमेव बाह्यज्ञानविज्ञानाभ्यामान्तरज्ञानविज्ञानानुमानं भवति, परमान्तरज्ञानविज्ञानाभ्यां बाह्यज्ञानविज्ञानयोः

विद्या फिर दो प्रकार की है—शुद्धविद्या तथा अशुद्धविद्या। अशुद्धविद्या कार्यविद्या कहलाती है। शुद्धविद्या कारणविद्या को कहते हैं। यह विद्या जब अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने वाली होती है, तो अविद्या कहलाती है। बाह्याभ्यन्तर भेद से पुनः यह विद्या दो प्रकार की है। ये सभी विद्याएं जिस मन्दिर में सिखायी जाती हैं, वह विद्यालय ही है। ज्ञान और विज्ञान मूलक होने से यह विद्या दो प्रकार की होती है। ज्ञान का निरूपण किया जा चुका है। विज्ञान दो प्रकार का होता है-बाह्य पदार्थ विज्ञान और आन्तर पदार्थ विज्ञान। ज्ञान और विज्ञान का लक्षण ग्रन्थकार ने स्वयं किया है कि जिससे सत्—असत् वस्तु का निश्चय हो जाय, वह ज्ञान है तथा जिसमें भावनिर्माण—शक्ति हो, वह विज्ञान है।

सिद्धिर्भवति । एवं च परमार्थविज्ञानेन समस्तलाभो भवतीति निर्बाधमेवेति राष्ट्रज्ञानविज्ञान—परिपूर्णतायै स्वात्माऽवस्थितिविज्ञान-पूर्णताऽत्यन्तमपेक्ष्यते । अतश्च बाह्याऽऽभ्यन्तरज्ञानविज्ञानानि यत्र यथाविधि प्रदीयेरन् एवम्भूतो महान् विद्यालयः स्थाप्य इदमेव महत्त्वम् । यथा खलु नानाविधकार्यजातसम्पादनेन श्रान्तिमापन्नः पुरुषो विश्रान्त्यै निद्रादिकार्याणि कुरुते । पुनश्च द्विगुणां शक्ति सम्पाद्य पुनरपि कार्याणि बाह्यानि कुरुते । एवमेव स्वराष्ट्रहिताय अनन्तशक्तिप्राप्त्यै स्वात्मस्वरूपविज्ञानस्य पर्यायान्तरेण स्वात्मस्वरूपाऽवस्थितेर्महत्येवाऽपेक्षा भवति अत एवाचार्येण पूर्वस्यां कारिकायां प्रारम्भे एव राष्ट्रभाषा-धर्म्य-भाषापाठनं विहितम् । ज्ञानं च विज्ञान एवान्तर्भवति । यथा ब्राह्मणो न मनुष्य इति न सम्भवति, तथैव विज्ञानवान् अज्ञानी इत्यपि न सम्भवति । इदं च बोध्यम् - ज्ञानमेव विरुद्धदृष्ट्या अज्ञानं भवति । अज्ञानं हि न ज्ञानाऽभावः, किन्तु विरूद्धं ज्ञानमेवाज्ञानमित्युच्यते । अत एव द्वयमपि प्रतीयमानताऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नतया सदेव । सत्त्वेनाऽसत्त्वेन वा प्रतीयमानं तु द्वयमप्यस्तीति । भवतु । यथा चेदं तथा समस्तमपि विशदं निरूपितमात्मविलासे तद्व्याख्यायां चेति तत एव

ग्रन्थकार ने आत्मविलास में निरूपण किया है कि जो कुछ अन्तः है, बहिः रूप में उसकी प्रतीति हो सकती है । जिसकी प्रतीति होती है, वह सब अन्तः ही है । राष्ट्र के बहिः पदार्थ होने से तद्विषयक ज्ञान, अज्ञान और विज्ञान आवश्यक है और उस सबकी शिक्षा के लिए महाविद्यालय की आवश्यकता होती है । जहां बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान-विज्ञान के सम्पादन की व्यवस्था हो, वही महा-विद्यालय है ।

ज्ञान की अपेक्षा विज्ञान का महत्त्व है । व्यावहारिक अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिए बाह्य ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा होती है । पारमार्थिक अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिए आन्तर ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा होती है । ज्ञान जब पराकाष्ठा में पहुंच जाता है, तब वह विज्ञान हो जाता है ।

ज्ञान एक ही होता है, दृष्टिभेद से वह बाह्य और आन्तर होता है । इसी प्रकार विज्ञान जिस प्रकार मनुष्य जिस द्वार से बाहर निकलता है, उसी द्वार से अन्दर जा सकता है । जैसे वहां पर द्वार भेद नहीं होता, उसी प्रकार एक ही ज्ञान आपेक्षिक दृष्टि के तारतम्य से बाह्य और आभ्यन्तर रूप में व्यवहार किया जाता है ।

समवलोकनीयम् । भवतु सर्वथाऽप्ययमत्र सारांशः– स्थापनेन महान्तं विद्यालयं भावयेत् इति विधिवाक्यम् । अपूर्वविधिरयम् । यस्मिन् कस्मिन्नेकस्मिन् मण्डले स्थापनमात्रेण न कृतार्थतेति बोधनायोक्तं मण्डले मण्डले इति एक इति सङ्ख्या तु यथासम्भवाऽभिप्राया । प्रयोजनपूर्त्यभिप्राया च । अथ च विद्यालयः खलु राष्ट्रियबालकानां शिक्षाग्रहणार्थं स्थापनीयः स च यदि पूर्णतया यदि न सहायकोऽध्ययने तर्हि तु स वृथैव विद्याध्ययनसहायभूतान् पदार्थान्तरानप्याक्षिपति ते च पदार्था यथा विद्यार्थिनां निवासाय मठः अध्यापकानां निवासाय आश्रममन्दिराणि, भोजनाय शुद्धमन्नं, आच्छादनाय वस्त्रादि, पठनाय पुस्तकानि, एतत्सर्वमपि विद्यालयाङ्गतया सर्वस्याऽप्यस्य व्यवस्था विद्यालयेन साकं राष्ट्रहितैषिणा कार्या । अथान्तर आरोग्यादीन्यपि क्रमशो व्यक्तीकरिष्यन्त्येव । एतत्सर्वमपि यथा सम्भवमाकलनीयमेव । अथ मण्डले मण्डले क्व स्थापनीयोऽयं महाविद्यालयः ? इति

कार्य से कारण का अनुमान ही होता है । कारण से कार्य की सिद्धि होती है । इसी प्रकार बाह्य ज्ञान-विज्ञान से आन्तर ज्ञान-विज्ञान का अनुमान होता है, किन्तु आन्तर ज्ञान-विज्ञान से बाह्य ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि होती है । इस प्रकार परमार्थविज्ञान से समस्त लाभ होता है । जहां बाह्याभ्यन्तर ज्ञान-विज्ञान यथाविधि दिये जायँ– ऐसे महाविद्यालय की स्थापना की जानी चाहिए ।

ज्ञान का विज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे यह ब्राह्मण है, मनुष्य नहीं है–यह नहीं हो सकता, उसी प्रकार विज्ञानवान् अज्ञानी है, यह भी सम्भव नहीं । विरुद्धदृष्टि से ज्ञान ही अज्ञान हो जाता है । अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है । विरुद्ध ज्ञान ही अज्ञान है । किन्तु विद्यालय की स्थापना राष्ट्रिय बालकों की शिक्षा के लिए करनी चाहिए । यदि वह पूर्णतः अध्ययन में सहायक नहीं होता, तो वह व्यर्थ है और विद्याध्ययन के सहायस्वरूप इन वक्ष्यमाण पदार्थों को भी आक्षिप्त करता है । विद्यालय के साथ विद्यार्थियों के निवास का मठ, अध्यापकों के निवास हेतु आश्रम मन्दिर भोजन के लिए शुद्ध अन्न, आच्छादन के लिए वस्त्र, पढ़ने के लिए पुस्तकें, आदि की व्यवस्था भी राष्ट्रिहितेषी को करनी चाहिए ।

यह कहा गया है कि विशुद्ध वातावरण में महाविद्यालय की स्थापना करनी चाहिए । विशेषरूप से जो शुद्ध हो, उसे विशुद्ध कहते हैं । इससे यह भी ध्वनित होता है कि अशुद्ध है उसे विशुद्ध किया जाना चाहिए । पुरुष के संसर्ग

निर्वचनायाह विशुद्धेति 'विशुद्धवातावरणे'—विशुद्धं = विशेषेण शुद्धं आधिक्येन पवित्रम् । अयमभिप्रायः–महतो विद्यालयस्य स्थापनाय मण्डले स्थानमेवं भूतमावश्यकमन्यथोद्देश्यासिद्धेः । विशेषेण यत्र शुद्धिर्वर्तते स्वभावेनेव यत् पवित्र स्यात्, एतेनेदमपि ध्वन्यते यद् अशुद्धं चेद्विशुद्धं कार्यम् । यतः खलूक्तमप्यन्यत्र–'पुरुष–संसर्गेण भूमिरशुद्ध्यति'। यथा असत्पुरुष-संसर्गात् भूमिरशुद्धतामेति तथा सत्पुरुषसंसर्गाद्विशुद्धयत्यपि । पावित्र्यं च बाह्यतया आन्तरतया च भवति तदपि विशेषेणाऽवश्यकम् । विशेषश्च आधिव्याधिनाशकतया एतादृक् वाताऽऽवरणं वातस्य=वायोः आवरणमावेष्टनं यत्र । अयमभिप्रायः–प्रतिपदार्थमेकैकं वातावरणं भवति तदपि परस्परं न्यूनाऽधिकतारतम्येनानुकूल्यं प्रातिकूल्यं चोपनयति, इदमेव नामान्तरेण संस्कारमण्डलमित्युच्यते । तद्विशुद्धमावश्यकम् । महाविद्यालयस्थापनाय, यत् किल वातावरणं महाविद्यालयस्थापनोद्देशपरिपूर्त्यै सर्वथाऽऽनुकूल्यं भजते, तदेव विशुद्धं वातावरणम् । तत्स्थापनोद्देशश्च मुख्यः स्वराष्ट्रोन्नतिः सा च राष्ट्रियपुरुषाधीनेति तेषां शिक्षायां मण्डले यत्रत्यं वातावरणं सर्वथाऽनुकूलं भवति तदेव विशुद्धमिति मन्तव्यम् । एतदेव किंचित्स्फुटीकर्तुमाह—विजने इति । विविक्ते इति यावत् "विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः" इत्यमरः । जनानां स्वातन्त्र्यविकासाऽधिक्यात् नानाविधसंस्कारप्रादुर्भावकत्वात् तै रहितो देशः पवित्रो भवति स्वत एव । एतेनेदमपि बोधितं यत् नगरग्रामादि सन्निकटे न स्थापनीय इति । अथ च विजने विशिष्टाः विद्यालयस्थापनोद्देशपूर्तिसहायाः जनाः लोकाः यत्र । अथ च 'अविजने'—विरुद्धलोकरहिते, पठनपाठनादिविरुद्धलोकसञ्चाररहिते, अथ च 'वनशोभिनि' वनं वृक्षसमूहः तेन शोभते राजते तत् तस्मिन्

से भूमि अशुद्ध हो जाती है तथा सत्पुरुषों की संगति से शुद्ध या पवित्र हो जाती है । पवित्रता बाह्य और आन्तर दो प्रकार की होती है, वह भी विशेष रूप से आवश्यक है । विशेष से तात्पर्य है कि आधिव्याधिनाशक एक वातावरण होना चाहिए । यह वातावरण प्रत्येक पदार्थ में होता है, वह परस्पर न्यूनाधिक के तारतम्य से अनुकूलता या प्रतिकूलता लाता है । इसे संस्कारमण्डल भी कहते हैं । उसे विशुद्ध होना चाहिए । जो वातावरण महाविद्यालय की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वथा अनुकूल हो, वही विशुद्ध वातावरण है । विशुद्धता को स्पष्ट करने के लिए "विजने" पद का प्रयोग किया गया है । लोगों के

वनशब्दोऽत्रारोग्यसूचकजलस्थलादिनिमित्तानामुपलक्षणम् । एतेन सर्वत्र्वनुकूलं स्थानमावश्यकमिति ध्वनितम् । शोभिनि इत्यनेन नयनमनोहारित्वादि ध्वनितं, तेन चान्तःकरणविकासाऽनुकूल्यं ध्वन्यते, अथ च 'अवनशोभिनि' अवनं—रक्षणं तेन शोभते तत् तस्मिन् चौरदस्युनदीरोगविशेषाद्युपद्रवरहित इति ध्वन्यते। सर्वथाऽपि बाह्याभ्यन्तरविकासाऽनुकूलसामग्रीसहिते देशे स्थापनीय इति तात्पर्यम् । 'विजने' इत्यनेन आन्तरसंस्कारमण्डलस्य विशुद्धिरतीवाऽवश्यिकेति ध्वनितम् । 'वनशोभिनि' इत्यनेन च बाह्यसंस्कारमडण्लस्याप्यतीव विशुद्धिरावश्यिकेति ध्वन्यते। द्विविधस्याऽपि वाताऽऽवरणस्य विशुद्धत्वे एव महतो विद्यालयस्य स्थापनाया उद्देशः सिद्ध्यत्येव। सर्वमप्येतदापेक्षिकमेव। अत एव यथासम्भवाऽभिप्रायेणैव व्यवस्थापनीयम् ।नियमविधिरयम् । अयं भावः—कश्चित् राष्ट्रहितैषी 'मण्डले मण्डले' इति महाविद्यालयस्थापनविधिश्रयणसमनन्तरं तत्र प्रवृत्तिमान् यत्र तत्र स्थापयेत् जातु विशुद्धवातावरणे जातु चाऽविशुद्धवातावरणेऽपि एवं पाक्षिकीं विशुद्धवातावरणस्थापनां नियमयति— विशुद्धेति। विशुद्धवातावरण एव स्थापनीय इति। अन्यथा फलनिष्पत्तौ प्रातिकूल्यं सर्वथाऽनिवार्यमेवेति। 'समे यजेते' तिवत्। स्पष्टं चेदं नियमविधानं मीमांसाग्रन्थेषु भाट्टदीपिकादिषु। एवं च एतादृक् प्रदेशे मण्डले मण्डले महान् विद्यालयः प्रधान्येन राष्ट्रहितैषिणा स्थापनीय एवेति सिद्धम् ।।27।।

स्वातन्त्र्य-विकास के आधिक्य से और अनेक प्रकार के संस्कारों के प्रादुर्भाव होने से उनसे रहित स्थान, स्वतः पवित्र होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नगर-ग्रामादि के निकट (विद्यालय की) स्थापना नहीं करना चाहिए। विजन का अर्थ विद्यालय की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक विशिष्ट जन भी किया जा सकता हे। इसी प्रकार "अविजने" पदच्छेद करके पठन-पाठनादि-विरुद्ध लोगों के संचरण से रहित स्थान भी अर्थ लिया जा सकता है।

वनशोभिनि अर्थात् वह स्थान वन या वृक्ष समूह से शोभायमान हो। यहां वन शब्द आरोग्य सूचक जल-स्थल आदि निमित्तों का भी उपलक्षण है। इससे सब वस्तुओं के अनुकूल स्थान हो, यह भी ध्वनित होता है। शोभा में भवन-मनोहारिता भी ध्वनित होती है। "भवनशोभिनि' पदच्छेद करने से भवन-रक्षण से शोभायमान अर्थात् चोर, दस्यु, नदी, रोग विशेष आदि उपद्रवों से रहित

एवं महाविद्यालयस्थापनं विधाय तत्र 'स्वराष्ट्र-शिक्षां गृह्णीयात् इति येषां शिक्षा-ग्रहणमुपदिष्टं तान्प्रत्युपदिशन्नाह—

पूर्णाष्टवर्षका बालाः पठेयुर्ब्रह्मचारिणः ॥
संरक्षिता भिषग्वर्यैराविंशत्यब्दपूरणात् ॥28॥

[उन विद्यालयों में बीस वर्ष वय (आयु) पूर्ण होने पर्यन्त वे बालक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके पढ़ें, जिनके वय के आठ वर्ष पूर्ण हुए हों तथा श्रेष्ठ वैद्यों से सरक्षित हों ॥28॥]

पूर्णेति । पूर्णाष्टवर्षकाः—आविंशत्यब्दपूर्णात् —ब्रह्मचारिणः— भिषग्वर्यैः — संरक्षिता— बालाः—पठेयुः । इति पदयोजनिका ।

पूर्णाऽष्टवर्षकाः-वर्षाण्येव वर्षकाणि स्वार्थे कप्रत्ययः । अष्टौ= अष्टसङ्ख्याकानि च तानि वर्षाणि च पूर्णानि=संपूर्णानि अष्टवर्ष-काणि येषां ते तादृशाः विंशतिसङ्ख्याकानि अब्दानि-वर्षाणि तेषां पूरणं समाप्ति-तत् मर्यादीकृत्येत्याविंशत्यब्दपूरणं तस्मात् 'आङ् मर्या-दाऽभिविध्योः' (पा. सू. 2.1.13) इति समासः । 'ब्रह्मचारिणः'–ब्रह्म-ज्ञानं चरितुं ज्ञातुं शीलं येषां ते तथा । चर गतिभक्षणयोः । 'सुप्यजातौ' (पा. सू. 3.2.78) इति णिनिस्ताच्छील्ये । तथाभूताः सन्तः भिषग्वर्यैः' भिषजः रोगहारिणः तेषां तेषु वा वर्याः श्रेष्ठाः । (रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यौ चिकित्सके' त्यमरः । तैः 'संरक्षिताः'—सम्यक् रक्षिताः 'बालाः'—अप्राप्तयौवना विनिर्गतशैशवाश्च विद्यार्थिन इति यावत् । 'पठेयुः=स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयुः । तस्मिन् महाविद्यालये इति शेषः । अस्या अयमभिप्रायः—पूर्वस्यां कारिकायां महाविद्यालयस्थापना शिक्षा-र्थमुपदिष्टा । अथाऽनन्तरं शिक्षार्थिनां विषयमधिकृत्येदानीमवश्यं निरूप-णीयमित्याह-पूर्णेति । तस्मिन् महति विद्यालये स्वमण्डलस्थे यैरध्य-

---

स्थान ध्वनित होता है । तात्पर्य यह है कि बाह्य और आभ्यन्तर विकास के अनुकूल सामग्री से युक्त स्थान पर (विद्यालय) स्थापित करना चाहिए ।

इस प्रकार महाविद्यालय की स्थापना करके वहां स्वराष्ट्र-शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए । जिन्हें शिक्षाग्रहण करनी है, उनका निरूपण किया जा रहा है :—

कारिका–28

उस महाविद्यालय में उन विद्यार्थियों को अध्ययन हेतु रखना चाहिए, जो आठ वर्ष से 20 वर्ष तक के हों । आठ वर्ष तक ग्रामीण पाठशाला में पढ़कर आये हुए विद्यार्थी ही राष्ट्रभाषा तथा धर्मभाषा की शिक्षा ग्रहण करने योग्य

यनं विधेयं तैरेतादृशैर्भाव्यम् । प्रथमं तावत् पूर्णाऽष्टवर्षत्वमावश्यकम् ! अष्टवर्षपर्यन्तं ग्रामीणपाठशालायां पठनस्याऽनुपदमेवोपदिश्यमानत्वात् । अत्र 'पूर्णवर्षाष्टका' इत्येवं वा पठनीयम् । जन्मन आरभ्य अष्टौ वर्षाणि येषां पूर्णानि । अत्रेद बोजम्—अपूर्णवर्षाष्टकाः किल बालका अल्पवयस्कतया राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाऽध्ययनयोग्याः, स्वपितरावुत्सृज्य न गन्तुं सुदूरं प्रभवन्ति । अथ च पितरावपि नोत्स्रष्टुं पारयन्ते इति तेषांकृते स्वग्रामे एव पाठशालास्थापनं भाषाऽध्ययनाय विहितम् । अथैतादृशाऽष्टवर्षपर्यन्तं कृताऽवश्यकभाषाऽध्ययनाः तद्द्वारा बाह्याऽऽभ्यन्तरज्ञानग्रहणाय महति विद्यालये गच्छेयुः तत्र च आविंशत्यब्दपूरणात् ब्रह्मचारिणः सन्तः पठेयुः । अयमाशयः—जन्मन आरभ्य विंशतिसङ्ख्याकवर्षपर्यन्तं ब्रह्मचारिणो भवेयुः एतदतीवाऽवश्यकम् । अष्टवर्षपर्यन्तं तावद्ब्रह्मचर्याऽभावशङ्कैव नास्तीति शास्त्रेषु द्वादशवर्षाऽवरं ब्रह्मचर्यमुपदिष्टमष्टमवर्षादारभ्येति न कोऽपि विरोधः । अत एवोपनयनसंस्कारः शास्त्रकारैरष्टमवर्षादारभ्य विहितः । उपनयनं च संस्कारविशेषः तदुक्तमापस्तम्बमहर्षिणा—"उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः" इति । स्वस्ववर्णाश्च जातिसमाचाराऽनुसारेण संस्काराः क्रियन्ते । ते यथायथं विधेयाः, नाऽत्र तेषां विषये वक्तव्यम् । ग्रन्थस्याऽस्य मनुष्यमात्रमुद्दिश्य विहितत्वात् समस्ताऽविरोधिकार्यविषयस्यैवाऽत्र विवेचनीयत्वात् । 'ब्रह्मचारिणः—विद्याध्ययनशीलाः सन्तः पठेयुः । अत्रेदं बोध्यम्—ब्रह्मचर्यं हि सर्वविधमपि शीलनीयम् । ब्रह्म—वृद्धियुक्तं वृहि वृद्धौ उन्नतमिति यावत् । तत्चतुं—अधिगन्तुं शीलं येषां ते ब्रह्मचारिणः ।

है । शास्त्रों में आठ वर्ष से बीस वर्ष तक की अवस्था को ब्रह्मचर्य अवस्था कहा गया है. क्योंकि इन बारह वर्षों को ही ब्रह्मचर्यावस्था माना गया है ।

मेधाप्राप्ति का मूल ओजस् का योगक्षेम होता है । (योग-अप्राप्त की प्राप्ति । क्षेम–प्राप्त की रक्षा) ओजस् की प्राप्ति वीर्य-लाभ से होती है । वीर्यलाभ ब्रह्मचर्य से होता है । पतंजलि ने कहा भी है—"ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः" । ब्रह्मचर्य के बिना विद्याग्रहण करना सम्भव नहीं है । जिस प्रकार शरीर स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेद से तीन प्रकार का है, उसी प्रकार यह ब्रह्मचर्य भी तीन प्रकार का है । केवल स्थूल ब्रह्मचर्य के धारण करने से ओजस् का योग-क्षेम नहीं होता । अतः तीनों प्रकार का ब्रह्मचर्य आवश्यक है ।

भक्ष्याभक्ष्यविवेक, कार्याकार्यविवेक, गुरुजनों का सम्मानादि स्थूल ब्रह्म-

उन्नतिज्ञानामपि गमनशीलमिति भावः । उन्नतिश्चेयं स्वराष्ट्रस्येति निरूपितं पूर्वम् समस्तविधस्वराष्ट्रज्ञानसमधिगमनशीलिनो भवेयुरिति । इदमप्याकलनीयम्—एतज्ज्ञानग्रहणे या काऽपि कारणसामग्र्यपेक्ष्यते सा सर्वाऽप्यप्रमत्तेन सम्पादनीया, कार्यताऽवच्छेदकावच्छिन्नं प्रति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नायाः सामग्र्याः कारणतात्वनियमात् । तत्र सर्वेष्वपि कारणकलापेषु ज्ञानत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य विज्ञानत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नस्य च निदानं मेधैव । मेधा - धारणावती धीः । 'धीर्धारणावती मेधा" इत्यमरः । अतएव दुर्गासप्तशतीस्तवे शक्रादिदेवगणविरचितायां स्तुताविदमुक्तम् —

'मेधाऽसि देवि विदिताऽखिलशास्त्रसारा' (स. 4.10)।

समस्तविधबाह्याऽऽभ्यन्तरसमुन्नतौ तत्पराकाष्ठार्थं च विद्याया एव कारणतेति पूर्वं बहुधा निरूपितमेव । अतएव सप्तशतीस्तवेऽपि विद्याया एव स्वातन्त्र्ये कारणता उपपादिता यथा —

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रतात्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ॥
मोक्षार्थिभिमुनिभिरस्तसमस्त दोषै—
र्विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवी ॥ स. 4.8.)।

अथ च मेधाप्राप्तिनिदानं ओजसो योगक्षेमौ । ओजसः प्राप्तिश्च वीर्यलाभाऽधीना । वीर्यलाभश्च ब्रह्मचर्याऽधीनः । अत एव पातञ्जले योगसूत्रे "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः" (यो. 2/38) इत्युक्तम् । एवं च ब्रह्मचर्यं बिना विद्याग्रहणं न सम्भवतीति तदेव निरूपणीयमिति प्रतिभाति । श्रूयतां समासतो रहस्यमत्रत्यम्–ओजसो योगक्षेमौ ब्रह्मचर्यमित्युच्यते । अत एव बीजात्फलपर्यन्तं सर्वस्याऽपि कार्यकारणभावापन्न-

---

चर्य कहलाता है । उपासना, आत्ममननादि सूक्ष्म ब्रह्मचर्य कहलाता है । आत्मा में समाधिस्थ होना कारण ब्रह्मचर्य कहलाता है ।

ब्रह्मचर्य का पालन करना मनुष्य मात्र का अधिकार है, क्योंकि यह मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी है । ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले मेधावी होते हैं । मेधावी सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं । जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त होते हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं, या निषेध कर सकते हैं या (अनपेक्षित) को दूर कर सकते हैं ।

यह आश्रम शूद्रत्व की निवृत्ति के लिए स्थापित किया गया है । यह प्रथम ही आश्रम है । शिव आत्मविज्ञ होने से, ब्राह्मण विज्ञानोंन्मुख होने से, क्षत्रिय

ब्रह्मचर्यव्यवहारः । अयं भावः-ब्रह्म—सर्वाऽतिशायि सर्वाधारं वस्तुभूतं, तच्च निपुणं पर्यालोच्यमानं सवतोऽपि ओतप्रोतभावेन भरिततया आत्मैवेति समनुभूयते । तत् चर्तुं भक्षितुं--विज्ञातुमिति यावत् । शीलवतो भावः कर्म च ब्रह्मचर्यमित्युच्यते । एवं च स्वात्मरूपाऽवस्थिति-स्तत्साधनं च ब्रह्मचर्यं भवति । साध्यो मुख्यो व्यवहारः साधने च गौणः । अस्यां कारिकायां पुनः साधनब्रह्मचर्यधारिणः 'ब्रह्मचारिणोऽभि-मताः' साधनानि, विद्याध्ययनाऽनुकूल आचारविचारकलापः यथैवौजसो योगक्षेमौ भवेतां तथैवाऽऽचारविचारपरिपालनं कुर्वन्तः पठेयुरिति । अत्रेदमपि बोध्यम्--यथा बीजे शुद्धः फलपर्यन्तं शुद्धो भवति पदार्थः । तथा कारणाब्रह्चर्येणैव परमो लाभो भवति । अयमाशयः--कारण-सूक्ष्मस्थूलशरीरभेदेन शरीरभेदात् तदोजोयोगक्षेमसाधनकं ब्रह्मचर्यमपि त्रिविधं भवति, केवलं स्थूलब्रह्मचर्यधारणेन न योगक्षेमावोजसः सम्प-द्येते । अतस्त्रिविधमपि ब्रह्मचर्यमावश्यकम् । भक्ष्याऽभक्ष्यविवेकः, कार्याऽकार्यविवेकः, यथा गुरुजनसम्मानादिकार्यकरण, स्थूलं कर्म ब्रह्चर्यमित्युच्यते । सूक्ष्ममुपासनादि, आत्ममननादि, च ब्रह्मचर्यम् । कारणमात्मनि समाधिः ब्रह्मचर्यम् । स्वस्वरूपविज्ञानमिति सर्वथाऽपि वीर्यलाभसाधनं ब्रह्चर्यमित्युच्यते । अतएवाऽन्यत्र वीर्यक्षयकारिकर्म विरुद्धं ब्रम्हचर्यमित्युपदिष्टम् । यथा—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाऽष्टलक्षणम् ॥ इति ।

क्रियोन्मुख होने से और वैश्य विक्रियोंन्मुख होने से शूद्र कहलाता है । परशिव ही क्रिया-प्राधान्य का आश्रय लेकर जीव होता है । ज्ञान-प्राधान्य का आश्रय लेकर शिव होता है । बाह्य स्वरूप में तो किसी प्रकार वर्णन किया भी जा सकता है, पर आन्तर स्वरूप में तो वह भी सम्भव नहीं ।

क्रिया को ज्ञान में, ज्ञान को विज्ञान में विलायन करके पूर्णोन्नति के आनन्द का अनुभव होता है, जिसे शिवानन्द भी कहते हैं ।

ब्रह्मचर्य के पालन से शूद्रत्व की निवृत्ति, गार्हस्थ्य-पालन से वैश्यत्व की निवृत्ति, वानप्रस्थ के पालन से क्षत्रियत्व की निवृत्ति, और संन्यास-पालन से ब्राह्मणत्व की निवृत्ति होती है ।

सर्वथाऽपि समस्तविधं ब्रह्मचर्य्यमावश्यकम् । अत्र हि ब्रह्मचर्ये मनुष्यमात्राणामधिकारः । यत इदं मनुष्यमात्रोपयोग्यस्ति । ब्रह्मचर्यवन्तो मेधाविनो भवन्ति मेधाविनश्च समस्तमपि ज्ञातुं विज्ञातुं चेशते । ज्ञानविज्ञानसमर्था एव च जगति कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं प्रभवन्ति । आश्रमोऽयं शूद्रत्वनिवृत्यै स्थापितः । प्रथम एवाऽयमाश्रमः । इदमत्र बोध्यम्-शिवः खल्वात्मविज्ञतया ब्राह्मण इत्युच्यते आत्मज्ञानितया बहिर्विज्ञानोन्मुखत्वे च क्षत्रिय इत्युच्यते । अयमेव क्रियोन्मुखो वैश्यो विक्रियोन्मुखश्च शूद्रः । परशिव एव क्रियाप्राधान्यमवलम्ब्य जीवो भवति । ज्ञानप्राधान्यमवलम्ब्य शिवो भवति, बाह्यस्वरूपे तु कथं चिद्वर्णनमपि सम्भवति, आन्तरस्वरूपे तु तदपि न सम्भवति । भवतु । अतिगहनमेतत्सर्वं निरूपितमात्मविलासे तट्टीकायां चेति नाऽत्र चर्चयिष्यते । सर्वेष्वपि पदार्थेषु चातुर्वर्ण्यं स्वाभाविकम् । तच्च गुणकर्मविभागविज्ञानेन विज्ञायते, ज्ञानेन च ज्ञायते । गुणपदमत्रत्यं ज्ञानपरं, कर्मपदं च क्रियापरम् । बाह्यदृष्ट्या एव विकासः स एवान्तर्दृष्ट्या सङ्कोचः । विकासपराकाष्ठैव कर्मपराकाष्ठा तत्र ह्यनन्ता भेदाः । अत एव सर्वत्र तत्र कलहो दृश्यते । एवं सङ्कोचपराकाष्ठैव गुणपराकाष्ठा, तत्र समस्तस्याऽभेदभावस्य प्रलीनतया परिपूर्णं साम्यमिति पूर्णा शान्तिरनुभूयते । एतदेवाऽभिप्रेत्य पञ्चस्तवीसमाह्वये स्तोत्रराजे उक्तम्—

सङ्कोचमृच्छसि यदा गिरिजे तदानीं ।
वाक्तर्कयोस्त्वमसि भूमिरनामरूपा ।।
यद्वा विकासमुपयासि यदा तदानीं
त्वन्नामरूपगणनाः सुकरीभवन्ति ।। (पं. स्त. 4.22.) इति ।

तत्पश्चात् परिपूर्ण शुद्ध बुद्ध मुक्त, स्वभाव से युक्त पूर्णसाम्य हो जाता है। उसमें वर्ण जाति और आश्रमादि साधक या बाधक नहीं होते हैं। जैसे ब्राह्मणत्व की पराकाष्ठा में आत्म-साक्षात्कार होता है तथा शूद्रत्व की पराकाष्ठा में भी आत्म-साक्षात्कार होता है। परन्तु यह पारतन्त्र्य का मूल होने से आनन्द का कारण नहीं होता है। ब्राह्मणत्व की पराकाष्ठा में जो आत्मसाक्षात्कार होता है, वह स्वातन्त्र्य का मूल होने से पूर्णरूपेण आनन्दित करता है। पूर्ण आत्म-साक्षात्कार में सर्वत्र पूर्णानन्द प्राप्त होता है।

श्रुति में यह क्रम बतलाया गया है कि—ब्रह्मचर्य से गृहस्थी होता है। गृहस्थी से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से अतिशक्तिशाली संन्यास के लिए इस नियम

एवं च बहिर्विकासः पातित्यमित्युच्यते। तत्र पतनपराकाष्ठा शूद्रत्वमुच्यते पतनोन्मुखत्वं वैश्यत्वं, उत्पतनोन्मुखत्वं क्षत्रियत्वं, उत्पतनपराकाष्ठा च ब्राह्मणत्वम् इति स्वात्माऽनुभव-सम्पन्नैः साक्षीकृत्य वर्ण्यते भवतां पुरस्तात्कथंचित् । अथ स्वस्वातन्त्र्यात् पूर्णपतनाऽनन्दमनुभूयाऽऽरोहानन्दमनुभवितुकामो विक्रियायां क्रियायांयया क्रियां ज्ञाने ज्ञानं च विज्ञाने विलाप्य पूर्णोत्पतनाऽऽनन्दमनुभवति शिवाऽऽनन्दम् । अयमतिरहस्यभूतो महाविद्याविलास एकः पन्थाः। अयमेवैकया दृष्ट्या आरोहणक्रमः दृष्टान्तरेण चाऽवरोहक्रम. । इमावेव रहस्यविद्भिः कमाऽक्रमावित्युच्येते । आपेक्षिकौ द्वावपीमौ क्रमाऽक्रमौ भवतः। अथाऽन्यस्मिन्पथि महामायाविलासेन न किमपि मनोवाग्विषय-तामवगाहते इति मौनमेव वरम् । क्रमाऽक्रमाननुसन्धानेऽयोगिनां तावेव विक्रमः अलमनेन रहस्योद्घाटनेन। अथेदं त्ववगम्यमेव शूद्रत्वनिवर्तनं यथा ब्रह्मचर्यपालनेन भवति। यथावद्गार्हस्थ्यपालनेन वैश्यत्वं निर्वर्त्यते। वानप्रस्थपालनेन क्षत्रियत्वं निर्वर्त्यते । संन्यासपालनेन ब्राह्मणत्वं निर्वर्त्यते। अनन्तरं च परिपूर्णशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वां पूर्णसाम्यं भवति तत्र न वर्णजात्याश्रमादि किमपि साधकं बाधकं वा भवति यथा ब्राह्मण्यपराकाष्ठायामात्मसाक्षात्कार एवं शूद्रत्वपरकाष्ठायामप्यात्म-साक्षात्कारो भवति। परं स पारतन्त्र्यमूल इति नाऽऽनन्दयति ब्राह्मण्य-पराकाष्ठायां य आत्मसाक्षात्कारः स स्वातन्त्र्यमूल इति निकाममा-नन्दयति। पूर्णात्मसाक्षात्कारे सर्वत्राऽपि पूर्णाऽनन्द इति तु रहस्यम्। अत एव 'ब्रह्मचर्याद् गृही भवेत्, गृहाद्वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति क्रमो दर्शितः श्रुतौ । अथ चाऽतिशक्तिशालिनामेतदुल्लङ्घनमप्यनुज्ञात यथा—"यदिवेतरथा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ब्रह्मचर्याद्वा

का उल्लंघन भी अनुज्ञात है, जैसे जिस दिन विराग उत्पन्न हो जाय, उसी दिन सन्यास ले लेना चाहिए, ब्रह्मचर्य से, गृहस्थ से या बानप्रस्थ से। पराक्रमशाली व्यक्तियों को सब कुछ शोभा देता है। पराक्रम की प्राप्ति अनेक जन्मों के पुण्यों के परिपाक से होती है। बालकों को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए महाविद्यालय में पूरे आठ वर्ष तक अध्ययन करना चाहिए।

बीस वर्ष से पहले विवाह नहीं करना चाहिए । इससे पूर्व विवाह करने में वीर्य का योगक्षेम नहीं होता तथा इससे पूर्व वीर्यत्याग से मेधा का भी ह्रास होता

वनाद्वा गृहाद्वा" इति । विक्रमशालिनां सर्वमपि शोभते । विक्रमः खलु नैकजन्मपुण्यपुञ्जपरिपाकवशाद्भवति । भवत्वेतद्विषये बहु वक्तव्यमपि विस्तरभियाऽत्रैव विरम्यते । एवं च ब्रह्मचारिणः सन्तस्तत्र महति विद्यालये पूर्णाऽष्टवर्षका बालाः पठेयुः इति पठनविधिवाक्यम् । अत्र च प्रमादे विद्यार्थिन एव दण्ड्या इति बोधनाय पठनविधिरुपदिष्ट आचार्येण । किं च सवर्णदीर्घमाश्रित्य पूर्णाऽष्टवर्षकाश्च ते अबालाश्च इत्येवं व्याख्येयम् । तेनेदं सूच्यते यत् ते नाऽत्यन्तमज्ञा इति अपराधे दण्डभाक्त्वं तेषामेवेति । अल्पार्थश्च नञ् ज्ञेयोऽत्र 'अबाला' इति । नञर्थः षड्विध उक्त यथा—

तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदभावस्तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ।।

किंचिद्बाल्यवन्त इति पठनेऽधिकारित्वं, अल्पदण्डभाक्त्वं च ध्वन्यते । किं च आविंशत्यब्दपूरणात् विंशतिवर्षसमाप्तिपर्यन्तं ब्रह्मचर्यधारणं त्वतीवाऽवश्यकमित्यप्युपदिश्यते । अथ च विंशतिवर्षात् प्राक् विवाहो नैव कार्य इति बोध्यते । गार्हस्थ्ये किल वीर्ययोगक्षेमौ न भवत इति मेधावित्वमपि वीर्यत्यागेन समं त्यज्यते इति विद्याग्रहणधारणपटुता न सम्भवतीति विद्याग्रहणपर्यन्तं विवाहो नैव कार्य इति फलति । अत एव केनाप्यनुभववता कथितमास्ते यत्—

मातुः स्तनौ परित्यज्य कान्तास्तनपरिग्रहात् ।
विद्याध्ययनसम्पत्तिर्न जातु तदनन्तरम् ।।

अथ च आविंशत्यब्दपूरणात् पूर्णहिताऽहितज्ञानवत्त्वाऽभावात् यौवनदोषात्प्रमादो मा भवत्विति संरक्षिता भिषग्वर्यैरित्युक्तम् । भिषग्वर्यैः–भिषजां=वैद्यानां तेषु वा वर्याः=श्रेष्ठाः एतेन अर्धवैद्या भिषक्पाशा निराकृताः । तादृशैः श्रेष्ठवैद्यैः 'संरक्षिता'–सम्यक् रक्षिताः–पालिताः । एतेनेदं बोध्यते यत् महति विद्यालये बालकानां संरक्षणाय उत्तमोत्तमा वैद्याः स्थापनीया इति । ते च मासि मासि नीरोगाणामपि

है । अतः विद्याध्ययन तक विवाह नहीं करना चाहिए । किसी अनुभवी ने कहा भी है—

मातुःस्तनौ परित्यज्य कान्तास्तनपरिग्रहात् ।
विद्याध्ययन-सम्पतिर्न जातु तदनन्तरम् ।।

अर्थात् माता के स्तनों को छोड़ने और पत्नी के स्तनों को ग्रहण करने तक

सर्वाङ्गाणां परीक्षणं कुर्युः, अथ जातु रोगश्चेत्तदैव तत्संशमनमपि सम्भवति। गुप्तरोगाः किल जुगुप्सया तत्कालमसंशमिता उपेक्षिता वा कालान्तरेणाऽतीव कष्टप्रदा दुश्चिकित्स्या भवन्ति, अथ चैते वीर्यमपि दूषयन्तो भाविसंतानपरम्परां रोगिणीं जनयन्तो राष्ट्रघातं कुर्वन्तीति। एतच्च रक्षणं सम्यक्, आधिव्याधिहरणोचितैरुपायैर्भवति। एवं संरक्षिता भिषग्वर्यैर्ब्रह्मचारिणोऽपि भवितुमर्हन्ति। अयं भावः रोगाः किल अयुक्ताऽऽहारविहारैरूत्पद्यन्ते। अयुक्ताहारविहारा अबुद्धा भवन्तु बुद्धा वा ते नानाविधान् रोगान् समुद्भावयन्त्येव। ते च ब्रह्मचर्यसम्पाद्यमोजसमवश्यमेव दूषयन्ति तेन च चतुर्वर्गसाधनं शरीरमपि दुष्यति, दुष्टं च तत् कथं समुन्नतिसाधनं भवेदिति समालोच्य भिषग्वर्यैः स्वराष्ट्रसमुन्नत्यै तदाधारभूतबालकानां रोगाः केनाऽपि कारणेन समुद्भूता मूले एव निर्बीजा विधेयाः। रोगाः किल मानसीं चिन्तामुत्पादयन्तो बहिः शरीरं च पीडयन्तो ब्रह्मचर्यं नाशयितुं प्रयतन्ते समुन्नतो महान् शत्रुरित्युत्पत्स्यमान एव विनाश्यः कदाऽपि नोपेक्ष्यः। अत एव महाकविना माघेनाऽप्युक्तमेवम् –

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ॥
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च ॥
(शि. 2.10.)

विंशत्यब्दपूरणाऽवधि किल ते अबालाः==ईषद्बाल्यवन्त एवेति न स्वरक्षणं सम्यक् कर्तुं जानन्तीति भिषग्वर्यैरेव संरक्षणीया इति बोध्यते। एतेन स्वराष्ट्रबालकानामब्रह्मचर्ये भिषग्वर्याणामपराधित्वं बोध्यते आचार्येण। अत एव भिषग्वर्यैः इति कर्तरि तृतीयान्तमुपात्तं पदम्। रक्षिता इति कर्मणि क्तप्रत्ययान्तं ब्रह्मचारिणां विधेयत्वं बोधयत् भिषग्वर्याऽज्ञोल्लङ्घने दण्डभाक्त्वं बोधयति। अतः पठेयुरिति विधौ कर्तृत्वं तेषां बोधितम्। नोक्तं च भिषग्वर्याः संरक्ष्य पाठयेयुरिति। अत्रेदं च बोध्यम्—संरक्षणे भिषग्वर्याणां कर्तृत्वबोधनं चेदमपि

का समय विद्याध्ययन का है, उसके बाद नहीं। बीस वर्ष से पूर्व पूर्ण हिताहित-ज्ञान का विवेक न होने से यौवन-दोष से प्रमाद की आशंका बनी रहती है। इसीलिए कहा गया है कि बालकों को वैद्यों द्वारा संरक्षित किया जाना चाहिए। अतः महाविद्यालय में उत्तम वैद्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। वे प्रत्येक मास बालकों के अंगों का निरीक्षण करें। यदि उनमें कोई दोष पाया जाय, तो

बोधयति यत् —भिषग्वर्यै: किल राष्ट्रबालकानां महति विद्यालये पठतां आहारविहारादि सर्वमपि समालोच्य व्यवस्थापनीयमिति । अथवैवं व्याख्येयम् – पूर्वाऽनुवृत्तं 'राष्ट्रहितैषिणा' पदमत्राऽप्यध्याहार्यम् । राष्ट्र-हितैषिणा भिषग्वर्यैः संरक्षिताः' इति च व्याख्येयम् । अयमाशयः—भिषग्वर्या राष्ट्रहितैषिनियोजिताः सरक्षणं कुर्युः । एतेन भिषग्वर्याणां नियोगाभावे, सर्वथा राष्ट्रहितैष्येवापराध्नोतीत्यपि बोधितम् । तेन च 'राष्ट्रहितैषिणा' भिषग्वर्याः सम्यक् परीक्ष्य राष्ट्रबालकानां संरक्षणे नियोज्या एव बोध्यते, एतेन भिषग्वर्यनियोजनाऽभावे, भिषक्पाशनियोगे वा राष्ट्रहितैषी दण्डभाग्भवतीत्यपि बोधितम् । एवं च विधाध्ययने यद्दृशकमुक्त साधनत्वेन तद् व्यवस्थापितं भवति । इदं च बोध्यम्—'बालाः पठेयुः' इति विधिवाक्यम् । तत्र प्रकृत्यर्थः पाठः प्रत्ययार्थश्च भावनैव तत्स्वरूपं च भावनाऽनुकूलो व्यापारविशेषः, यो 'भावयेत्' इत्या-दिशब्देनाऽभिलष्यते । सा च भावना 'किं' 'केन' 'कथं' इति साध्यसाधने-तिकर्त्तव्यताख्यमंशत्रयमपेक्षते । तत्र 'किं' इति साध्याकाङ्क्षायां षष्ठा-द्यन्यायेन 'स्वां समुन्नतिं' इति पूर्वं विहिता स्वसमुन्नतिस्तत्त्वेनाऽन्वेति । साधनाकाङ्क्षायां भावार्थाधिकरणन्यायेन समानपदोपात्तः पाठः करण-त्वेनाऽन्वेति । कथम्भावाऽऽकाङ्क्षायां च ब्रह्मचारित्वादि भिषग्वर्य-संरक्षितत्वादि समन्वेतीति । एवं मीमांसकरीत्या विचारः सर्वत्र प्रवर्त-नीयो विद्वद्भिः । एवमेव 'संरक्षिता भिषग्वर्यैः' इत्यत्राऽपि 'भिषग्वर्याः' 'संरक्षेयुः' इति विधिवाक्यं कल्प्यते । तत्र संरक्षणेन बालकानां ब्रह्म-चर्यं भावयेयुः इति बोध्यते । भिषग्वर्यलक्षणान्यायुर्वेदेषूपदिष्टानि तत एवाऽवलोक्यानि । अलमनेन ।।28।।

उस समय उस रोग का शमन सरलता से हो सकता है । यदि गुप्त रोग हो या जुगुप्सावश उपचार न हुआ हो या उपेक्षित रहा हो, तो कालान्तर में उससे अधिक हानि हो सकती है । इससे वीर्य में दोष उत्पन्न होने से भावी सन्तान पर भी दुष्प्रभाव पड़ सकता है । यह रक्षण आधिव्याधि दूर करने वाले उपायों से होता है । इस प्रकार वैद्यों से संरक्षित होकर ब्रह्मचारी भी बने रह सकते हैं ।

रोग अयुक्ताहारविहार से उत्पन्न होते हैं । इन रोगों से चतुर्वर्ग का साधन भूत शरीर भी प्रदूषित हो जाता है । दोषयुक्त शरीर उन्नति का साधन कैसे बन सकता है । स्वराष्ट्र की उन्नति के लिए राष्ट्र के प्रमुख नागरिक बालकों में रोग किसी भी कारण से उत्पन्न हो, उन्हें प्रारम्भ में ही निर्बीज कर देना

एवं पाठशालास्थापनं "प्रतिग्रामं" (रा. 26) तत्राध्याप्यविषयं निरूप्य, (रा. 26) महाविद्यालयस्थापनं (रा. 27) तत्र अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं विद्याध्ययनं भिषग्वर्यैः संरक्षितत्वं च निरूप्य (रा. 28) सम्प्रति शिशूनामध्यापनं ग्रामस्थपाठशालायामेव युक्तमिति निरूपयति—

अतीतचतुरब्दानामाष्टमाब्दप्रपूरणात् ।।
ग्रामीणपाठशालायां बालानां पाठनं हितम् ।।29।।

[जिनके वयके चार वर्ष पूर्ण हो चुके हैं, उन बालक तथा बालिकाओं को गांव की पाठशाला में पढ़ाना हितकर है ।।29।।

अतीतेति । अतीतचतुरब्दानां – अष्टमाब्दप्रपूरणात् बालानां हितं—पाठन-ग्रामीणपाठशालायां इति पदयोजनिका ।।

'अतीतचतुरब्दानां'—चत्वारि चतुःसङ्ख्याकानि जन्मन आरभ्येति भावः । अब्दानि – वर्षाणि अतीतानि—समस्तास्तानि चतुरब्दानि येषां ते ता वा अतीतचतुरब्दाः तेषां तासां च 'आष्टमाब्दप्रपूरणात्'—अष्टानां अष्टसंख्याकानां पूरणमष्टमं "नान्तादसङ्ख्यादेर्मट्" (पा. सू. 5.2.49.) यत् अब्दं - वर्षं तस्य प्रपूरणं प्रकर्षेण समाप्तिः तदभिव्याप्येति 'आष्टमाब्दप्रपूरणं' तस्मात् । बालानां—स्त्रीपुंससाधारणानाम् 'हितं' पारिणामिकसुखजनकं हितस्य विशेषणतया विधेयत्वाऽनवगमान्न चतुर्थी । अत एव "नहि तस्य हितं किंचित्कर्तव्यमस्ति" इत्येवं प्रयोगः श्रीशङ्करभगवत्पादानां (ब्र.सू. 2.1.22) सङ्गच्छते । पाठनं=अध्यापनं 'ग्रामीणपाठशालायाम्'—ग्रामे भवा ग्रामीणा "ग्रामाद्यखञौ" (पा.सू. 4.2.94.) इति खञ् । पाठशाला=शिक्षायै व्यवस्थापितं मन्दिरं तस्यां भवति' इति शेषः ।

चाहिए । रोगों से शरीरचिन्ता के साथ-साथ मानसिक चिन्ता भी उत्पन्न होती है तथा ब्रह्मचर्य का नाश भी होता है अत वैद्यों को चाहिए कि वे महाविद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों का आहार-बिहारादि का निरूपण करके ही व्यवस्था करें ।

बच्चों का अध्यापन ग्रामस्थ पाठशाला में ही उपयुक्त है, इसका विवेचन किया जा रहा है :—

कारिका–29

चार वर्ष से आठ वर्ष तक बालकों और बालिकाओं को ग्रामीण पाठशाला में पढ़ाना हितकारक है । (बालशब्द का तथा बालाशब्द का षष्ठी बहुवचन एकसमान (बालानाम्) ही होता है ।)

अयं भावः—पूर्वं पाठशालास्थापनं विहितं, तदनन्तरं महाविद्यालय-स्थापना विहिता तत्प्रसङ्गेनैव तत्र महति विद्यालये पठनं विहितम् । परं तु महाविद्यालये विद्याध्ययनाय प्रवेशे अष्टमवर्ष - समाप्तेरावश्यकत्वं बोधितं, अथाऽतस्तत्पूर्वं किं कार्यमिति निरूपणायाऽयमारम्भः । येषां किल बालानां स्त्रीजातीयानां पुञ्जातीयानां वा, (बालशब्दस्य बाला-शब्दस्य च षष्ठीबहुवचन समानमेव भवति, बालाश्च बालाश्च बालाः तेषां बालानाम् इति व्याख्येयम्) जन्मत आरभ्य चत्वार्यब्दानि अतीतानि अथ च अष्टमं वर्ष प्रकर्षेण न पूरणं तदभिव्याप्यकालपर्यन्त स्वग्रामस्थ-पाठशालायामेव पाठनं हितम् । इद चाऽत्र तात्पर्यम् चतुर्थवर्षसमाप्ति-पर्यन्तं हि शिशवः—स्वगृहे एव पित्राद्युच्चारणाऽनूच्चारणेनैव स्वां भाषां व्यवहारसाधनोपयोगिनीं शिक्षन्त एव । अथ तदनन्तरं स्वाभाविकया समुन्नतिकाम्यया तेषां पितरो राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाशिक्षणाय स्वग्राम-स्थितपाठशालायां प्रवेशयेयुर्महाविद्यालये वेति स्वग्रामस्थपाठशालायामेव प्रवेशयेयुः इति कारिकयाऽनया बोध्यते । ननु पाठशालास्थापनं हि राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाऽध्यापयैव विहिता, महाविद्यालयश्च तद्द्वारा विविधविद्यासम्पादनाय स्थापित इति विषयभेदात् न वैकल्पिकी पाठ-शालायां प्राप्तिः, किन्तु नित्यैव । अथ च महाविद्यालये च प्रवेशप्राप्ति-रेव नाऽस्तीति नाऽयं नियमविधिः सम्भवतीति । अत्रोच्यते येषां किल स्वभाषा राष्ट्रभाषा धर्म्यभाषाऽप्येकैव ते किल शिशवो गृहे एव पित्रा-द्युच्चारणाऽनूच्चारणेन भाषाशिक्षां चतुरब्दात्ययात्पूर्वमेव गृहीतवन्त-स्तेषामध्ययनाय महाविद्यालये प्रवेशः प्राप्तः अप्राप्तश्च ग्रामीणपाठ-शालायां, तत्रानया कारिकया अनुज्ञामात्रं बोध्यते । अयमभिप्रायः—भाषाशिक्षा खलु स्वभावेनैव सर्वादौ प्राप्ता तामुद्दिश्यैव च पाठशालायां पाठनं विहितम्, अतस्तत्किल यत्र सौकर्येण सम्पादयितुं शक्यते तत्रैव

चार वर्ष तक बालक घर में माता-पिता के द्वारा उच्चारित शब्दों को ही सीखते हैं । राष्ट्रभाषा तथा धर्मभाषा की स्थापना की जाती है । महाविद्यालय की स्थापना तो विविध विषयों के अध्यापन के लिए की जाती है । मातृभाषा की शिक्षा सर्वप्रथम बालक ग्रहण करता है । पाठशाला में प्रवेश दिलाने का प्रयोजन भाषा की शिक्षा देना है ।

उपनयन संस्कार का बीज ही विद्या-प्राप्ति है । यह साधारण बुद्धि वाले बालकों का अष्टम वर्ष के बाद किया जाता है । ब्रह्मवर्चस की इच्छा वाले बालक का उपनयन संस्कार पांचवे वर्ष में करने का विधान है । मनुस्मृति में कहा है:-

कार्यमिति बोध्यतेऽनया कारिकया, प्रयोजनसिद्धावेव तात्पर्यात्। प्रवृत्तेश्च प्रयोजनोद्देशेनैव दर्शनात्। अत एवोक्तमपि—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ॥

पाठशालाप्रवेशप्रयोजनं खलु भाषाऽध्ययनं तच्च यस्य निर्वृत्तं स विद्यालये अष्टवर्षात्पूर्वं प्रवेष्टुमर्हति न वा ? पूर्वया कारिकया (रा. 28) तु निषिद्धमेव प्रतीयते। इत्यत्र ब्रूमः—पूर्वस्यां कारिकायां खलु पठनविधिरुपदिष्टः गृहीतभाषाशिक्षाणां, अगृहीतभाषाशिक्षाणां तु पठनप्राप्तिः स्वभावत एव निषिद्धाऽस्ति। गृहीतभाषाशिक्षा महाविद्यालये पठेयुः इति विधीयते। तत्र पूर्णाऽष्टवर्षका इति अष्टमवर्षात् पूर्वमध्ययने विकल्पं बोधयति। अतएव मन्वादिभिरपि—

गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ (मनु. 2.36)

इत्येवं साधारणेनोपनयनमुपदिष्टम्। उपनयनं च 'उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः' 'इति लक्षणलक्षितमेव। उपनयने बीजं हि विद्यार्थत्वमुक्तं तच्च साधारणेन अष्टमादिवर्षादनन्तरमेव साधारणबुद्धिमतां बालानां दृश्यते। विशेषबुद्धिमतां तत्पूर्वमपि दृश्यते। तदर्थमेवाग्रे तैरेवोक्तम्—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ॥
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ (मनु. 2.37)

परमेतत् विशेषकामनायामेवोपदिष्टम्। कामनाविशेषश्च विशेषबुद्धिशालिष्वेव दृश्यते। अत एव कामनाऽनुदये न तत्कार्याऽकरणे न दण्डार्हता क्वापीत्थमेव एतदाचार्यमतेऽपि अष्टमवर्षात्पूर्वं गृहीतभाषाशिक्षाणां विद्याध्ययने ऐच्छिको विकल्प एव। अथ ये अष्टमवर्षादूर्ध्वमपि अमेधावितया, रुग्णतया, केनाऽपि कारणान्तरेण वा अगृहीतभाषा-

---

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

अर्थात् वेदाध्ययन और ज्ञानाधिक्य-प्राप्ति आदि तेज के लिए ब्राह्मणबालक का गर्भ से पांचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा और पराक्रम आदि प्राप्ति के लिए क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठे वर्ष में और अधिक धन तथा खेती आदि की प्राप्ति के लिए वैश्य बालक का गर्भ से आठवे वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए।

यहां विशिष्ट बुद्धि की प्राप्ति की कामना हेतु ही ऐसा निर्देश दिया गया

शिक्षाः तेषां 'पूर्णाऽष्टवर्षका' इत्यनया महाविद्यालये प्रवेशः प्राप्तः अगृहीतभाषाशिक्षत्वाच्च प्रवेशोऽप्राप्तः तत्राऽनया (29) कारिकया बोध्यते यत्–अष्टमाब्दस्य प्रकर्षेण पूरणमभिव्याप्तिपर्यन्तबालानां पाठनं ग्रामीणपाठशालायामेव हितमिति। अयं भावः–अत्र प्रशब्दो बोधयति यद् अष्टमवर्षस्य प्रकर्षेण पूर्णं तत्पर्यन्तसम्पाद्यमानभाषाशिक्षा-कार्येण ज्ञेयमिति । तेन अष्टमवर्षादनन्तरमपि अगृहीतसम्यग्भाषा-शिक्षाणां ग्रामीणपाठशालायामेव पाठनं हितमिति। अयं भावः-असम्यग्गृहीतशिक्षः किल बालको न तावद्विद्याध्ययनेऽधिकारी अथाऽष्टमवर्ष-समाप्तिमात्रेण च विद्यालये प्रवेशितो भाषामेव शिक्षिष्यति, तच्च भाषाशिक्षाप्रयोजनं सन्निकटे ग्रामस्थपाठशालायामेव चेन्निष्पद्यते तदा किमर्थं सुदूरं महाविद्यालये गन्तव्यम् । अतः प्रसिद्धश्चायमाभाणकः –

अङ्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।

एवं चाऽनया कारिकया अष्टमाब्दाऽनन्तरमपि सम्यक् भाषा-शिक्षार्थं ग्रामीणपाठशालायामेव पाठनं हितमिति बोध्यते। एवमपीयं कारिका शक्यते व्याख्यातुं, यत् अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं तु पठनार्थतया महाविद्यालये प्रवेशो भाव्येव, तत्पूर्वं किल ये पाठनसमर्थाः पितरस्तेषां बालानां स्वगृहेऽपि पाठशालायामपि पाठनं सम्भवति तानुपदिश्यते यत् गृहाऽपेक्षया ग्रामीणपाठशालायामेव पाठनं परिणामे हितकरमिति। चतुरब्दादूर्ध्वं ग्रामीणपाठशालायामेव पाठयितव्या बाला वालिका-श्चेति। (रा. 26) इत्यस्या अङ्गभूतेयं कारिका। अनन्तरं च सम्यग्

है, जो आठ वर्ष से ऊपर होने पर भी मेधावी न होने के कारण, या रुग्ण होने के कारण या अन्य किसी कारण मातृभाषा की शिक्षा न प्राप्त कर सकें और महाविद्यालय में प्रवेश न होता हो, तो भी आठ वर्ष के बाद भी ग्रामीण पाठशाला में अध्ययन हितकर है। ग्रामीण पाठशाला में बालक की भाषा-शिक्षा की व्यवस्था सरलता से हो जाती है। अतः उसे ग्रामीण पाठशाला में ही पढ़ाना चाहिए ।

आठ वर्ष से पूर्व बालक मेधावी नहीं होता। इसीलिए उसे इससे पूर्व ग्रामीण पाठशाला में पढ़ाने का निर्देश दिया गया है। चार वर्ष के पश्चात् बालक को ग्रामीण पाठशाला में पढ़ाना चाहिए। जब वह अच्छी प्रकार मातृ-भाषा की शिक्षा ग्रहण कर ले, तब उसे अष्टम वर्ष पूर्ण कर लेने के बाद, कुछ मेधावी उससे पूर्व भी, महाविद्यालय में प्रवेश लेकर अध्ययन करना चाहिए। किसी बालक ने

गृहीतभाषाशिक्षाः अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं, केचिच्च मतिमन्तस्तत्पूर्वमपि महति विद्यालये प्रविष्टा यथायथं पठेयुः। एवमेव अगृहीतभाषाशिक्षाः अष्टमवर्षात् पूर्वं केचिच्च अष्टमवर्षादूर्ध्वमपि ग्रामीणपाठशालायामेव पाठनीयाः। यथासम्भवाऽभिप्रायमेव सर्वमपि व्यवस्थानम्। इद च बोध्यम्—पूर्वस्यां कारिकायामुक्तं आविंशत्यब्दपूरणात् इति स न पठनविषयेऽवधिः किन्तु भिषग्वर्यसंरक्षणे इति। अथ च पठनं ग्रहणान्तमेव तावत्कालं च ब्रह्मचर्यमत्यावश्यकम्। शिक्षाग्रहणाऽनन्तरमपि विंशत्यब्दपूर्तिपर्यन्तं ब्रह्मचर्यमत्यावश्यकम्। अत एव "त्रय स्नातका भवन्ति। स विद्यास्नातको, व्रतस्नातकः, उभयस्नातकश्चेति। यो विद्यामात्रं समाप्य स्नाति, स विद्यास्नातकः, यो व्रतं समाप्य स्नाति स व्रतस्नातकः यश्चोभयं समाप्य स्नाति सोभयस्नातकः। इत्युक्तम्। इदं तात्पर्यम्–महाविद्यालये यावान् ग्रन्थसमूहः पाठ्यत्वेन निर्धारितः तावन्तं पठित्वा सम्यगवबुद्ध्यति, अथ च गुरुकुलाद् गृहागमनाय यः संस्कारः क्रियते तत्स्नानमित्युच्यते। अत्राऽपि महाविद्यालयाद् गृहागमनाय याऽनुमतिर्गृह्यते तदेव स्नानमत्र ज्ञेयम् एवं च स विद्यास्नातकः। अथ यो द्वादशवर्षपर्यन्तं अष्टमवर्षान्तादारभ्य विंशतिवर्षान्तपर्यन्तं अन्यप्रकारेण वा द्वादशवार्षिकं व्रतं समाप्य विद्यालयाद् गृहागमनाय याऽनुमतिर्गृह्यते तामनुमतिं प्राप्तो व्रतस्नातक इत्युच्यते। एवमेवोभयं समाप्याऽनुमतिं गृह्णाति स उभयस्नातकः सर्वश्रेष्ठः। भवतु सर्वथाऽपि पूर्वं स्वग्रामीणपाठशालायामेव सम्यक् राष्ट्रभाषां च

आठ वर्ष से पूर्व या आठ वर्ष पूर्ण करने के बाद भी यदि पूर्ण रूप से मातृभाषा की शिक्षा प्राप्त नहीं की हो, तो उसे ग्रामीण पाठशाला में मातृ-भाषा की शिक्षा देनी चाहिए। पिछली कारिका में 20 वर्ष की समाप्ति तक यह उल्लेख किया गया है, पर यह अवधि वैद्यों के द्वारा संरक्षण की है। अध्ययन तो पाणिग्रहण तक करना चाहिए और तब तक ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है। शिक्षा-ग्रहण के बाद भी बीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन अत्यावश्यक है।

अतः स्नातक तीन प्रकार के होते हैं— विद्यास्नातक, व्रतस्नातक, उभयस्नातक। जो विद्याध्ययन समाप्त कर स्नान करता है, वह विद्यास्नातक, जो व्रत समाप्त करता है, वह व्रतस्नातक और जो दोनों को समाप्त कर स्नान करता है, वह उभयस्नातक कहलाता है।

निर्धारित पाठयक्रम के अध्ययन के पश्चात् उसे बोध हो जाता है। फिर गुरुकुल से घर आते समय जो संस्कार किया जाता है, उसे स्नान कहते हैं।

पठित्वा तदनन्तरं महति विद्यालये स्वमण्डलस्थे विंशतिवर्षपर्यन्तं भिषग्वर्यैः संरक्षिता ब्रह्मचारिणः सन्तः सर्वतोभावेन परिश्रमशीला राष्ट्रज्ञानं सम्यक् पठित्वाऽवबुद्ध येरन च स्वसमुन्नतिकामा राष्ट्रियमात्रा इति निष्कर्षः। इदं च बोध्यम्—राष्ट्रज्ञान-प्राप्तौ मनुष्यमात्रस्याऽधिकार इति महति विद्यालयेऽपि सर्वे पठेयुः ।।29।।

इत्थङ्कारं शिक्षाविषये पाठशाला महाविद्यालयादिस्थापनं तत्राध्यापनादिक्रमं, शिक्षणीयनियमादि च निरूप्य सम्प्रति शिक्षकविषये निरूपणीयमिति तत्राऽपि प्रथमं प्राथमिकशिक्षाशिक्षकविषये निरूपणं क्रमप्राप्तमिति तद्विषये निरूपयन्नाह—

विशुद्धचरिता वृद्धा आष्टमाब्दान्तमेव तु ।।
एकत्र बालिकाबालान् पाठयेयुस्ततो न हि ।।30।।

[आठ वर्ष वय पूर्ण होने पर्यन्त ही बालक तथा बालिकाओं को एक स्थान में पढ़ाया जाए। आठ वर्ष के उपरान्त नहीं। बच्चों के अध्यापक स्त्रियां हों अथवा पुरुष, पर होवें वे वृद्ध तथा विशुद्धचरित्र ।।30।।]

विशुद्धचरितेति। आष्टमाब्दान्तमेव – तु – विशुद्धचरिताः—वृद्धाः —एकत्र—बालिका-बालान्–पाठयेयुः–ततः–(एकत्र) न–हि–(पाठयेयुः) इति पदयोजनिका।

अथवा विद्यालय से घर जाने की अनुमति को ही स्नान कहा जाता है। इस प्रकार वह विद्यास्नातक हुआ। जो अष्टम से बीस वर्ष तक अर्थात् बारह वर्ष (विद्याध्ययन रूपी) व्रत को समाप्त करके विद्यालय से घर आने की अनुमति प्राप्त करता है (और अपने घर लौटता है) वह व्रत स्नातक कहलाता है, जो सर्वश्रेष्ठ होता है। ऐसे स्नातक ही राष्ट्रज्ञान से युक्त होकर अपने देश की उन्नति में सहायक होते हैं यह ज्ञातव्य है कि राष्ट्रज्ञान की प्राप्ति में मनुष्यमात्र का अधिकार है, अत महाविद्यालय में सभी को अध्ययन करना चाहिए।

अब प्राथमिक शिक्षा के शिक्षक के सन्दर्भ में विचार किया जा रहा है:—

कारिका–30

शिक्षक के लिए विशुद्धचरित तथा वृद्ध विशेषण का प्रयोग किया गया है। शिक्षक का चरित्र, विशेष शुद्ध होना चाहिए। विद्या प्राप्त करने को शिक्षा कहते हैं। विद्या-ग्रहण करना शिष्य के अधीन है। शिक्षक के अधीन तो शिक्षा ग्रहण कराना है। विद्याग्रहण करने में शिक्षक तथा शिष्य की प्रमुख भूमिका हुआ करती है। जिस शिक्षक का चरित्र अतिशय शुद्ध एवं संस्कृत हो, वही

'आष्टमाब्दान्तमेव'—अष्टानां पूरणमष्टमं तच्च तदब्दं तस्य अन्तः तमभिव्याप्येत्याष्टमाब्दान्तं "आङ् मर्यादाऽभिविद्ध्योः" (पा. सू. 2.1.12) इति समासः। अष्टमवर्षसमाप्तिपर्यन्तमेव 'तु'=केवलम्। 'विशुद्धचरिताः'-विशेषेण=आधिक्येन शुद्धं संस्कारयुक्तं चरितं वृत्तान्तः सुस्वभावश्च येषां यासां च ते ता वा 'वृद्धाः'-वयसाऽपि वृद्धाः पुरुषाः स्त्रियो वा 'एकत्र'–एकस्यां पाठशालायां "सप्तम्यास्त्रल्" (पा. सू. 5.3.10.) 'बालिकाः–अल्पवयस्का बालाः स्त्रीजातीया इति यावत् 'बालान्'-पुञ्जातीयबालान् 'पाठयेयुः'—अध्यापयेयुः अध्यापका इति शेषः। 'ततः-तदनन्तर अष्टमवर्षपूर्त्यनन्तरं न हि–नैव 'पाठयेयुः' एकत्र इति शेषः।

अस्या अयमभिप्रायः—शिक्षायाः किल पदार्थद्वयनिष्ठव्यापारतया पदार्थद्वयस्याऽप्याक्षेपो भवतीत्युक्तं पूर्वम्। शिक्षा नाम विद्योपादानम्। 'शिक्ष विद्योपादाने' इति व्याकरणाऽनुशासनम्। विद्याग्रहणं किल शिष्यनिष्ठं, शिक्षकनिष्ठं विद्याग्राहणमन्तरेण न सम्भवति। ततश्च द्वयोरपि विद्याध्ययने मुख्यत्वमिति द्वयोरपि निरूपणमवश्यमेव विधातव्यं भवति। अथ तत्सहायकान्यन्यान्यप्यङ्गानि निरूपणीयान्येव तानि यथासम्भवं प्रायो निरूपितान्येव, शिक्षक-विषये तावन्न निरूपितम् प्रतिग्रामम्" (रा. 26) इत्यस्यां कारिकायां केवलं गुरुः पाठयेदित्युक्तम्। तस्याऽपि सम्यक् निरूपणाय कारिकाया अस्या आरम्भः-विशुद्धेति। 'विशुद्धचरिताः–विशेषेण-अतिशयेन शुद्धं–सस्कृतं, चरितं–वृत्तान्तः सुस्वभावश्च येषां ते यासां ता वा–

वृत्तान्ते सुस्वभावे चारित्रचरित्रचरीत्रचरितानि। इति कोषः।
शुद्धौविशेषश्च आर्यनीत्या राष्ट्रसमुन्नतिकरणचतुरसदाचारपरायणतया।

शिक्षा प्रदान करने का वास्तविक अधिकारी होता है। शिक्षक का स्वभाव सरल, मृदु होना चाहिए। वंशपरम्परा से ही उसका स्वभाव श्रेष्ठ होना चाहिए। शिक्षक में राष्ट्रदृष्टि का भी विकास होना चाहिए। शिक्षक जाति तथा कुल से ही सुन्दर संस्कारों वाला होना चाहिए। वह आचार विचारविज्ञ, छल-छिद्र-रहित आर्यहृदय, निष्कल एवं समस्त जीवलोक की कल्याण की आकांक्षा वाला हो। नीतिशास्त्रविज्ञ, सर्वतोभद्रनीतिप्रधान, अपने बच्चों की तरह समस्त बालकों और बालिकाओं को पढ़ाने वाले तथा उनसे स्नेह करने वाले अध्यापक ही नियुक्त किये जाने चाहिए।

अयं भावः-राष्ट्रहितैषिभिर्नियोज्याः खल्वध्यापका ईदृशा भवेयुः। तत्र पाठशालीया अध्यापकाः पूर्वं निरूप्यन्तेऽनया कारिकया। तेषामेव प्रथममावश्यकतया प्रस्तुतत्वात् तेषां चरित-वृत्तान्तः, सुस्वभावश्चेत-द्वयमपि विशुद्धमावश्यकम्। वंशपरम्परयैव आर्यवृत्तान्त आवश्यकः। अथ सुस्वभावोऽपि विशुद्ध आवश्यकः। अतिशयेन जातिकुलादिवृत्तान्तो येषां शोभनसस्कारैः संस्कृतः। अथ च सुस्वभावोऽपि येषां राष्ट्रदृष्टिविज्ञतया विशेषेण संस्कृतो यथायोग्याऽऽचारविचारचातुरीधुरीणतया ये विशुद्धा इति भान्ति। अथ च छलच्छिद्रकूटकपटविज्ञा अपि समस्तजीवलोक-कल्याणाकाङ्क्षितया येऽनार्यहृदया न भवन्तीति विशुद्धानि निष्कप-टानि चरितानि येषामिति व्याख्येयम्। अथ च धर्मार्थकाममोक्षविषयेषु विशुद्धा विशेषेण सस्कारवन्तः सुचरित्राश्च। कलङ्कलेशेनाऽपि ये रहिता इत्यर्थः।अत्रार्थे चरितशब्द 'अर्श आद्यजन्तो बोध्यः'। विशेषणो-भयपदः कर्मधारयश्च। समस्तविधनीतिशास्त्रविज्ञतया विशेषेण परिमा-र्जितजातिकुलशीलादिभिः सर्वैरप्यार्या इति भावः। सर्वतोभद्रनीति-प्रधानास्ते बाल्य एव बालकान् बालिकाश्च पाठयन्तः स्वसदृश एव कुर्वन्ते इति तादृशा एवाऽध्यापकाः स्थाप्या इति बोध्यते। अथ च 'वृद्धाः'=स्थविराः न युवानः। अत्रेदं बीजम्--भविष्यद्वृत्तान्तं किल सामस्त्येन परिपूर्णपरब्रह्मपरमात्मानमन्तरेण न कोऽपि विज्ञातुमीष्टे यूनां विषये हि भविष्यति चरित्रादिविषये न सुनिश्चेतुं शक्यं शुद्धत्वादि भवति। वृद्धानां तु भूतचरित्रभूयिष्ठतया निश्चितप्रायमेव भवति विशुद्धचरितत्वमविशुद्धचरितत्वं च। तत्र विशुद्धचरिता एवैत इति वृद्धतया विज्ञाय नियोज्याः। अत्र वृद्धत्वं वयोविषयकं गृह्यते, ज्ञानादि-

---

कारिका में यह भी कहा गया है कि शिक्षक वृद्ध होना चाहिए। किसी का भविष्यद्वृत्तान्त पूर्णतः परमात्मा के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता। वृद्धों का भूतकालिक चरित्र निश्चित ही होता है कि वह विशुद्धचरित है या अविशुद्ध चरित। अब जो विशुद्ध चरित्र हो, उन्हें वृद्ध के रूप में पहचान कर उन्हें नियुक्त करना चाहिए। प्रश्न उपस्थित होता है कि वयोवृद्ध होना चाहिए या ज्ञानवृद्ध। अध्यापन बिना पठन-बोध के सम्भव नहीं। अतः ज्ञानवृद्धत्व स्वतः सिद्ध है। अतः यहां वयोवृद्ध ही से तात्पर्य है। जो भूतकाल की घटनाओं का अनुभव प्राप्त करके भविष्य में उस अनुभव का लाभ प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा रखता है, वही वास्तव में वृद्ध है। आयु से वृद्ध या अवृद्ध को

विषयकं तु 'विशुद्धचरिताः पाठयेयुः' इत्यनेनैव व्यज्यते । पाठनं खलु पठनबोधाद्यन्तरा नैव सम्भवतीति ज्ञानवृद्धत्वं पाठकानां स्वयमेव सिद्धम् । अतो वृद्धा इति पुनरुपादानं वयोवृद्धानामेवाऽत्र ग्रहणमिति बोधनायोपात्तम् । नियमविधिरयम् । वयसा वृद्धानामवृद्धानां च समवाये कदाचित्त् वृद्धानामपि जात्ववृद्धानामपि पाठननियोजनाप्राप्तौ 'वृद्धा एव पाठयेयुः राष्ट्रमाब्दान्तम्' इति नियम्यते । अद्य च न केवलं वृद्धा इति विद्वांसोऽपि नियोज्याः पाठने इति बोध्यते 'विशुद्धिचरिता' इत्यनेन । अत्रेदमपि बोध्यम्–विशुद्धचरितोऽपि द्विविधः विज्ञातपित्रादिपरम्परया स्वकीयवार्धक्यपर्यन्तं विशुद्धचरितः स्वजन्मन आरभ्य वार्धक्यपर्यन्तं विशुद्धचरितश्चेति । तत्र प्रथमो मुख्यो द्वितीयो गौणः । एतौ द्वावपि नियोज्यौ कार्यसामर्थ्यतारतम्यमवलोक्य । अथाऽविशुद्धचरितोऽपि द्विविधः अज्ञानात् सङ्गदोषात् प्रमादाद्वा पूर्वं कलङ्कितः अनन्तरं च सत्सङ्गात् शोधितस्वचरित एकः, वंशपरम्परया अविशुद्धचरितः स्वयमपि अविशुद्धचरितः अन्यः, एतौ त्याज्यावेव ।

इद्मप्यत्र बोध्यम्- विशुद्धचरितत्वं तावदध्यापकमात्रेष्वावश्यकम् । वृद्धत्वं च बालकानां बालिकानां च आष्टमाब्दमतीत्राऽवश्यकम् इति । यावत्येवांशे पाठनीयानामल्पवयस्कत्वं तावत्येवांशेऽध्यापकानां वृद्धत्वमावश्यकमिति त्वाचार्यऽभिप्रायः । अध्यापिकानामपि विशेषणद्वयमिदम् । "अतीतः" (रा. 29) इति कारिकया स्त्रीपुंसजातीयानामपत्यानां हितं पाठनं ग्रामीणपाठशालायामेवेति समर्थितम् । तत्राऽयं संशयः—तेषां एकस्यामेव पाठशालायां पाठनं कार्यं पृथक् वा, एकस्यामपि कर्तुं शक्यते पृथगपि कर्तुं शक्यते । तत्राऽनया कारिकया व्यवस्थाप्यते यत् अष्टमवर्षसमाप्तिपर्यन्तमेवैकत्वपाठनमुचितमिति अयं च परिसङ्ख्याविधिः । अत एवाग्रे 'ततो न हि' इत्युक्तम् ।

अध्यापन हेतु नियुक्ति के सन्दर्भ में यह नियत किया गया है कि आठ वर्ष तक तो वृद्धों को ही अध्यापन करना चाहिए । उन्हें वृद्ध ही नहीं, विद्वान् भी होना चाहिए । यद्यपि वृद्ध शब्द वयोविषयक दीर्घता का सूचक है, पुनरपि उसमें चारित्रिक विशुद्धता की अपेक्षा नितान्त आवश्यक है ।

विशुद्ध चरित्र दो प्रकार के होते हैं । प्रथम विज्ञातपित्रादिपरम्परा से अपने वार्धक्य तक विशुद्ध चरित्र रहना और द्वितीय अपने जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक विशुद्ध चरित्र रहना । इनमें से प्रथम मुख्य है और द्वितीय गौण है । कार्य-सामर्थ्य का तारतम्य देखकर दोनों को ही नियुक्त किया जा सकता है ।

अयमभिप्रायः—ग्रामीणपाठशाला किल भाषाशिक्षाया एव स्थाप्यते सा च शिक्षा मन्दमतिभिर्यद्यष्टमवर्षसमाप्तिपर्यन्तं न समापिता तदा तैर्भाषाशिक्षार्थं तु स्थातव्यमेव । एवमष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरम् बालकानां बालिकानां च सहैव शिक्षा प्राप्ता । 'अतीत' (रा. 29) इत्यनयाऽविशेषेण स्त्रीपुंसजातीयानां शिक्षा त्वनुमतैव "प्रतिग्राम" (रा. 26) इत्यनया च ग्रामे पाठशालायाः स्थापनं विहितं, स्त्रीपुंसजातीयबालकभेदेन पाठशालायाः पार्थक्येन स्थापनं न च विहितं न च निषिद्धम् । एवं च पाठशालापृथक्त्वमपि सम्भवति अपृथक्त्वमपि । पार्थक्ये शिक्षाऽपि पार्थक्येन स्वभावत एव प्राप्ता । अपार्थक्ये सहैव शिक्षा स्वभावादेव प्राप्ता तत्र परिसङ्ख्याविधयाऽह "आष्टमाब्दान्तमेव तु एकत्र बालिका बालान् पाठयेयु.' इति । अयमत्र सारांशः ग्रामीणपाठशालायाः पार्थक्येऽपि अपार्थक्येऽपि अष्टमवर्षपूर्तिपर्यन्तमेव केवलमेकत्र पाठयितुं शक्यते इति । इदमप्यत्र बोध्यम्—अष्टमवर्षसमाप्तितः पूर्वं यथामनीषमेकत्र पृथग्वा पाठनीयान्यपत्यानि । 'ततः'—तदनन्तरं अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं 'एकत्र न हि' नैव पाठयेयुः । एतेनेदमपि सूचितं यत्—अगृहीतभाषाशिक्षाणां भाषाशिक्षणम् अष्टमवर्षादूर्ध्वं स्त्रीपुंसजातीयबालकानां सहैकत्र नैव विधेयमिति । पूर्वं तु यथायथमैच्छिको विकल्पः । अथेदमप्यत्र बोध्यम्—अध्यापकाः किल बालिकानां बालकानां च अष्टमवर्षसमाप्तिपर्यन्तं स्त्रियो वा पुरुषा वा भवितुं शक्नुवन्ति विशुद्धचरितत्वं वृद्धत्वं च तत्राऽपि द्रष्टव्यमेव । एवमपि बोध्यम्—बालिकाऽबालान्'

अविशुद्ध चरित्र भी दो प्रकार का होता है । अज्ञान से, प्रमाद से, संगदोष से, जो कलंकित भी हो गये हों, किन्तु सत्संग से उन्होंने अपने चरित्र को शुद्ध कर लिया हो, यह एक प्रकार है । जो वंशपरम्परा से ही अविशुद्धचरित हो तथा स्वयं भी अविशुद्धचरित हों, यह दूसरा प्रकार है । ये दोनों ही त्याज्य हैं । अध्यापकमात्र के लिए विशुद्धचरित्र का होना नितान्त आवश्यक है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बालक बालिकाओं को एक साथ ही शिक्षा देनी चाहिए अथवा पृथक् पृथक् ? क्योंकि कारिका में इसका स्वतन्त्ररूपेण उल्लेख नहीं किया गया है । इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि आठ वर्ष पूर्व की मातृभाषा-शिक्षा, बालक-बालिकाओं को एकसाथ प्रदान की जानी चाहिए । तदनन्तर बालक-बालिकाओं के लिए पृथक् पृथक् पाठशालाओं की स्थापना करनी चाहिए ।

इत्येकं पदम् । बालिकाश्च अबालकाश्च बालिकाबालाः तान् बालिका-ऽबालान् बालिकाः=अल्पवयस्कस्त्र्यपत्यानि अल्पार्थे 'क' प्रत्ययः। अबालाः अल्पार्थकेन नञा सह समासः अबालाः अल्पवयस्कबालाः ते तान् 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः" (पा. सू. 2.4.26)

अयं भावः -शैशव एवैकत्र पाठनीयाः नान्यत्रेति । 'ततो न हि' इति तु पूर्वस्य विधेः परिसङ्ख्यात्वस्फुटीकरणाय । यथा "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इत्यत्र यथा पञ्चनखभक्षणे केवलमनुमतिमात्रमेव बोध्यते न नियमत्वं, अथ च पञ्चेतरं पञ्चनखानामभक्ष्यत्व नियम्यते एवमेवात्राऽपि अष्टमवर्षसमाप्तितः पूर्वं स्त्रीपुंसजातीयापत्यानां सह शिक्षा केवलमनुमन्यत आचार्येण अष्टमवर्षादूर्ध्वं सह शिक्षा निषिध्यते। इदमपि वोध्यम्-मेधा—विषये प्रायो वैषम्याऽधिकताया दृष्टतया अष्ट-मवर्षादूर्ध्वमपि (सम्यगगृहीतभाषाशिक्षा सम्भवन्त्येवेति ग्रामे ग्रामे बालिकार्थं बालकार्थं च पाठशाला पृथगेवोचितेत्याचार्याऽभिप्रायः। तत्राऽध्यापकविषये तु ऐच्छिको विकल्प एव। विशुद्धचरिता वृद्धाः पुरुषाः पाठयेयुः । स्त्रियो वा एतदपि केवलमाष्टमाब्दान्तमेव । ऊर्ध्वं पुनरष्टमाब्दान्तात् स्त्रीणामध्यापिकाः स्त्रियः पुरुषाणां च पुरुषा इति आचार्येणैव वक्ष्यमाणत्वात् । पाठयेयुरित्यनेन पठनविधेः पाठ्यानां पारतन्त्र्यबोधनेन दण्डाल्पत्वं पाठकानामेव चाऽधिकदण्डभाक्त्वं भवतीति बोध्यते । इत्यलं बहुना ।।30।।

एवं शिक्षाविषये "अतीतचतुरब्दानां" 'आष्टमाब्दप्रपूरणात्'। बालकानां बालिकानां चाऽध्यापकविषये उक्तं यत् तेषामध्यापका वृद्धा भवेयुरिति । अथ तदनन्तरं तु युवानोऽपि वृद्धा अपि पाक्षिकतया प्राप्ताः तद्विषयेऽपि निर्णेतव्यमेवेत्यावश्यकतां वीक्ष्याह—

अध्यापकों के सम्बन्ध में तो ऐच्छिक विकल्प है। यह नियम बनाया गया है कि वे वृद्ध हों, विशुद्धचरित वाले हों । चाहे स्त्री शिक्षक हो अथवा पुरुष, दोनों में ये गुण होने चाहिए। किन्तु आठ वर्ष तक ही, इसके बाद स्त्रियों की अध्यापिका स्त्रियां और पुरुषों के अध्यापक पुरुष हों।

यदि शिक्षक युवा हो, तो क्या उपयुक्त होगा? इसका निरूपण करते हैं:-

अपूर्णषोडशाब्दानां बालानां नैव शंसिताः ।।
युवानोऽध्यापकास्तेषां वृद्धाः सुचरिता हिताः ।।31।।

[सोलह वर्ष वय के पूर्ण होने पर्यन्त उन बालकों के अध्यापक जवान कथमपि योग्य नहीं होते । सुचरित्र तथा बूढ़े ही अध्यापक उनके लिये हितकर हो सकते हैं ।।31।।]

'अपूर्णषोडशाब्दानाँ न पूर्णानि-समाप्तानि षोडश=षोडशसङ्ख्याकानि अब्दानि-वर्षाणि येषां ते अपूर्णषोडशाब्दाः तेषां अपूर्णषोडशाब्दानां 'बालानाम्' स्त्रीपुंसजातीयानामपत्यानां 'अध्यापका':-विद्याग्राहयितारः अध्युपसर्गादिङ् धातोः प्रयोजकण्यन्तात्कर्तरि ण्वुल् । 'युवानः'-तरुणाः 'न एव'–निश्चितनिषेधविषयाः 'शंसिताः'–स्तुता, शंसु स्तुतौ ततः कर्मणि क्तः अथवा शंसा सञ्जाता अस्ति येषां ते शंसिताः "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" (पा. सू. 6.235.) इतीतच् । 'तेषां'–अपूर्ण-षोडशाब्दानां बालानां अध्यापका इति शेषः । 'वृद्धा–वयोवृद्धाः 'सुचरिताः'—शोभनं चरितं वृत्तान्तः सुस्वभावश्च येषां ते 'हिताः'—पारिणामिकसुखजनकाः भवन्ति इति शेषः ।

अत्राऽय ऽभिप्रायः—"अतीत" (रा. 29) इति कारिकया भाषाशिक्षायाः खलु ग्रामीणपाठशालायां पाठनं युक्तमित्युक्तम् । अनन्तरं च स्त्रीपुंसजातीयानां सह शिक्षा अष्टमाब्दात्पूर्वमेवोचितेति निरूपितम् । अष्टमवर्षादूर्ध्वं सह शिक्षा निषिद्धा च । "विशुद्धचरिता" (रा. 30) इति कारिकया तयैव च कारिकया अध्यापकानां स्त्रीपुंसविषये बालकानामाष्टमाब्दान्तमैच्छिको विकल्प उक्तः । अथ तयैव सहशिक्षाविषये अष्टमाब्दसमाप्तिपर्यन्तमैच्छिको विकल्प उक्तः । अथेदानीं अतीताऽष्टमाब्दानां बालकानामध्यापकाः विशेषतो न केऽपि विहिता न च केऽपि निषिद्धाः, पाक्षिकतया कदाचित् वृद्धाः प्राप्नुवन्ति कदाचिच्च

कारिका–31

अष्टमवर्ष के पश्चात् सहशिक्षक का निषेध किया गया है । शिक्षकों के सम्बन्ध में भी यह नियम होना चाहिए कि आठ वर्ष से पूर्व मातृभाषा के शिक्षण में तो वृद्ध शिक्षक ही होने चाहिए । तदनन्तर महाविद्यालय की शिक्षा में युवा शिक्षकों को भी ग्रहण कर लेना चाहिए । "बालकान् पाठयेद् गुरुः" इस कथन से सामान्यरूप से युवक तथा वृद्ध, दोनों प्रकार के शिक्षाओं का ग्रहण हो जाता है ।

युवानोऽपि इति तत्र संशयः किं वृद्धा भवेयुर्युवानो वा ननु पूर्वकारिकया वृद्धाः सुचरिताः ये आष्टमाब्दान्तमुक्तास्ते एव सन्निकृष्टतया प्राप्नुवन्ति न युवान इति काऽत्र यूनां प्राप्तिः इति चेन्न तेषामाष्टमाब्दान्तमेव नियमात् । 'बालकान् पाठयेद् गुरुः' (रा. 26) इत्यनया सामान्यतो यूनां वृद्धानां च गुरुत्ववतां अध्यापकत्वेन प्राप्तानामाष्टमाब्दान्तं वृद्धा एवाऽध्यापका भवेयुः इति वृद्धा एव नियम्यन्ते । अष्टमाब्दसमाप्त्यनन्तरं च न यूनां वृद्धानां वा निषेधविध्यवसर इति सामान्यतया द्वयोरपि प्राप्तिः सम्भवति । किं च 'मण्डले मण्डले' (रा. 26) इत्यनया कारिकया महतो विद्यालयस्य स्थापना प्रतिपादिता । तदनन्तरं च पूर्णाऽष्टवर्षका' (रा. 28) इत्यनया कारिकया सम्यग् गृहीतभाषाशिक्षाणां अष्टमाब्दसमाप्त्यनन्तरं महति विद्यालये अध्यापनं निरूपितम् । तत्रैव विचारणीयम् अध्ययनं किलाऽध्यापनमन्तरा न सम्भवतीति निर्बाधमेव । अध्यापनं हि वृद्धैरपि कर्तुं शक्यते यथा तथा युवभिरपि कर्तुं शक्यते न केवलमेतदेव प्रत्युत युवभिः शारीरिकबलाऽधिक्यवत्तया परिश्रमसमर्थतया वृद्धाऽपेक्षया समीचीनतयाऽध्यापनं कर्तुं शक्यत इत्यष्टमाब्दादनन्तरं यूनामध्यापकत्वेन प्राप्तिः सम्भवत्येव, साऽपि विशेषत एव । किं च वयसा वार्धक्यं न ज्ञानग्रहणादावुपयुज्यते । अध्ययनाध्यापनमेव च ज्ञानदानप्रदानविषये इति नाऽत्र वयोवृद्धत्वमुपयोक्तुमर्हमत एवोक्तं मनुना—

न तेन वृद्धो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।
(मनु. 2.156)

अध्ययन अध्यापन के मध्य सम्भव नहीं है । अध्यापन वृद्धों द्वारा भी किया जाता है तथा युवकों द्वारा भी । युवा में वृद्ध की अपेक्षा शारीरिक बल अधिक होने से, अधिक परिश्रम कर सकने से अध्यापन में अधिक सहायता मिल सकती है । ज्ञान प्रदान करने में ज्ञान की अधिकता एवं अल्पता का मापन किया जाना चाहिए न कि अवस्था विशेष का । इस सन्दर्भ में मनु ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि —

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।

अर्थात् बाल पक जाने मात्र से कोई वृद्ध नहीं होता, किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो, तो उसे ही देवता लोग वृद्ध कहते हैं ।

न हायनैर्न पलितैः न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् । (मनुः 2.154)
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ।।
(मनु. 2. 153)

एवं च यूनामेवाध्यापकत्वमष्टमवर्षादूर्ध्वं युक्तमिति पूर्वपक्षसिद्धान्तः । अत्रोत्तरपक्ष एवम् अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं महति विद्यालयेऽध्ययनाय प्रविष्टानां बालानां अध्यापका वृद्धा एव सुचरिता एव हिता भवेयुः इति । एतदेवोक्तम्-अपूर्णषोडशाब्दानामित्यनेन । अपूर्णषोडशाब्दानां जन्मन आरम्य षोडशवर्षाणि येषां नाऽतीतानि तेषां बालानां अण्यापकाः महति विद्यालयेऽपि युवानः–तरुणाः 'शंसिता नैव' नैव स्तूयन्ते । यः स्तूयते स विधीयते' इति मीमांसकनीत्या स्तूयमानानामेव विधेयत्वाऽवगमात्, यूनां चाऽशंसितत्वात् यूनामध्यापकत्वं अपूर्णषोडशाब्दानां बालानां न विधेयतयाऽवगम्यते । षोडशवर्षसमाप्त्यनन्तरं विधेयत्वमवगम्यतां मा वाऽवगम्यतामिति भावः । अथवैवं व्याख्येयम्—'नैव शंसिताः'=स्तोतुं योग्या नैवेति यावत् अत्र एवकारोऽन्ययोगं व्यवच्छिन्दान उदासीनरूपेणाऽपि प्राप्तां विधेयतां निषेधति, तेन षोडशवर्षसमाप्तिपर्यन्तं बालानामध्यापकतायां यूनां नित्यत्वमेव प्राधान्येनाऽवगम्यते, तेन च न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधयं प्रति स्तोतुम्" इति मीमांसकनीत्या षोडशवर्षपर्यन्तं वृद्धानामध्यापकत्वं स्तूयतेऽत एव पूर्वोक्तमीमांसानीत्या वृद्धा एव विधीयन्तेऽध्यापका अपूर्ण-

---

पूर्वपक्ष का सिद्धान्त यह है कि आठ वर्ष के बाद अध्यापन के लिए तो युवा ही अध्यापक होना चाहिए ।

उत्तरपक्ष का सिद्धान्त यह है कि अष्टम वर्ष की समाप्ति के पश्चात् अध्यापन के लिए महाविद्यालय में सुचरित वृद्ध शिक्षकों की ही नियुक्ति होनी चाहिए । जन्म से लेकर षोडश वर्ष तक के बालकों के अध्यापक महाविद्यालय में युवक नहीं होने चाहिए । वहां वृद्धों का ही अध्यापकत्व अभीप्सित है । इस प्रकार मनु आदि आचार्यों के वाक्यों में विरोध प्रतीत होता है । जहां विरोध होता है, वहां परिहार भी होता है । अतः यहां विरोध की शंका नहीं करनी चाहिए । अपनी अपेक्षा आयु से वृद्धों का अध्यापन करने वाले युवक का वयोवृद्ध छात्रों के लिए गौरवपूर्वक पूज्यत्व होता है ।

षोडशाब्दानां बालानाम् । अथ मन्वादिवाक्यानां विरोध उद्भावितः कथं परिहर्तव्य इति चेद्भ्रान्तो भवान् यतः खलु यत्र विरोधो भवति तत्रैव परिहर्तव्योऽपि सः अत्र तु विरोधलेशशङ्काऽपि नाऽस्ति । तथा हि—स्वाऽपेक्षया वयसा वृद्धानामध्यापयितुर्यूनो वयोवृद्धेभ्योऽप्यध्याप्येभ्यः पूज्यत्वमेव गौरवाद्भवतीति मनुवाक्यानां तात्पर्यात् । अयमर्थः—अध्ययनकर्तारो वृद्धा वयसा, अध्यापकश्च तेषां तदपेक्षया न्यूनवयस्कतया युवा तत्र वयसा युवेति कृत्वा नाऽसम्मान्यो भवति तस्माद् यूनोऽधीयानैर्वृद्धैरपि । किं तु पादोपसंग्रहणानि सर्वाण्यपि कार्याणि तैर्वयोवृद्धैरपि स्वाऽपेक्षया यूनोऽपि तस्याऽध्यापकस्य निरन्तरं कार्याणीति । एतत्सर्वं मनुवाक्यानामन्तस्तलप्रविष्टानाँ पण्डितप्रकाण्डानां धियो विषयतां दिगम्बरतयाऽवगाहते । देवानां प्रियाणां पुनर्विषये 'धियो वैधेयानां भवति विषयोऽसाववविषयः' इत्येव कथनमलङ्कारायते । इदं खलु मनुस्मृतौ—

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।। (मनु. 2.151)
ते तमर्थं पृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ।।(मनु. 2.152)

इत्यादिवाक्यानां पौर्वाऽपर्यविचारेण सूक्ष्मक्षिकयाऽवधारणे तात्पर्यस्य सर्वमप्यस्मत्सिद्धान्तितं स्फुटीभवति । एवं च वाक्यानां भिन्नविषयतया विरोधशङ्काऽपि नाऽस्तीति समुचितमेव । किं च अपूर्णषोडशाब्दानां बालानां वृद्धा एव योग्याः पारिशेष्यात् इति बोधयितुमाह 'तेषां वृद्धाः सुचरिता हिताः' इति । तेषां अपूर्णषोडशाब्दानां बालानां हितयोगे 'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' (पा. सू. 2:1.36) इति चतुर्थी नाऽऽशङ्कनीया हितपदस्य विशेषणतया विधेयत्वाऽभावेन तद्योग-

---

तात्पर्य यह है कि मनु के वचनानुसार तो ज्ञानवान् शिक्षक को ही वृद्ध माना गया है । अतः उम्र से वृद्ध अध्यापक की अपेक्षा युवा अध्यापक का उससे पढ़ने वाले वृद्धों के द्वारा भी असम्मान नहीं किया जाना चाहिए । मनुस्मृति में कहा गया है कि शिशु आंगिरस ने वृद्ध ऋषियों को उपदेश दिया था—यथा

अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।।

अर्थात् अङ्गिरस के विद्वान् पुत्र ने अपने चाचा तथा (अवस्था में) बड़े भाईयों को पढ़ाया, इसलिए उनको पुत्र शब्द से सम्बोधित किया ।

स्याऽभावात् । ततश्च सम्बन्धमात्रविवक्षायां शेषे षष्ठी । अत एव श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्याणां 'अतः स स्वतन्त्रः कर्ता सन् हितमेवाऽऽत्मनः सौमनस्यकरं कुर्यान्नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकाऽनर्थजालम्' (ब्र. सू. 2.1.21) इति प्रयोगश्चतुर्थ्यभाववान् सङ्गच्छते । 'सुचरिताः–शोभनकुलजात्यादिवृतान्ताः सुशीलाश्च 'हिताः'–पारिणामिकसुखजनका इति यावत् । पूर्वोक्तमीमांसानयेन हिततया स्तुततया वृद्धानामेवाऽध्यापकत्वं विधीयते षोडशवर्षसमाप्तिपर्यन्तम् । अत्रेदमपि बोध्यम्—षोडशवर्षसमाप्त्यनन्तरं यूनां वृद्धानां चैच्छिको विकल्पो गौरवं अध्यापनाऽलङ्कर्मीणतामन्यदपि यथायोग्यं विचार्य विधेयः । तत्राऽपि लाभबाहुल्यं वृद्धादेव प्रायो भवतीत्यपि बोध्यम् । वार्धक्यो हि श्रेष्ठं तच्च बहुविध भवति तत्सर्वमपि यथायोग्यं सम्मान्यमित्युक्तं मनुना—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ॥
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ (मनु 2.136)

अध्ययनाऽध्यापनविषयस्य ज्ञानप्रधानतया ज्ञानज्यौष्ठ्यं विशेषत आदरणीयम् । अत एव सर्वत्र वृद्धानां प्रशसा विधीयते । किं च आचारहीनानां न खलु समादरभाजनता दृश्यते क्वाप्यायंमतिपुरुषसमुदाये । आचारहीनता वा आचारसम्पन्नता वा व्यतीतभूयिष्ठाऽऽयुष्काणामेव निश्चेतुं शक्यत इति वृद्धानां नियोजनं हितजनकमिति निर्विवादमेव । यूनां पुनरनतीतभूयिष्ठायुष्कतया न सुचरितता दुश्चरित्रता वा निश्चेतुं शक्या तस्या भविष्यद्विषयत्वात् एवं च वृद्धानां सुचरितानामेवाऽध्यापकत्वमुचितम् । किं च जागतिकसमस्तकार्येषु श्रेष्ठतमं कार्यमध्यापनमेव एतदधीनत्वात्सर्वस्या अपि समुन्नतेः । समुन्नतिं च सर्वोऽपि जीवलोकः स्वभावेनैव चिकीर्षति । एतदतिकठिनकार्यमतीव सूक्ष्मपर्यालोचनया कार्यमिति किमु वक्तव्यम् । यौवनं हि किलाऽनर्थकारिषु प्रधानमुक्तं नीतिविद्भिः यथा –

यद्यपि महाविद्यालय में सोलह वर्ष की समाप्ति तक तो वृद्धों का ही अध्यापकत्व विधेय है । इसके पश्चात् युवक और वृद्धों का ऐच्छिक विकल्प है, जो अध्यापन, कर्मठता और यथायोग्य विचार पर निर्भर है । ज्ञानवान्, चरित्रवान् युवा अध्यापक भी अध्यापन-योग्य बतलाये गये हैं, पुनरपि अधिक लाभ तो वृद्ध अध्यापकों से ही हो सकता है । वृद्धावस्था श्रेष्ठ होती है । अध्ययन और अध्यापन विषय ज्ञान-प्रधान होने से ज्ञान की ज्येष्ठता का विशेष आदर करना

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ।

अतोऽविवेकेनाऽऽध्यापनकार्येऽतिश्रेष्ठतयाऽतिगहनगहनतया चाऽति-कठिने अनर्थकारिदोषयुक्तस्य नियोजन नोचितमिति बोध्यते । अविवेक-स्याऽप्यनर्थकारिदोषेषु प्रधानतया वर्णितत्वात् । साधारणमपि कार्य-मविवेकेन क्रियमाणमापदां पदं भवति यदा, तदा सर्वश्रेष्ठाऽध्यापन-कर्मणि नियोजन कियन्तं विवेकमपेक्षते इति विद्वद्भिः खल्ववगन्तुं शक्यत एव । अत एवोक्तं महाकविभारविणा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ।। (कि. 230)

एवं च यावच्छक्यं षोडशवर्षसमाप्त्यनन्तरमपि बालानां अध्यापन-कर्मणि सुचरिता वृद्धा एव नियोज्याः । इदमप्यत्र बोध्यम्--पूर्णतया बाल्यनिवृत्तिपर्यन्तं वृद्धा एव सुचरिता अध्यापका योग्या इति त्वाचा-र्यस्वरसः वृद्धेभ्यः किल बहवो लाभा भवन्ति यूनाम् । अत एव मन्वा-दिभिः वृद्धानां सेवनमुक्तम् । तच्चानुपदमेव वक्ष्यते । अथ च ज्ञाने खलु गुरोरेव महिमा समस्तमप्यमृतं प्रापयति शिष्यम् । अत एव गुरोः सर्व-देवमयत्व, तद्रोषे समस्तेऽपि संसारे त्राणकर्तृत्वाऽभाववत्त्वं चोक्तं तद्यथा--

---

चाहिए । अतः सर्वत्र वृद्धों की ही प्रशंसा की जाती है । किन्तु आचार-हीनता या आचारशीलता भोगी हुई आयु वाले व्यक्तियों के सदर्भ में ही निश्चित की जा सकती है । अतः यह निर्विवाद है कि वृद्धों की ही नियुक्ति हितकर होती है । युवक अधिक आयु का भोग किए हुए नहीं होते । अतः उनकी चरित्रशीलता या दुश्चरित्रता निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि यह भविष्य का विषय होता है । इस प्रकार आचार में श्रेष्ठ वृद्धों का ही अध्यापकत्व उचित है । संसार के सम्पूर्ण कार्यों में अध्यापन-कार्य श्रेष्ठ है, क्योंकि इस कार्य से ही उन्नति होती है । यह संसार उन्नति ही चाहता है ।

अविवेकी अध्यापक अनर्थकारी हो सकता है, क्योंकि अविवेकिता अनर्थ-कारी दोषों में प्रधान बताई गई है । अविवेक से किया गया साधारण कार्य भी आपत्ति उत्पन्न कर देता है, फिर अध्यापन तो एक श्रेष्ठतम कार्य है, इसके नियोजन में कितने विवेक की अपेक्षा है, इसे विद्वान् समझ सकते हैं । अतः

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ॥
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे तु कोऽपि न । इति च ।
गुरवश्च बहुविधाः । तेषु माता पिता चाचार्यश्चैते त्रयोऽतिसम्मान्यतया महागुरव इत्युच्यन्ते । तेष्वपि आचार्यस्य ब्रह्मप्रदतया पितुरपि श्रेष्ठ्यमुक्तं मनुना यथा-उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता । (मनु. 2.196.) इति । राष्ट्रं च व्यवहारे ब्रह्म तत्ज्ञानप्रदानामाचार्याणां संसारे पारे वाचां श्रेष्ठतमत्वमिति कथं वर्णनीयम् । अत एव आचार्योक्तमध्यापनकार्यं वृद्धानामेव नियोजनं निःसन्देहमनुत्तमनिःश्रेयसकरमिति सिद्ध्यति । अत एव मनुनाऽपि वृद्धसेवया लाभा एवं वर्णिताः—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ॥
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम् (मनु 2 121.)

अत एव वृद्धसम्मानो यूनोत्थायाऽभिवाद्य कार्य इत्युक्तं मनुना यथा—

ऊर्ध्वंप्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाऽभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते । (मनु. 2.10) इति भवतु । ब्रह्मचारिनियमास्तदाचारः, अध्यापकाचाराश्च ग्रन्थान्तरेभ्योऽवसेयाः । तदयं निर्गलितोऽर्थः—महति विद्यालये प्रविष्टानामध्ययनं कर्तुकामानां बालानां जन्मनः आरभ्य षोडशवर्षपर्यन्तं सुचरिता वृद्धा एवाध्यापका भवेयुस्तेषां पारिणामिकहितजनकत्वात् । षोडशवर्षाऽनन्तरं च पूर्णबाल्यनिवृत्तिपर्यन्तं च यथाशक्यं वृद्धा एव नियोज्या अध्यापने मुख्यतया अनन्तरं युवानो वा वृद्धा वा यथेच्छं विकल्पेन नियोज्याः विद्यावृद्धानां परिचर्याऽपि किलान्ते क्रमादमृतरूपो भवतीति योग्यमेव, प्रतिपादितम् । यथाऽन्यत्र—

इसके लिए तो योग्य, चरित्रवान्, अनुभवी वृद्ध अध्यापक की आवश्यकता होती ही है । युवकों को वृद्धों से अनेक लाभ होते हैं । अतः मनु आदि महर्षियों ने वृद्धों की सेवा करना उचित बताया है । ज्ञान के क्षेत्र में गुरु की महिमा शिष्य को अमृत प्रदान करती है ।

गुरु अनेक प्रकार के होते हैं । माता, पिता तथा आचार्य को सम्मान्य होने के कारण महागुरु कहा गया है । इन सब में भी आचार्य को उत्पादक पिता से श्रेष्ठ माना है, क्योंकि आचार्य ब्रह्मपद की प्राप्ति करवाता है ।

रचयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः ।।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकफलोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते

अलमनेन पल्लवितेन । अन्यदग्रे विवेचयिष्यते एव ।।31।।

एवं महति विद्यालये प्रविष्टानामध्ययनविषयेऽध्यापनविषये च निरूप्येदानीं स्त्रीणां शिक्षाविषयेऽपि निरूपणमावश्यकमेवेति तत्र विषये निरूपयन्नाह—

वृद्धाभिः सुचरित्राभी राष्ट्रियाभिस्तु बालिकाः ।।
गृह्यराष्ट्रज्ञानकार्यदक्षाः कार्याः प्रयत्नतः ।।32।।

[बालिकाएं गृहसम्बन्धि ज्ञान तथा कार्यों में और राष्ट्रसम्बन्धि ज्ञान तथा कार्यों में प्रयत्न से दक्ष बनाई जाएं, उनकी अध्यापिकायें बूढी सचरित्र तथा राष्ट्रिय होनी चाहियें ।।32।।]

वृद्धाभिरिति । बालिकाः—तु—राष्ट्रियाभिः—सुचरित्राभिः—वृद्धाभिः—प्रयत्नतः—गृह्यराष्ट्रज्ञानकार्यदक्षाः—कार्याः—इति पदयोजनिका ।

'बालिकाः—बाला एव बालिकाः स्वार्थे कप्रत्ययः । 'तु' बालकव्यावर्तकस्तुरत्र । 'राष्ट्रियाभिः'—स्वराष्ट्रोत्पन्नाभिः 'सुचरित्राभिः'—शोभनं—वृतान्तः सुस्वभावश्च यासां ताः ताभिः 'वृद्धाभिः'—वयसा स्थविराभिः 'प्रयत्नतः'—प्रकृष्टः अतिशयितः यत्नः—उद्योगः तस्मात् 'पञ्चम्यास्तसिल्' (पा. सू. 5.3.6.) हेतौ पञ्चमी । 'गुह्यराष्ट्रज्ञान-

---

राष्ट्र ही ब्रह्म है. उस राष्ट्र का ज्ञान प्रदान करने वाले आचार्य ही श्रेष्ठतम है । अतः राष्ट्रिय शिक्षा प्रदान करने में वृद्धों का नियोजन ही उत्तम और कल्याणकारक सिद्ध होता है ।

स्त्रियों की शिक्षा के सन्दर्भ में निरूपण किया जा रहा है :—

कारिका–32

अष्टम वर्ष के पश्चात् बालक बालिकाओं को सहशिक्षा प्रदान करने का निषेध किया गया है । मातृभाषा की शिक्षा भलीप्रकार प्राप्त न कर पाने पर पर आठ वर्ष के बाद भी बालिकाओं को ग्रामीण पाठशाला में ही बालकों से पृथक् शिक्षा प्रदान करना चाहिए । इसके पश्चात् राष्ट्रिय सुचरित्र वृद्धा अध्यापिकाओं द्वारा वे बालिकाएं प्रयत्नपूर्वक गृह्यराष्ट्रज्ञान में दक्ष बनाई जानी

कार्यदक्षा'—गृहे भवं गृह्यं राष्ट्रं—पूर्वोक्तलक्षणं अनयोर्द्वन्द्वः, तयोः ज्ञानं—ज्ञानशक्तिविषयं कार्यं–क्रियाशक्तिविषयं च अनयोरपि द्वन्द्वः ततश्च षष्ठीतत्पुरुषः। गृह्यराष्ट्रयोः ज्ञानकार्ये तत्र दक्षाः––पेशलाः "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इति गृह्यज्ञानकार्यदक्षाः राष्ट्रज्ञानकार्यदक्षाश्च इत्यर्थ उपलभ्यते। 'कार्याः'—करणीयाः। अत्राऽयं भावः–ग्रामीणपाठशालायां सम्यग् गृहीत-शिक्षाणां अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं महति विद्यालये प्रविष्टानामध्ययनविषये तथाऽध्यापकविषये च निरूपितम्। स्त्रीपुंसजातीयानामपत्यानामष्टमवर्षादूर्ध्वं निषिद्धा सह शिक्षा। अथ ग्रामीणपाठशालायां गृहीतराष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाशिक्षाणां अष्टमवर्षादूर्ध्वं क्व शिक्षा देया का च देयेति निरूपणमावश्यकम्। तदर्थमस्याः कारिकाया आरम्भः। असम्यग् गृहीतभाषाशिक्षाणां बालिकानामष्टमवर्षादूर्ध्वमपि ग्रामीणपाठशालायामेव बालकेभ्यः पृथक् शिक्षा देया। अद्य तदनन्तरं ता बालिका राष्ट्रियाभिः सुचरित्राभिर्वृद्धाभिः गृह्यराष्ट्रज्ञानकार्यदक्षाः प्रयत्नतः कार्याः। अत्रेदं बोध्यम्—यथा बालकानामष्टमाब्दसमाप्त्यनन्तरं अध्ययनमुपदिष्टमाचार्येण 'पठेयुः' इत्यनेन। तेन च तेषां स्वातन्त्र्यं बोधितमध्ययनक्रियाकर्तृत्वबोधनपुरस्कारेण, अत एवाऽनध्ययने तेषामेव दण्डभाक्त्वमवगम्यते। नैवं बालिकाविषये। यद्यपि मनुष्यमात्रस्य ज्ञानविषयेऽधिकारसाम्यं स्वाभाविकमद्याऽपि स्त्रीपुंसजातीयभेदस्य प्राकृतिकतया कार्याकार्येस्वपि भेदो नैसर्गिक एव। सृष्टिविकासक्रमः पुनः प्रस्तुतभाष्यकृताऽऽचार्येणैव पूर्वं वर्णित एवेति नाऽत्र चर्च्यते तद्विषयो। तथाऽप्यत्यावश्यकतया किंचिदुच्यते। विश्वमिदं किल समस्तं परशिवरूपम्। ज्ञानक्रियास्वभावमेतत् स्थूलदृशाऽपि दृश्यमानं दृश्यते द्विविधम्। तत्रैकाज्ञानविधाऽपरा च

चाहिए। यद्यपि ज्ञान के विषय में बालक और बालिकाओं का अधिकार-साम्य बतलाया है, पुनरपि स्त्री पुरुष के जाति भेद से प्राकृतरूप से भी कार्याकार्यों में भेद स्वाभाविक ही है।

यह समस्त विश्व परमशिव रूपात्मक है। ज्ञान, क्रिया एवं स्वभाव, ये मोटे रूप में दो प्रकार के दृष्टिगत होते हैं। ज्ञानविध और क्रियाविध ज्ञान शक्ति-प्रधान वस्तुओं में क्रियाशक्ति का व्यवहार होता है। पुरुष ज्ञान शक्ति-प्रधान होता है, जबकि स्त्री क्रियाशक्ति प्रधान होती है। ज्ञानशक्तिव्यञ्जक शक्ति का विकास सोमरूप में होता है तथा क्रियाशक्तिव्यञ्जक शक्ति का विकास अग्नि-

क्रियाविधा प्राधानेषु ज्ञानत्वव्यवहारः, क्रियाशक्तिप्रधानेषु क्रियात्वव्यवहारः, ज्ञानशक्तिव्यञ्जकमाप्यायिनीशक्तिविकासाऽधिक्यात् सोमरूपं भवति, तदेतद्विसर्गाऽनन्दसुन्दरं पुंल्लिङ्गं भवति। क्रियाशक्तिव्यञ्जकं ग्राहिणी शोषिण्यपरपर्यायग्राहिणीशक्तिविकासाऽधिक्याद् अग्निरूपं भवति तदेतत्संग्रहाऽनन्द सुन्दरं स्त्रीलिङ्गं भवति। एवं द्वयमपि परस्परमादानप्रदानाभ्यां सुखयति। सोमस्य प्राकट्येनाऽप्यायकत्वम्। अग्नेश्च प्राकट्येन शोषकत्वं दाहकत्वं वाऽत एव सोमस्य श्वेतवर्णः अग्नेश्च रक्तवर्णः। रक्तवर्णः क्रियाप्राधान्यलिङ्गम्, श्वेतवर्णश्च ज्ञानप्राधान्यलिङ्गम्। अयं स सर्वोऽपि सृष्टिक्रमः श्रीमद्भगवद्गीतासूक्तः यथा—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ (गी. 3.14.)
कर्मब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माऽक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ (गी. 3.15.)

इदं त्वत्र बोध्यमेव—अयं श्रीमद्भगवद्गीतोक्तः क्रमः। अतिरहस्यभूतः मनुस्मृतावपि सम्यग्बीजरूपेण वर्णितः। यथा—

अग्नौ प्राप्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥(मनु. 3. 76)।

सारांशस्तु स्त्रीणां क्रियाप्राधान्यं पुरुषाणां च ज्ञानप्राधान्यम्। द्वयस्याप्यस्य सम्मिश्रणमिच्छायां भवति। सा बिन्दुरस्य द्वयस्य। स एव सूर्यस्थानीयः, इदं च सर्वमपि दृश्यमानमग्नीषोमात्मकं विश्वम्। अत एव तन्त्रशास्त्रे उक्तमपि—

अहमग्निशिरोनिष्ठस्त्वं सोमशिरसि स्थिता।
अग्नीषोमात्मकं विश्वमावाभ्यां समधिष्ठितम्॥

रूप में होता है। इन दोनों शक्तियों का जब आदान-प्रदान होता है, तब ये सुखकारक होते हैं।

प्रकट रूप में सोम आप्यायक तथा अग्निशोषक है। सोम का वर्ण श्वेत है तथा अग्नि का वर्ण लाल है। श्वेतवर्ण ज्ञान-प्राधान्य और रक्तवर्ण क्रियाप्राधान्य का सूचक है।

ज्ञानप्राधान्य एवं क्रियाप्राधान्य का सम्मिश्रण इच्छा में होता है। यह विश्व अग्निसोमात्मक ही है। पुरुष ज्ञानप्रधान है। अतः उसका स्वतन्त्र विकास

अतिरहस्यमेतत्सर्वम् । अस्योद्घाटने योगिनीशापाम्नानं श्रूयते इति नाऽत्रोद्घाटयिष्यते । समासतस्तूक्तमेव । सर्वमप्येतत्स्वगुरुवरमुखा-देवाऽवगन्तव्यम् । भवतु सर्वथाऽपि स्त्रीणां कार्यप्रणाली क्रियाप्रधानैव स्वाभाविकी । पुरुषाणां च कार्यप्रणाली ज्ञानप्रधानैव स्वाभाविकीति समीचीनमेव । तत्राऽपि पुरुषाणां ज्ञानप्रधानतयैव स्वातन्त्र्यविकासो-ऽप्यधिकः । स्त्रीणां क्रियाप्रधानतयैव पारतन्त्र्यविकासोऽधिकः । एतत्सर्व-मपि गुणकर्मविभागशो भगवता चातुर्वर्ण्यं सृज्यते । तत्राऽयं विवेकः— ज्ञानप्रधानं वर्णद्वयं स्वातन्त्र्यविकासात् पुंरूपम् । क्रियाप्रधानं वर्णद्वयं पारतन्त्र्यविकासात् स्त्रीरूपम् । तत्राऽप्यवगन्तव्यमेतत् । ज्ञानप्रधानमपि वर्णद्वयमिदं तारतम्येन ज्ञानक्रिययोः द्विविधं भवति । ज्ञानाऽधिकन्यूनक्रियाविकासवान् ज्ञानप्रधानो वर्णः ब्राह्मणवर्णः, न्यूनज्ञानाधिकक्रियाविकासवान् ज्ञानप्रधानो वर्णः क्षत्रियवर्णः, इति । एवं क्रियाप्रधानमपि वर्णद्वयं तारतम्येन ज्ञानक्रिययोः द्विविध भवति ज्ञानाऽधिकन्यूनक्रियाविकासवान् क्रियाप्रधानो वर्णो वैश्यवर्णः, न्यूनज्ञानाऽधिकक्रियाविकासवान् क्रियाप्रधानो वर्णः शूद्रवर्णः एवं गुणकर्मव्यवस्था । अथेदमपि निष्कृष्टाऽर्थं बोध्यम्–आर्यपुंयुगं ब्राह्मवर्ण-प्रधानं सत्ययुगमार्यराष्ट्रवादप्रधानम् । आर्यस्त्रीयुगं क्षत्रियवर्णप्रधानं त्रेतायुगमार्यराज्यवादप्रधानम् । अनार्यपुंयुगं वैश्यवर्णप्रधानं द्वापरयुगम-नार्यराष्ट्रवादप्रधानम् । अनार्यस्त्रीयुगं शूद्रवर्णप्रधानं कलियुगमनार्य-राज्यवादप्रधानम् । एतदेव युगचतुष्टयं प्रस्तुतभाष्यकृता क्रमशः सम्भावनयुगं, दानयुगं, विनिमययुगं, अपहारयुगं चेत्येवं रूपेण सङ्केति-तमास्ते । सर्वमपीदं समासतो निरूपितं करुणया शिष्याणाम् । वस्तुत एतन्निरूपणे योगिनीनामप्रसादो

अधिक हुआ है । स्त्री क्रियाप्रधान है, अतः उसका पारतन्त्र्य-विकास अधिक हुआ है । इन दोनों तत्त्वों से ही गुणकार्य विकास से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि हुई है । ज्ञान-प्रधान वर्णद्वय (ब्राह्मण-क्षत्रिय) स्वातन्त्र्य-विकास से पुरुष तथा क्रिया-प्रधान वर्णद्वय (वैश्य-शूद्र) पारतन्त्र्य विकास से स्त्री रूप है । ज्ञानप्रधान वर्ण ज्ञान और क्रिया के तारतम्य से दो प्रकार के होते हैं । ज्ञानाधिक और न्यून क्रिया से विकसित ज्ञानप्रधान वर्ण ब्राह्मण है । न्यून ज्ञान और अधिक क्रिया से विकसित ज्ञान-प्रधान वर्ण क्षत्रिय है । इसी प्रकार क्रिया-प्रधान वर्ण ज्ञान और क्रिया के तारतम्य से दो प्रकार के होते हैं । ज्ञानाधिक और न्यून क्रिया

भवतीत्यधिकं न निरूपयितुं शक्यते । एवं सर्वमपि योगदृशा पर्यालोच्य स्त्रीशिक्षाविषये 'कार्याः' (रा. 32) इत्युक्तमाचार्येण । बालिकाः किल अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं प्रयत्नतः प्रकृष्टोद्योगेन गृह्य-राष्ट्रज्ञानकार्यदक्षाः कार्याः । अयं भावः—आलस्यप्रमादादि सर्वं विहाय देशकालादिसमस्तपरिस्थितिं योगदृशा पर्यालोच्य प्रयत्नतः=समुचितोद्योगेन स्वराष्ट्रबालिकाः, गृहे भवानि गृह्याणि वस्तूनि, उपादेयानि हेयानि च तेषां ज्ञानं कार्यं च तत्र । अथ च राष्ट्रस्य=पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य ज्ञानं पूर्वोक्तं कार्यं कर्तव्यं कर्म तत्र च दक्षाः चतुराः । अयं भावः—गृहे कानि वस्तून्यपेक्षितानी तत्र कानि तत्कालं सुखजनकानि परिणामे सुखजनकानि, अथ कानि दुःखजनकानि तत्काले, परिणामे च कानि दुःखजनकानि, मम पतिपुत्रादीनां किं हितजनकमहितजनकं च वस्तुजातं एतत्सर्वं गृह्यज्ञानम्, अथ गृह्यानि गृहभवानि कार्याणि कर्तुं योग्यानि यथा नानाविधभक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयादि भेदप्रभेदभिन्नं षड्रसोपेतमाहारसाधनं कथं साधनीयं किं च तत्राऽस्मद्गृहे स्थितानां हिताऽहितं तदर्थं चुल्लीपेषण्युपस्करादिसाधनं सामग्रीसंग्रहकार्यज्ञानं, आच्छादनाय कार्पासोर्णादिसूत्रनिर्माणज्ञानं निर्मितस्य सूत्रस्य शाटकादिवयनज्ञानं, वस्त्रस्य चाङ्गरक्षककञ्चुक्याद्याच्छादकपदार्थानां कार्याऽकार्यज्ञानमित्यादि सर्वमपि गृह्यकार्यजातम् । अथ च गृहस्य सम्मार्जनलेपनादिना सुन्दरीकरणं, वस्त्राणां प्रक्षालनं, पात्राणां मृद्भस्मादिना निर्मलीकरणम् । गृहस्थितपदार्थानामायव्ययादिपर्यवेक्षणम्, स्वगुरुजनानां पतिपुत्रादीनां च श्रद्धाप्रेमपुरःसरमार्यजनाऽनुकूलं प्रसन्नीकरण, इत्यादि सर्वेष्वपि गृह्यज्ञानेषु कार्येषु दक्षाः=पेशलाः कार्याः । अथ चैवमेव राष्ट्रस्य

से विकसित क्रिया-प्रधान वर्ण वैश्य है । न्यून ज्ञान और अधिक क्रिया से विकसित क्रिया-प्रधान वर्ण शूद्र है । यही गुण-कर्म की व्यवस्था है ।

यह भी ज्ञातव्य है कि आर्यपुंयुग ब्राह्मणवर्ण प्रधान, सत्ययुग आर्य राष्ट्रवाद प्रधान, आर्य स्त्री युग क्षत्रियवर्ण प्रधान, त्रेतायुग आर्य राज्यवाद प्रधान होता है । अनार्य पुंयुग वैश्यवर्ण प्रधान, द्वापर युग अनार्य राष्ट्रप्रधान, अनार्य स्त्रीयुग शूद्रवर्ण और कलियुग अनार्य राज्यवाद प्रधान होता हैं । इसी युगचतुष्टय को प्रस्तुत भाष्यकार ने क्रमशः सम्भावना युग, दान युग, विनिमय युग और अपहार युग कहा हैं ।

अष्टवर्ष-समाप्ति के पश्चात् बालिकाओं को गृह्य-राष्ट्र-ज्ञान के कार्य में दक्ष बनाना चाहिए । घर में किन वस्तुओं की अपेक्षा है ? उनमें कौन सी उस

ज्ञानं पूर्वमुक्तं कार्यमपि पूर्वमुक्तं तत्राऽपि दक्षाः कार्याः। अत्राऽयं विवेकः स्त्रीणां गृह्यज्ञानकार्यदक्षत्वं मुख्यं तदनुरोधेन च राष्ट्रसम्बन्धि-कार्याणि। अयं भावः - राष्ट्रविघातकानि कार्याणि कदाऽपि न कार्याणि। दक्षत्वं चैतदेषु कार्येषु प्राप्तव्या बालिकाः सुचरित्राभिर्वृद्धाभिः। वृद्धानामेव सुचरित्रत्वनिश्चयो भवतीत्युक्तं पूर्वम् किं च राष्ट्रियाभिरेव वृद्धाभिः कार्याः। अयं भाव-पारतन्त्र्यवशात् स्वराष्ट्रे शिक्षितानां योषितामलाभाद्वा स्वोन्नतिचिकीर्षाया अनिवार्यतया अराष्ट्रियाभिरपि शिक्षाप्राप्ताविदं बोध्यते राष्ट्रियाभिरिति। बालिका राष्ट्रियाभिरेव शिक्षयितव्या इति नन्वलाभे तासामिति चेन्मैतत् किंचित्, गृह्यज्ञानकार्यदक्षा यथासम्भवं स्वस्वराष्ट्रे प्राप्यन्ते एव ता एव शिक्षयन्तु। वस्तुतस्तु स्वराष्ट्रोचितं गृह्यराष्ट्रज्ञानकार्यदक्षत्वं अराष्ट्रियाभिर्नैव सम्पादयितुं शक्यमित्यपि बोध्यतेऽनया कारिकया। किं च अज्ञतया मूढतया च ये मन्यन्ते यत् अरा-ष्ट्रियाः शिक्षितास्ताभिरपि शिक्षणीया इति मूढा इति न जानन्ति तदुद्भवं पारिणामिकमहितमिति उपेक्ष्या एव। एवं च राष्ट्रि-याभिरेव शिक्षा प्राप्तौ पुनरपि राष्ट्रियाभिरिति पदोपादानं प्रमादेनाऽपि नैव शिक्षितव्या अराष्ट्रियाभिः बालिका इति बोधयति। इदमप्यत्र बोध्यम्—आसां कृते यथोचितं विद्यालयादिग्राम-समीपे वा संस्थाप्य येन केनाऽपि प्रकारेण गृह्यराष्ट्रज्ञानकार्येषु दक्षाः कार्याः। कार्या इत्यनेन स्त्रीणां तयाऽसम्पादने राष्ट्रहितैषिण एव

समय सुखकारी हैं? कौन सी बाद में (अन्त में) सुखकारी होंगी? कौन सी उस समय दुःखकारी होंगी? मेरे पति और पुत्र आदि के लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर है? इस समस्त गृह्य ज्ञान के अन्तर्गत इन सभी पारिवारिक आवश्यकताओं का ज्ञान सन्निहित है। उसमें भक्ष्यभोज्य लेह्यचोष्यपेयादि षड्रस से युक्त भोजन तैयार करना वस्त्राभूषणादि सम्मार्जन, लेपन, वस्त्रपात्रादि प्रक्षालन आय-व्ययपर्यवेक्षण, गुरुजनों और पति-पुत्रादि का श्रद्धा-प्रेम पूर्वक प्रसादन तथा अनुकूलाचरणादि कार्य भी सन्निविष्ट होते हैं। स्त्रियों की गृह्य-ज्ञान-दक्षता मुख्य है। साथ ही उन्हें राष्ट्रविरोधी कार्यों से विरत होकर, राष्ट्रो-पयोगी कार्यों में अपना योगदान करना चाहिए। सुचरित्र राष्ट्रीय वृद्धाओं के द्वारा बालिकाएं दक्ष बनाई जानी चाहिए।

वास्तव में अराष्ट्रिय स्त्रियों द्वारा स्वराष्ट्रोचित गृह्यकार्य नहीं किया जा सकता। इन स्त्रियों के लिए ग्राम के समीप ही विद्यालय खोला जाय, जहां इन्हें गृह्य राष्ट्र के ज्ञान में दक्ष बनाया जाय। गृह्य ज्ञानकार्य तो विवाह से पूर्व माता आदि से और बाद में सास आदि के द्वारा प्रदान किया जाता है। स्त्रियों

दोषभागिनो भवन्ति न पुनर्बालिका इत्यपि बोध्यत एव किं च 'प्रयत्नत' इत्यनेनेदमपि बोधनं भवति यत् प्रकृष्टयत्नेनेति । प्रकृष्टो यत्नश्चायमेव यत् विवाहात्पूर्वं मात्रादिभिरनन्तरं च श्वश्र्वादिभिर्यथायथं तथा कार्याः । अत्रेदं बीजम्—स्त्रीणां खलु गृह्यज्ञानकार्यदक्षत्वं मुख्यतयाऽवश्यकं तत्खलु गृहे एवाऽति सुलभं यथा प्रायस्तथा न विद्यालयादाविति तासामर्थे न महाविद्यालयादिस्थापना विहिता न च निषिद्धा अनिषेधे चेदं बीजम्— याः किल गृहहीनास्तासां राष्ट्रज्ञानकार्यदक्षत्वं मुख्यं तासामर्थे यथायथं महाविद्यालयोऽपि पृथक् स्थापयितुं शक्यते । तत्र ता गृह्यराष्ट्रज्ञान-कार्यनिपुणभूता राष्ट्रसञ्चालकैर्नियुक्तास्तत्तदुचितानि कार्याणि कुर्युः । गृह्यज्ञानकार्याणि च मातृश्वश्र्वादिनियुक्ताः कुर्युः । इदं तु बोध्यमेव बालिकानामध्यापिकापदेषु पुनर्योजना सुचरित्राणां वृद्धानामेव योषितां कार्या न सुचरित्राणामपि युवतीनाम् । 'राष्ट्रियाभिः' इत्यनेन चतुर्विध-सम्बन्धेन सम्बन्धवतीनामेव सुचरित्राणां वृद्धानामेव राष्ट्रे अध्यापिका-पदेषु नियुक्तिः कार्या इत्यपि ध्वन्यते । अध्यापनेऽपि तत्तद्विषये अध्ययन-बोधाचारवतीनामेवाऽधिकार इति तु स्वतः सिद्धमेवेति तद्विषये न किमपि वक्तव्यमिदानीम् । अलमनेन ॥32॥

एवं शिक्षाविषये पूर्वं बालकानां बालिकानां च भाषाशिक्षा, तदर्थं ग्रामे ग्रामे पाठशाला—स्थापनं (रा. 26) निरूप्य तदनन्तरं अष्टमवर्षादनन्तरं बालकानामध्ययनार्थं महा-विद्यालयस्थापनं (रा. 28) तत्र बालानामध्ययनं (रा. 29) च निर्वर्ण्य अष्टमवर्षसमाप्त्यनन्तरं स्त्रीपुंसजातीयानां सह शिक्षां निषिध्य (रा. 30)

की गृह्य-ज्ञान-दक्षता जितनी घर में सुलभ है, उतनी विद्यालय में नहीं । अतः उनके लिए महाविद्यालय की स्थापना का न विधान किया गया हैं, और न निषेध ।

इन बालिकाओं के अध्यापन के लिए सुचरित्रा वृद्धाओं की नियुक्ति की जानी चाहिए, सुचरित्र युवतियों की नहीं । अध्यापन में भी विविध विषयों में अध्ययन-बोध एवं आचार से युक्त महिलाओं का ही अधिकार है । निष्कर्षतः बालिकाओं को सर्वप्रथम भाषा-शिक्षा प्रदान की जाय, जिसके लिए प्रत्येक गांव में पाठशाला की स्थापना की जाय । तदनन्तर आठ वर्ष के पश्चात् बालिकाओं के अध्यापन के लिए महाविद्यालय की स्थापना की जाय । अष्टमवर्ष की

अपूर्णषोडशाब्दानां पुंबालकानामध्यापने यूनां निषेधं सुचरितवृद्धानां च नियोजनं विधाय (रा. 31) अष्टमाब्दादूर्ध्वं बालिकानामध्ययनं, तदध्यापने राष्ट्रियाणामेव सुचरित्राणां वृद्धानां नियोजनं प्रतिपादितम् । अथेदानीं निग्रहशक्तिपूर्णताया आवश्यकरणकौशलपूर्तये तच्छिक्षायै तद्विषयकमहतो विद्यालयस्य स्थापनां प्रतिपादयन्नाह—

स्थापनीयः प्रयत्नेन मण्डले मण्डले महान् ।।
विद्यालयोऽध्यापयितुं राष्ट्रियान् रणकौशलम् ।।33।।

[राष्ट्रियों को रण-कौशल सिखाने के लिए मण्डल-मण्डल में प्रयत्न के महान् विद्यालय स्थापित करना चाहिए ।।33।।]

स्थापनीय इति । राष्ट्रियान्—रणकौशलं—अध्यापयितुं—मण्डले-मण्डले – महान्—विद्यालयः–प्रयत्नेन—स्थापनीयः इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रियान्—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः 'रणकौशलम्'–रणस्य–सङ्ग्रामस्य सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ततस्तत्पुरुषः । कौशलं—कार्य-चातुर्यम् 'अध्यापयितुं'—ग्राहयितुं 'मण्डले-मण्डले' प्रतिमण्डलमिति यावत् । मण्डलं च वर्णितं पूर्वम् । 'महान्'—विशालः सर्वाङ्गपूर्णश्चेति पूज्यः 'विद्यालयः—अध्ययनस्थानम् 'प्रयत्नेन'—प्रकृष्टोद्योगेन 'स्थापनीयः'—स्थापयितव्यः । अयं भावः—पूर्वं किल या शिक्षा प्रतिपादिता साऽनुग्रहप्रधानाः निग्रहप्रधानशिक्षादानायाऽपि महतो विद्यालयस्याऽत्यन्तमावश्यकता वर्तते । स्वतन्त्रराष्ट्रलक्षणकथनाऽवसरे वर्णितमासीत् यत्—परराष्ट्रसम्बन्धः, सेना, कोषश्च यत्रत्यो राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनामेव हस्ते यत्र भवति तदेव

समाप्ति के बाद सहशिक्षा निषिद्ध है । बालिकाओं के अध्यापन के लिए सुचरित्रा वृद्धा-शिक्षिकाओं की नियुक्ति की जाय ।

निग्रह-शक्ति की पूर्णता में रणकौशल की पूर्ति आवश्यक है । उस रणकौशल की शिक्षा के लिए तद्विषयक महाविद्यालय की स्थापना के बारे में निरूपण किया जा रहा है :—

कारिका--33

पहले जिस शिक्षा का प्रतिपादन किया गया है, वह अनुग्रहप्रधान है । निग्रहप्रधान शिक्षा प्रदान करने के लिए भी महाविद्यालय की स्थापना आवश्यक है । चतुर्विधसम्बन्ध से युक्त राष्ट्र ही स्वतन्त्र राष्ट्र है । परराष्ट्रसम्बन्ध की

राष्ट्रं स्वतन्त्रमित्याख्यायते इति । तत्र परराष्ट्रसम्बन्धस्थापनं बौद्धिकबलाऽधीनमिति राष्ट्रस्वतन्त्रीकरणाय तदुन्नत्यै पाठशालादिस्थापना, महाविद्यालयस्थापना, भाषालिपिशिक्षा, तद् द्वारा विविधं विद्याध्ययनं च निरूपितम् । एतत्सर्वमपि ज्ञानप्रधानमिति तस्य पूर्वं निरूपणं विहितमेव । परं तु केवलं ज्ञानेन, क्रियामन्तरेण न कार्यं किमपि सिद्ध्यतीति निसर्गात् तन्निरूपणमप्यावश्यकमेव । अत एव राष्ट्रस्य स्वतन्त्रीकरणाय सेनाया अपि नितान्तमावश्यकता भवत्येव । सेनाप्रबन्धश्च शारीरिकबलवर्धनाय भवति । बाहुबलमन्तरा बुद्धिबलं न क्षमते विजयायेति निसर्गः । अतस्तद्बलप्राप्तये सैनिकशिक्षाया अतीवाश्यकतां पश्यन्नाचार्यो रणकौशलशिक्षार्थं महतो विद्यालयस्य स्थापनां मण्डले-मण्डले विधेयतया वर्णयति—स्थापनीय इति । मण्डले-मण्डले इति तु पूर्ववदेव व्याख्येयम् । 'प्रयत्नेन' प्रमादालस्यादिरहितेन समुचितोद्योगेन 'स्थापनीयः' इति विधिरपि पूर्ववदेव बोध्यः 'महान्' विद्यालयः— आवश्यक-समस्तसाधनवत्तया पर्याप्तविशालप्रदेशवत्तया च महत्त्वम् । 'विद्यालयः—अध्ययनार्थं स्थानम्' किमर्थमित्याह—'राष्ट्रियान् रणकौशलं अध्यापयितुं रणकौशलम्—रणस्य-समरस्य ।

अस्त्रियां समराऽनीकरणाः कलहविग्रहौ ॥ इत्यमरः ।

समरसम्बन्धीति यावत् तस्य कौशलं—बुद्धिचातुर्यं, अध्यापयितुम् । अत्रेदं बोध्यम्—रणःकिल बहुविधो भवति, तत्र स्थानभेदेन द्विविधः—स्थले, जले, अन्तरिक्षे च, सोऽपि शुद्धाऽशुद्धभेदेन विविधः, तत्र यत्र द्वावपि पक्षौ स्थले एव, जले एव, अन्तरिक्षे, एव स शुद्धः । एकः स्थले अपरश्च जले-

---

स्थापना बौद्धिक बल के अधीन होती है । राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए, और राष्ट्र की उन्नति के लिए पाठशालादि तथा महाविद्यालय की स्थापना करनी चाहिए । भाषालिपि-शिक्षा और इसके माध्यम से विविध विद्याओं का अध्ययन भी करना चाहिए । यह सब ज्ञान प्रधान है, किन्तु क्रिया के बिना केवल ज्ञानमात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है ।

राष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए सेना की भी नितान्त आवश्यकता होती है । सेना का प्रबन्ध शारीरिक बल बढ़ाने के लिए किया जाता है । बाहुबल के बिना केवल बुद्धिबल से विजय प्राप्त नहीं होती है । अतः इस बाहुबल को प्राप्त करने के लिए सैनिक शिक्षा की अतीव आवश्यकता होती है । आचार्य का अभिमत है कि रणकौशल की शिक्षा के लिए प्रत्येक मण्डल में महाविद्यालय की स्थापना की जाय ।

ऽन्तरिक्षे वा, एको जले अपरः स्थलेऽन्तरिक्षे वा, एवमेव ऐकोऽन्तरिक्षे अपरः स्थले जले वा एतेऽशुद्धाः रणाः । अथाऽयमेत्र मिश्रोऽपि भवति । यथा एकः स्थले एव, अपरः स्थले जलेऽपि, एको जल एव, अपरो जले स्थलेऽपि, एक अन्तरिक्षे एव, अपरो जले स्थलेऽन्तरिक्षेऽपि एको द्वयोर-परस्त्रिष्वपि इत्यादि । अथाऽयं पुनरपरेणाऽपि प्रकारेण शुद्धाऽशुद्धो भवति । यथा–शस्त्ररणः अशस्त्ररणश्च । तत्र यत्र द्वावपि शस्त्रसहायिनौ सः शुद्धः शस्त्ररणः एवमेव द्वावपि यत्राऽस्त्रसहायिनौ सोऽस्त्ररणः शुद्धः । अथ यत्रैकः शस्त्रसहायोऽपरश्चाऽशस्त्रसहायः सोऽशुद्धः । अत्रेदं बोध्यम्–शस्त्ररणो दुर्बलोऽस्त्ररणात् । स्थलरणात् जलरणात् च प्रबलोऽन्तरि-क्षरणः । स्थले तावद्रणोः आरूढरणः पदातिरणश्च भवति । अयमपि शुद्धाऽशुद्धो भवति । रथाऽरूढो रथाऽऽरूढेन । गजारूढो गजाऽऽढेन, अश्वा-रूढोऽश्वारूढेन । इत्यादिः शुद्ध आरूढरण. । पदातिः पदातिना एव पदातिरणः । जलेऽन्तरिक्षे चाऽऽरूढरण एव प्रायः सम्भवति । जले प्लवनरणोऽतीव कादाचित्कः । अन्तरिक्षेऽपि पदातिरणः क्वाचित्क एव । अथाऽपरेणाऽपि प्रकारेण द्विविधोऽयं सामूहिको वैयक्तिकश्च ।

रण भी स्थानभेद से तीन प्रकार का होता है–स्थल, में जल में तथा अन्तरिक्ष में । यह शुद्धाशुद्ध भेद से दो प्रकार का है । जहां दोनों पक्ष स्थल में ही, जल में ही तथा अन्तरिक्ष में ही युद्ध करते हैं, वह शुद्ध कहलाता है । जहां एक पक्ष स्थल में, दूसरा पक्ष जल तथा अन्तरिक्ष में, एक जल में, दूसरा स्थल में अथवा अन्तरिक्ष में, इसी प्रकार एक अन्तरिक्ष में, अन्य स्थल तथा जल में युद्ध करता है, वह अशुद्ध कहलाता है । यह मिश्र भी होता है । यथा एक स्थल में ही, दूसरा स्थल में भी और जल में भी । एक जल में ही दूसरा जल में भी और स्थल में भी । एक जल में ही दूसरा जल में भी और स्थल में भी एक अन्तरिक्ष में दूसरा जल, स्थल और अन्तरिक्ष में भी । इसी प्रकार शस्त्ररण और अशस्त्ररण (अस्त्ररण) भी शुद्धाशुद्ध भेद से दो प्रकार का होता है । जहां दोनों शस्त्रधारी हैं, वह शुद्ध शस्त्ररण है । इसी प्रकार जहां दोनों अस्त्र-धारी हैं, वह अस्त्ररण शुद्ध है । जहां एक शस्त्रधारी है और दूसरा अशस्त्रधारी वह अशुद्ध है ।

शस्त्ररण अस्त्ररण से दुर्बल होता है । स्थलरण से तथा जलरण से अन्तरिक्षरण प्रबल होता है । स्थल पर जो रण होता है वह वाहनों पर चढ़-कर तथा पैदल चलकर होता है । यह भी शुद्धाशुद्ध भेद से दो प्रकार का होता

समूहः समूहेन यत्र युद्ध्यति स सामूहिकः । एक एकेन यत्र युद्ध्यति स वैयक्तिकः । सर्वथाऽपि सर्वेष्वपि रणेषु कौशलमपेक्ष्यत एव । इदमपि बोध्यम्--नियुद्धं शस्त्रयुद्धमशस्त्रयुद्धं चेति त्रिविधो रणः सम्भवति । तत्र नियुद्धे शस्त्रयुद्धे च शरीरबलस्याऽत्यन्तमपेक्षा, अस्त्रयुद्धे न तादृशी शरीरबलाऽपेक्षा, किंतु बुद्धिमत्ताया, अपेक्षा एवं चाऽस्त्रयुद्धेऽतीव बुद्ध्यपेक्षा, तदपेक्षया शस्त्रयुद्धे बुद्ध्यपेक्षा न्यूना नियुद्धे चैतद्द्वितयाऽपि बुद्ध्यपेक्षा न्यूना । शरीरबलाऽपेक्षा च पूर्वपूर्वाऽपेक्षयोत्तरोत्तरेऽधिका । नियुद्धं-- बाहुयुद्धमुच्यते । शस्त्रैः क्रियमाणं युद्धं शस्त्रयुद्धम् अस्त्रैः क्रियमाणमस्त्रयुद्धम् । यत् किल हस्ते धृत्वैव प्रहरणं भवति तच्छस्त्रं भवति यत् च दूरतो मुक्त्वा प्रहरणं भवति तदस्त्रमित्युच्यते । उक्तं चाऽन्यत्रेदमेव शस्त्राऽस्त्रभेदविषये यथा--

धृत्वा प्रहरणं शस्त्रं मुक्त्वा त्वस्त्रमितीरितम् ।

यष्टिगदाखड्गपरश्वधादीनि नानाविधानि । अस्त्राणि नलिकादीन्यपि बहुविधानि । भवतु । नियुद्धं खलु मल्लविद्याकुशलैः शिक्षितव्यम् ।

है । रथारोही रथारोही से, गजारोही गजारोही से, अश्वारोही अश्वारोही से युद्ध करता है, तो वह युद्ध आरूढरण होगा । पैदल पैदल से युद्ध करता हैं, तो वह पदातिरण होगा । जल और अन्तरिक्ष में प्रायः आरूढरण ही सम्भव हैं । जल में प्लवनरण कभी-कभी होता हैं । अन्तरिक्ष में भी पदातिरण कभी-कभी होता हैं । पुनः यह रण अन्य रूप में भी दो प्रकार का होता हैं—सामूहिक तथा वैयक्तिक । जहां एक समूह दूसरे समूह से युद्ध करता हैं, वह सामूहिकरण हैं । एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति से युद्ध करता हैं, वह वैयक्तिकीरण हैं । सभी प्रकार के रणों में कौशल की अपेक्षा रहती हैं । रण तीन प्रकार का होता हैं नियुद्ध, शस्त्रयुद्ध, अस्त्रयुद्ध ।

नियुद्ध तथा शस्त्रयुद्ध में शारीरिक बल की आवश्यकता अधिक होती हैं, जबकि अस्त्रयुद्ध में बुद्धिबल की अधिक आवश्यकता होती हैं, बाहुयुद्ध को नियुद्ध कहा गया हैं । शस्त्रों द्वारा किया जाने वाला युद्ध शस्त्रयुद्ध कहलाता हैं। अस्त्रों द्वारा किया जाने वाला युद्ध अस्त्रयुद्ध कहलाता है । जिसे हाथ में पकड़कर प्रहार किया जाता है, वह शस्त्र है, जिसे दूर से फैंककर प्रहार किया जाता है, वह अस्त्र है ।

शस्त्रों के अन्तर्गत यष्टि, गदा, खड्ग, परश्वादि नाना प्रकार के होते हैं। अस्त्रों के भी नलिका (बन्दूक-तोप) आदि अनेक भेद हैं । नियुद्ध की शिक्षा मल्लविद्या में कुशल लोग ही दे सकते हैं । यह मल्लविद्या भी दो प्रकार की है–मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध एवं यष्टियुद्ध का कौशल भी अनेक प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है । इसमें परस्पर मुष्टिप्रहार किया जाता है । बाहुयुद्ध परस्पर संश्लिष्ट

एतदपि द्विविधं भवति मुष्टियुद्धं बाहुयुद्धं चेति । तत्र मुष्टियुद्धस्याऽपि बहुविधं कौशलम् । अत्र परस्परं मुष्टिप्रहाराः क्रियन्ते । बाहुयुद्धं च परस्परं संश्लिष्य भूमौ नि ात्य क्रियते । अस्मिंस्तु बहवः प्रकारा आवर्तन-परिवर्तनादयः शस्त्रयुद्धेऽपि बहुविधं कौशलं भवति, अत्र हि नानाविध-पादप्रक्षेपाः नानाविधैर्मण्डलाकारादिभिर्भ्रमणैः परस्परेषु प्रहारा यष्टिगदापरशुखड्गादीनां क्रियन्ते स्वरक्षापूर्वकमन्यपातनमेव मुख्यं कौशलम् । अस्त्रयुद्धेऽपि बहुविधं कौशलं भवति अत्र च बाणकुन्तगु-लिकादयो दूरत एव लक्ष्यीकृत्य शत्रवे परस्परं प्रक्षिप्यन्ते । अत्र लक्ष्य-वेधनमेव परं कौशलम् । एवं सर्वमपि रणकौशलमध्यापयितुं=यथाविधि ग्राहयितुं विद्यालयः=अध्ययनस्थानं 'प्रयत्नेन' 'स्थापनीयः । अत्रप्रयत्न-पदेनेदं सूच्यते यत् सर्वमप्यावश्यकं वस्तुजातं तस्य सङ्ग्रहीतव्यमिति अयमभिप्रायः- तत्र हि लक्ष्यवेधः शिक्षणीयः काल्पनिकं युद्धं विधाय शिक्षितव्यम् । सूचीव्यूह—चक्रव्यूह–शकटव्यूह–मत्स्यव्यूहादिव्यूह-बन्धनबद्धानां च तेषां भेदनं, शत्रुपर्याक्रमणप्रकाराः स्वसैन्यस्याऽऽक्रमणतो

होकर, भूमि पर गिरा कर किया जाता है । इसमें अनेक प्रकार के आवर्तन-परिवर्तन (दांव-पेच) आदि होते हैं ।

शस्त्रयुद्ध में भी अनेक प्रकार के कौशल की आवश्यकता होती है । इसमें नाना प्रकार के पादप्रक्षेप, नाना प्रकार से मण्डलाकार और अर्धमण्डलाकार घूमकर यष्टि, गदा, परशु, खड्ग आदि की परस्पर प्रहार किया जाता है । इसमें स्वरक्षापूर्वक शत्रुपक्ष को गिराना ही मुख्य कौशल है । अस्त्रयुद्ध में भी अनेक प्रकार के कौशल की अपेक्षा है । इसमें बाण, कुन्त (भाला) और गोली, हथ-गोला आदि दूर से ही लक्ष्य करके शत्रु पर फेंके जाते हैं । इसमें लक्ष्यभेदन ही सबसे बडा कौशल है । इन सब रण विद्याओं को यथाविधि सिखाने हेतु महा-विद्यालय की स्थापना की जानी चाहिये । आवश्यक शस्त्रास्त्रों का संग्रह किया जाना चाहिए । लक्ष्यभेदन सिखाना चाहिए । काल्पनिक युद्ध की भी शिक्षा देनी चाहिए । चक्रव्यूह,श कटव्यूह, मत्स्यव्यह, आदि व्यूहबन्धन, बन्धनों का भेदन, शत्रु पर प्रहार के प्रकार, सैन्य पर आक्रमण, रक्षा, शस्त्रास्त्रप्रक्षेप प्रकार, अश्वगजरथनौका-संचालन, यान तथा वाहनों के निर्माण एवं रक्षा का ज्ञान, शस्त्रागार-अस्त्रागारों का स्थापन, शस्त्रमार्जनालय, मग्न शस्त्रों का सन्धानालय, शस्त्रों के लिए तैल, लेप आदि का संग्रहालय, आदि सभी आवश्यक वस्तुओं का महाविद्यालय में संग्रह होना चाहिए ।

रक्षाप्रकाराः, शस्त्रप्रहारप्रकाराः अस्त्रप्रक्षेपप्रकाराः, शिक्षितव्याः अश्व-गजरथनौकापोतविमानादीनां सञ्चालनं, नानाविधयानानां वाहनानां च विषये तत्र निर्माणौपयिकं क्षेमौपयिकं च स्थानं सविज्ञानं शिक्षणीयम्। एतदर्थमेव नानाविधानि शस्त्राणि नानाविधान्यस्त्राणि स्थापनीयानि, तदर्थं शस्त्रागारमस्त्रागारं च स्थापनीयम्। अथ शस्त्रमार्जनालयः, शस्त्र-निर्माणालयः, अस्त्रनिर्माणालयः, भग्नशस्त्रास्त्राणां पुनः सन्धानालयः, सर्वदा सन्नद्धतया स्थापनाय शस्त्रास्त्राणां नानाविधलेपतैलादीनां सङ्ग्र-हालयः, रणभूमिसमा कियत्परिमाणा भूमिः यत्र काल्पनिकम् युद्धं क्रियते, इत्यादि सर्वमप्यावश्यकं वस्तुजातं तत्र सङ्गृहीतव्यम्। एवम् सर्वविषयकमपि रणकौशलम् यथायथमध्यापयितुं महान् रणविद्यालयः स्थापनीयः अपूर्वविधिरयम्। राष्ट्रहितैषिभिरिति शेषः। विस्तृतमेतद् ग्रन्थान्तरेषु द्रष्टव्यम् ।।33।।

एवं रणकौशलशिक्षार्थं मण्डले मण्डले तद्विषयकस्य महतो विद्या-लयस्य स्थापनीयत्वं विधायाऽधुना तत्रत्यं कार्यमपि समासतो वर्णयन्नाह—

विधातव्याः प्रयत्नेन रणनीतिविशारदाः ।।
संरक्षितब्रह्मचर्या यावन्तो राष्ट्रबालकाः ।।34।।

[राष्ट्र के सम्पूर्ण बालकों को उनके ब्रह्मचर्य का पूर्ण संरक्षण करते हुए प्रयत्न से रणनीति में विशारद बनाया जाए ।।34।।]

विधातव्या इति। यावन्तः–राष्ट्रबालकाः–संरक्षितब्रह्मचर्याः–प्रयत्नेन–रणनीति विशारदाः–विधातव्याः। इति पदयोजनिका।

'यावन्तः'=यावत् परिमाणाः 'राष्ट्रबालकाः'–राष्ट्रस्य=पूर्वोक्त-लक्षणलक्षितस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः 'बालकाः=बालाः 'संर-

---

महाविद्यालय की स्थापना के पश्चात् वहां की कार्य-शैली का भी संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है :—

कारिका–34

राष्ट्रहित के चिन्तक स्थविरों की अपेक्षा अल्पवयस्कों को बालक कहा जाता है। वृद्ध हों, चाहे युवक हों, राष्ट्र में वे बालक के रूप में ही उत्पन्न हुए है। राष्ट्र में बहुत बालक होते हैं, परन्तु उन सभी को राष्ट्र-बालक नहीं कहते हैं। इस राष्ट्र में राष्ट्रान्तर (दूसरे राष्ट्र के) बालक भी रहते हैं। अतः राष्ट्र-बालक ही ग्रहण किये जाने चाहिए।

क्षितब्रह्मचर्याः-सम्यक् -सर्वप्रकारैः रक्षितं-पालितं ब्रह्मचर्यं पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं येषां ते तादृशाः 'प्रयत्नेन'=प्रकृष्टोद्योगेन 'रणनीतिविशारदाः'-रणस्य-सङ्ग्रामस्य नीतिः ज्ञानविज्ञाने तस्यां विशारदाः-प्रवीणाः यथा स्युस्तथा विधातव्याः-कार्याः। इति। अस्येदमाकूतम् -

यावत्-सम्पूर्णं निःशेषमिति भावः, परिमाणमस्ति येषां ते यावन्तः तदुक्तममरसिंहेन—

यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे।

अत्र यावत्पदेन वर्णजात्यादिविवेको नाऽत्र कोऽपीति भावः। अथ के ते यावन्त इत्याह राष्ट्रबालका इति। राष्ट्रहितचिन्तकानां स्थविराणामपेक्षयाऽल्पवयस्का इति बालका भवन्ति। अथ वृद्धा वा भवन्तु युवानो वा राष्ट्रोत्पन्नतया बालकत्वमेव राष्ट्रियाणां भवतीति बालका इत्युक्तम्। अत्र राष्ट्रस्य ये बालकाः इत्येवं व्याख्येयम्। राष्ट्रे तावद्बहुविधा बालका भवन्ति परं न सर्वे राष्ट्रबालकाः। राष्ट्रान्तरबालका अपि निवसन्ति तेषु राष्ट्रबालका एव ग्राह्याः इति नियमविधिरयम्। राष्ट्रस्य बालकाः राष्ट्रसम्बन्धिनो बालकाः इति यावत्। सम्बन्धश्चतुर्विधः पूर्वमुक्तः। तेन चतुर्विधेनाऽपि सम्ब्रन्धेन ये सम्बन्धिनस्ते सर्वेऽपि विधातव्याः। अथेदमप्यवगन्तव्यम्—यावन्तः=यावत्परिमाणा राष्ट्रबालकाः ये तावन्न राष्ट्रसम्बन्धिनस्ते न राष्ष्ट्रबालका इति तेषामर्थे नाऽयं नियमः। अयं भावः-राष्ट्रबालकाः सर्वेऽपि प्रयत्नेन रणनीतिविशारदाः कार्याः। राष्ट्रस्योत्थानपतने हि राष्ट्रियानेवाऽवलम्ब्य भवतः। ततस्तेऽवश्यमेव रणनीतिविशारदाः कर्त्तव्याः। अथ च राष्ट्रबालकानां तदितरेषां च रणशिक्षाप्राप्तौ यावन्त इति पदेन निर्धार्यते राष्ट्रबालका एवेति।

राष्ट्र के बालकों को प्रयत्नपूर्वक रणनीतिविशारद बनाना चाहिए। राष्ट्र का उत्थान-पतन राष्ट्रियों को लेकर ही होता है। अतः उन्हें रणनीति में निपुण बनाना चाहिए। राष्ट्रबालक से अतिरिक्त बालकों के विषय में राष्ट्र का लाभ-हानि देखकर कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था पर विचार करना चाहिए। राष्ट्र बालक के विषय में तो उसका कर्तव्य रूप में नियमन किया जाता है। उन बालकों को ब्रह्मचर्य की रक्षा करने की भी शिक्षा देनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की रक्षा के विना कैसा भी बल प्राप्त नहीं किया जा सकता है—न बुद्धिबल, न शारीरिक बल, जैसे विद्याध्ययन के लिए बुद्धिबल की विशेष आवश्यकता होती है, उसी प्रकार रणकौशल के लिए शारीरिक बल की विशेष अपेक्षा होती है।

तेनाऽन्ये उपेक्ष्यन्ते। तेषां राष्ट्रोत्थानपतनहेतुत्वाऽभावात्। स्वार्थे वाऽल्पे वा प्रत्ययः। राष्ट्रबालकाऽतिरिक्तविषये विधिनिषेधाभावो राष्ट्रबालकाऽतिरिक्तबालकानां विषये राष्ट्रस्य लाभाऽलाभौ वीक्ष्य कार्याऽकार्यव्यवस्था चिन्तनीयेति व्यनक्ति। राष्ट्रबालकविषये तावदिदं कर्तव्यतया नियम्यते। अत एवैतदकरणे राष्ट्रहितैषिणां पातित्यं स्मर्यते। अथ च 'संरक्षितब्रह्मचर्याः 'सम्यक् सर्वतः रक्षितं – पालितं ब्रह्मचर्यं त्रिविधमपि स्थूलसूक्ष्मकारणभेदभिन्नं पूर्वोक्तं येषां ते। अयं भावः—

ब्रह्मचर्य-संरक्षणमन्तरेण बल कीदृगपि न प्राप्तुं पार्यते बुद्धिबलं वा शरीरबलं वा। विद्याध्ययनाय यथा बुद्धिबलस्याऽऽकाङ्क्षा विशेषतः, तथैव रणकौशलप्राप्तये च शरीरबलस्याऽपेक्षा विशेषतः विद्याध्ययनेनाऽनुग्रहप्रवणत्वं प्राप्यते रणकौशलप्राप्त्या च निग्रहप्रवणत्वं प्राप्यते। केवलं बुद्धिबलं न किमपि कर्तुं प्रभवति, अतो रणोपयोगिशरीरबलसहितमेव तत्सर्वत्राऽपि विजयमाप्नोति। उक्तं च तथा मनुनाऽपि—

नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ॥
ब्रह्मक्षत्रेण सम्पृक्तमिह चाऽमुत्र वर्धते ॥ (मनु. 9.322)

अतो रणकौशलं चाऽतीवाऽवश्यकम्। तच्च शरीरबलं विशेषतोऽपेक्षते। शरीरबलं च न ब्रह्मचर्यमन्तरा कथमपि सुसाध्यमिति समालोच्य 'संरक्षितब्रह्मचर्या' इत्युक्तम्। संरक्षणे यद्यपि स्वतन्त्रा बालका एव तथाऽपि तेषां बालकत्वबोधनादाचार्येण विधातव्या इत्युक्तम्। अयमभिप्रायः—माणवकोऽग्नौ हस्तं क्षिपन् दुःखमवश्यं तद्दाहजन्यमनुभवति, परन्तु स माणवक एवेति क्षमायोग्यः परतन्त्र इति नाऽपि कीर्तिभाजनं तादृक्। एवमेव ब्रह्मचर्यसंरक्षणेऽपि ते अज्ञा इति तेषामाहारविहारादिसर्वमपि राष्ट्रहितैषिभिः सुचरितवृद्धैर्हिताऽहिततया पर्या-

---

विद्या के अध्ययन से अनुग्रह-प्रवणता प्राप्त होती है और रण-कौशल से निग्रह-प्रवणता प्राप्त होती है। केवल बुद्धि-बल कुछ नहीं कर सकता, अतः रणोपयोगी शरीर-बल हितकर होता है। इससे सर्वत्र विजय प्राप्त होती है। अतः रणकौशल अतीव आवश्यक है। उसे शरीर-बल की अपेक्षा होती है। शरीरबल ब्रह्मचर्य के बिना किसी प्रकार सुसाध्य नहीं है, ऐसा विचार कर कारिका में 'संरक्षित ब्रह्मचर्याः' कहा गया है।

बालक जब अग्नि में हाथ डालता है, तब उसको जलने का दुःख अवश्य होता है, किन्तु वह बालक तो क्षमायोग्य होता है तथा परतन्त्र होता है। इसी

लोच्य स्थापनीयं येन ब्रह्मचर्यं राष्ट्रबालकानां संरक्षितं भवेत्। यावन्त इति तु मध्यमणिन्यायेनाऽत्राऽपि सम्बन्धनीयम्। तेन सर्वेऽपि संरक्षित-ब्रह्मचर्या इति लभ्यते। तेन ब्रह्मचर्यसंरक्षणे न वर्णजात्यादिनियम इति ध्वन्यते। एवं च ब्रह्चर्यसंरक्षणाऽभावे दण्डभागिनो राष्ट्रचालका एवेत्यवगम्यते। ननु विद्याध्ययने यथा स्वतन्त्रत्वं बालकानामुक्तं तथा रणकौशलप्राप्तौ कथं स्वातन्त्र्यं नोक्तमिति चेत् सत्यमेतत् श्रूयतामत्र समाधानम्—प्रायः खल्वधीतविद्या ज्ञानशक्ति विकासाऽधिक्यात् क्रिया-शक्तिमुपेक्षन्तो दृश्यन्ते। अयं भावः केचिद्विद्याध्ययनपरायणास्तामेवाऽधि-कतया कल्याणकारिणीं मन्यमाना उपेक्षन्ते रणम्, केचिच्च द्विषन्ति तं तद-नार्यकर्मेति मन्यमानाः केभ्यश्चित्तु तद्रोचत एव नाऽध्ययनाऽध्यापनपराय-णेभ्य इति तेषामर्थे इदमुक्तमाचार्येण यत्ते 'बालकाः अज्ञानिनः, अतस्ते न बुद्ध्यन्त एतत्, तस्मात्ते रभसादपि 'रणनीतिविशारदाः' कार्या एव राष्ट्रहितैषिभिः इति। अत एव 'अयत्नतः' इत्युक्तम्। येन केनाऽपि समुचितेनोपायेनेति तद्भावः। किं च रणे तावत्प्रवृतिरनार्याणां स्वा-भाविकी, आर्याणां च न तथा, आर्याणां ततो निर्बलानां निरागसां च रक्षण एव स्वाभाविकी प्रवृत्तिः। अनार्याणां च शासनं दुःखकरमिति जिहास्यत आर्येऽनार्येऽपि आकाङ्क्षन्ते च सुखकरं शासनमार्या अनार्याश्च। सुखकरं च शासनमार्याणामेव सम्भवति भद्रनीतिप्रधानानाम्। न पुनर-नार्याणामभद्रनीतिप्रधानानाम्। अतोऽनार्यरणप्रवृत्तेर्निवर्तनाय, आर्यैरण प्रवृत्तेश्च स्थापनायाऽऽदिश्यन्ते राष्ट्रहितैषिणा इति। एवं च रणकौशल-प्राप्त्यै बालकानां स्वातन्त्र्यं नोपपादितम्। एतेनेदमपि ध्वन्यते यदनार्याः स्वतन्त्राश्चेद्भवेयुः समस्तलोकहानिं विदध्युः। अथ चेदार्याः स्वतन्त्रा भवेयुः समस्तानामपि लोकानां कल्याणमाचरेयुरिति। अथ च 'प्रयत्नेन' स्वभा-वेनाऽनार्यानार्यस्तारतम्यमालोच्य सामदानभेददण्डेतिचतुर्विधेनाऽप्युपायेन

प्रकार बालक ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में भी मूर्ख ही होते हैं अर्थात् उन्हें ज्ञान नहीं होता कि ब्रह्मचर्य की रक्षा कैसे की जाय ?

राष्ट्र हितैषी, चरित्रशील वृद्धों के द्वारा हित और अहित का विचार करते हुये बालकों के आहारविहार की ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि उनके ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सके। "यावन्तः" इस पद का मध्यमणिन्याय से यहां भी सम्बन्ध स्थापित कर लेना चाहिए। अर्थात् सभी संरक्षितब्रह्मचर्य होवे यह अर्थ स्पष्ट होता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में वर्ण, जाति, धर्मादि

विनीय तथा विधेयाः । आर्या अपि यथोचितप्रयत्नेन तथा विधेयाः । रणनीतिविशारदकरणकार्येऽपि न वर्णजात्यादिविवेकः कश्चित् । इदमपि बोध्यमत्र –आबाल्यादारभ्यैवोचिता रणनीतेरपि शिक्षा देया विद्याध्ययनसमकालमेवेति ध्वन्यते बालका इति कप्रत्ययघटितेन पदेन । अथवेवं व्याख्येयम्– कुत्सिता बाला बालकाः "कुत्सिते" (पा. सू. 5.3.74.) इति कप्रत्ययः । ते राष्ट्रस्येति कृत्वा रणनीतिविशारदाः कर्त्तव्याः । यावन्तः प्रयत्नश्चेति संरक्षितब्रह्मचर्याश्च । अयं भावः - केचित् संस्कारयुता उत्पद्यन्ते ते हि न विद्याध्ययने मनो नियोजयितुं पारयन्ति तेऽनार्या मा भवेयुरिति 'रणनीतिविशारदाः' प्रयत्नेन समुच्चितोद्योगेन विधातव्याः । अथ च संरक्षितब्रह्मचर्याः कार्याः कुत्सितानां पारतन्त्र्यमेव श्रेयस्करमिति भावः । अत एव अध्ययने 'बाला' इत्येवोपात्तं न बालका इति । किं च 'यावन्तः,' सर्वेऽपि कुत्सिता इति भावः । रणः किल तेषां स्वाभाविकस्तत्र वैशारद्यं च स्वल्पैरेव प्रयत्नैः सुप्राप्यमिति तथा कार्यास्तेन च त आर्यत्वमपि प्राप्नुयुः कुत्सितत्वं च त्यजेयुः इति बोध्यते । अथ विषयेऽयमपूर्वो विधिः । अथ विधेयं वर्णनीयम् 'रणनीतिविशारदा इति । रणस्य=युद्धस्य नीतिः – नयः तस्यां विशारदा—ज्ञानविज्ञानवन्तः । इदमत्र बोध्यम् –रणस्य किल नीतिर्द्विविधा सुनीतिः कुनीतिश्चेति । सुनीतिरार्यनीतिः, कुनीतिश्चाऽनार्यनीतिः । सुनीतिरपि विविधा स्वभावप्रधाना कर्त्तव्यप्रधाना च विशेषत इदं समवधानीयमत्र – राष्ट्रवादिनो ननु सर्वतोभद्रनीतिप्रधानाः । तत एव खलु ते द्वैत-प्रपञ्चेऽत्र सर्वत्र परस्परं साम्येन सम्भावनमात्रं निश्श्रेयसोपायं समामनन्ति । इदमेवालक्ष्य गीतासूपदिष्टमास्ते भगवता—

का कोई सम्बन्ध नहीं है । ब्रह्मचर्य के संरक्षण के अभाव में राष्ट्र-चालकों को दण्ड भी देना चाहिए । प्रश्न है कि विद्याध्ययन में बालकों को जैसा स्वतन्त्र बतलाया गया है, वैसा रणकौशल की प्राप्ति में क्यों नहीं बताया गया है । इसका समाधान यह है कि कुछ छात्र विद्याध्ययन करके, ज्ञान शक्ति के विकसित हो जाने पर रणविद्या आदि की उपेक्षा करने लग जाते हैं । कुछ उसे अनार्यकर्म मानकर द्वेष करते हैं । कुछ अध्ययन-अध्यापन में इतने संलग्न हो जाते हैं कि उन्हें यह रुचिकर नहीं लगता । ऐसे बालकों को बलात् रण-शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए । अनार्यों में रण-प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, आर्यों में नहीं । आर्यों में तो निर्बल और निरपराध व्यक्तियों की

देवान् भावयताऽनेन ते देवाः भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (गी. 3.11)
इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ–भाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः । (गी. 3.12)

अत्र प्रथमः श्लोको राष्ट्रवादपरः । द्वितीयश्च राज्यवादपरः । यद्यपि राज्यवादो न भोगवादप्रधानः तथाऽपि राष्ट्रवाद इत सर्वतोभद्रनयवान्नेति तथोक्तिः । वस्तुतस्तु राज्यवादोऽपि भोगवाद एव क्रियाप्राधान्यात् एकतोभद्रनीतिप्राधान्याच्च । भवतु सर्वमिदं यथाऽवसरं स्फुटीकरिष्यते । अयं भावः स्वस्वसंरक्षणं परस्वत्वाऽनाक्रमणं चार्याणां नीतिः, सत्ययुगे ब्राह्मणप्रधाने । स्वस्वत्वसंरक्षणायैव पराऽऽक्रमणं द्वितीया आर्यनीतिस्त्रेतायुगे क्षत्रियप्रधाने । इयमेव क्रमेण सामनीतिदान नीतिरिति, आर्यपुन्नीतिः, आर्यस्त्रीनीतिरिति, विज्ञाननीतिर्ज्ञाननीतिरिति, ब्रह्मनीतिः क्षत्रनीतिरिति, आर्यराष्ट्रनीतिरार्यराज्यनीतिरिति सङ्केतिताऽऽचार्येणैव स्वोपज्ञायां क्रान्तिकौमुद्याम् । अथ कुनीतिरपि द्विविधा स्वस्वसंरक्षणं परस्वत्वाऽऽक्रमणं च स्वस्वत्वेन हस्तयितुं द्वापरयुगेऽनार्याणां नीतिः वैश्यप्रधाने, स्वस्वत्वं विनाश्याऽपि परस्वत्वाऽपहस्तनं कलियुगेऽनार्याणां नीतिः शूद्रप्रधाने । इयमेव द्विविधा क्रमेण एकतोऽभद्रनीतिः सर्वतोऽभद्रनीतिरिति भेदनीतिर्दण्डनीतिरिति, अनार्यपुन्नीतिरनार्यस्त्रीनीतिरिति, क्रियानीतिर्विक्रियानीतिरिति, वैश्यनीतिः शूद्रनीतिरिति, अनार्यराष्ट्रनीतिरनार्यराज्यनीतिरिति सङ्घनीतिर्व्यक्तिनीतिरिति सङ्केतिता क्रान्तिकौमुद्याम् । स्वभावप्रधानां नीतिमेव सर्वतोऽभद्रनीतिमाचक्षते कर्तव्यप्रधानां च सुनीतिमेकतोभद्रनीतिमिति । अथ पुनरियं सर्वविधाऽपि नीतिः यथायथ-

---

रक्षा-प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है । अनार्यों का शासन दुःखकर होता हैं, अतः आर्य और अनार्य दोनों के लिए त्याज्य होता हैं । आर्य और अनार्य दोनों सुखकर शासन की आकांक्षा करते हैं । सुखकर शासन भद्रनीति-प्रधान आर्यों का ही होता है, न कि अभद्रनीति प्रधान अनार्यों का ।

अतः अनार्य रण-प्रवृत्ति को हटाने और आर्य रण-प्रवृत्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रहितैषियों को आदेश दिया गया हैं, इस प्रकार रण-कौशल की प्राप्ति के लिए बालकों का स्वातन्त्र्य नहीं बतलाया गया है । इससे यह ध्वनित होता है कि यदि अनार्य स्वतन्त्र हो जायेगें, तो लोकहानि करेंगे । यदि आर्य स्वतन्त्र होंगे, तो समस्त लोकों का कल्याण करेंगे । प्रयत्न पूर्वक से तात्पर्य

मुपयोज्या सहसाऽविवेकेन न किमपि कर्म कर्तव्यम् । सर्वमपि पारिणामिकफलं प्रथममेव विविच्य कर्तव्यम् । उक्तमपि भारविणा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ।। (कि. 2.30)

अनार्यानार्यीकर्तु मार्यांश्चाऽनार्यपीडनाद्रक्षितुं चतुर्विधाऽपि नीतिर्वर्तनीया । आर्यपुंप्रकृतिकान् साम्ना, आर्यस्त्रीप्रकृतिकान् दानेन, अनार्यपुंप्रकृतिकान् भेदेन अनार्यस्त्रीप्रकृतिकान् दण्डेन वशयेत् । अथ च रणनीतिः—युद्धनीतिः, ज्ञानेन विज्ञानेन च भावनीया । अयं भावः आर्यप्रकृतिकेषु तावद्रण एव न सम्भवति । अनार्य—प्रकृतिकेष्वेव रणसम्भवः । तत्र शत्रुर्यदि स्वाऽपेक्षया बलवांस्तदा सन्धिः कार्यः स चेदाक्रामकः, परं सन्धिरपि स्वात्मानं सम्पूर्णरूपेण बलिन वीक्ष्य भेदयित्वा शत्रुराक्रामितव्यः । अथ च शत्रुस्तदीयच्छिद्राणि वीक्ष्य परस्परं भेदनीत्या योद्धव्यः । युद्धयन्तं च परस्परं पक्षमैकस्मै प्राकटयेन साहाय्यं दत्वा पक्षान्तराय च गुप्तभावेन साहाय्यं दत्त्वा स्वेष्टं साधयेत् परमेतत्सर्वमनार्याणां वशीकरणायैव विधेयम् । यथोक्तं भारविणा—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गा निशिता इवेषवः ।।
(कि. 1.30)

अत्रेदं बोध्यम्-परश्चेत् स्वाऽपेक्षया बलवांस्तदा सन्धिः कार्यः । अथ चेत्समानस्तदा विग्रहः कार्यः । अथ दुर्बलश्चेत्पर आक्रामितव्यः, आक्रमणे हानिसम्भावना चेद्देशकालादीनां वाऽनुकूल्यं नाऽस्ति चेत् आसनं कार्यम् । सारांशस्तु सर्वमपीदं शिक्षणीयम् । अथ च युद्धाऽवसरे सेनासञ्चालनादि

यह है कि स्वभाव से आर्य और अनार्य के तारतम्य का विचार करके साम, दान, भेद, दण्ड इन चारों उपायों से विनत बनाना चाहिए । रणनीति में निपुण करने के कर्म में वर्णजात्यादि का कोई विचार नहीं है । अतः विद्याध्ययन के साथ साथ बालकों को बाल्यावस्था से ही रणविद्या की शिक्षा भी प्रदानकी जानी चाहिए । और प्रयत्न पूर्वक बह्मचर्य की भी रक्षा करनी चाहिए । कुछ बालक माता-पिता के प्रारब्ध से ही कुसंस्कार वाले हो जाते हैं, वे विद्याध्ययन में मन नहीं लगा पाते हैं । वे अनार्य न बन जायं-एतदर्थ उन्हें रणविद्या सिखायी जानी चाहिए ।

कार्याणि तत्तच्छस्त्रास्त्रादि युद्धकौशलं सर्वमपि रणनीतिः। पूर्वस्यां कारिकायां बहुविधं युद्धकौशलं वर्णितम्। तत्सर्वमपि ज्ञेयम् विज्ञेयं च, येन तत्र वैशारद्यं भवेत्। अथ च यदा शत्रुं कपटिनं पश्येत्तदा एकतः सन्धिमपरतश्च विग्रहं कुर्यात्। बलं अतीवप्रयतुं शत्रुमाश्रयेत। परमेतत्सर्वमुपयोगेनैव सम्यग् ज्ञायते। तात्पर्यं त्विदमेव यत् सर्वाऽपि रणनीतिः सम्यगध्याप्या स्वराष्ट्रियेभ्यः सर्वेऽभ्योऽपि। 'विशारद' इति पदेन तत्तत्क्रियायां प्रावीण्य बोध्यते। पूर्वकारिकोक्तेषु नानाविधेषु युद्धेषु सर्वेऽपि राष्ट्रबालकाः प्रवीणाः कार्याः। इदं तु रहस्यम्—रणे हि सेना-सन्निवेशः, शिविर-रचना, व्यूहरचना, परेष्वाक्रमणप्रकाशः, परव्यूहभेदनम्, भिन्नस्वव्यूहसंरक्षणम्, क्षतानां योधानां परिचर्या, सम्प्राप्तप्रदेशस्य व्यवस्थापनम्। नानाविधशस्त्रनिर्माणज्ञानं, तेषां परिचालनज्ञानम्, नानाविधाऽस्त्रनिर्माणज्ञानं, तेषां प्रक्षेपज्ञानं, जलस्थला-

---

रणनीति दो प्रकार की होती है—सुनीति और कुनीति। सुनीति आर्य नीति हैं और कुनीति अनार्य नीति है। सुनीति भी दो प्रकार की होती है—स्वभाव-प्रधान और कर्तव्य-प्रधान। राष्ट्रवादी सर्वतोभद्रनीति प्रधान होते है।

ब्राह्मण प्रधान सत्य युग में आर्य लोग अपना संरक्षण करते हुए भी दूसरों की स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं करते हैं। क्षत्रिय प्रधान त्रेता युग में अपने स्वत्व की रक्षा के लिए दूसरों पर आक्रमण करते हैं। यही क्रम से सामनीति, दाननीति, आर्यपुन्नीति, आर्य स्त्रीनीति, विज्ञाननीति-ज्ञाननीति, ब्रह्मनीति-क्षत्रनीति, और आर्यराष्ट्रनीति-आर्यराज्यनीति हैं– ऐसा आचार्य ने अपनी 'क्रान्ति-कौमुदी' में संकेत किया है। इसी प्रकार कुनीति भी दो प्रकार की होती है। अपने स्वत्व का संरक्षण और परस्वत्व पर आक्रमण यह वैश्यप्रधान द्वापरयुग में अनार्यो की नीति है। अपने स्वत्व का नाश करके भी परस्वत्व का अपहस्तन शूद्रप्रधान कलियुग में अनार्यो की नीति है। यही दो प्रकार से एकतोऽभद्रनीति-सर्वतोऽभद्रनीति, भेदनीति-दण्डनीति, अनार्यपुन्नी-अनार्यस्त्रीनीति, क्रियानीति-विक्रियानीति, वैश्यनीति-शूद्रनीति, अनार्य राष्ट्रनीति-अनार्य राजनीति, संघनीति-व्यक्तिनीति हैं जैसा आचार्य ने क्रान्तिकौमुदी में संङ्केत किया है।

स्वभाव प्रधान नीति को ही सर्वतोभद्रनीति और कर्तव्य प्रधान सुनीति को एकतोभद्रनीति कहते हैं। सभी प्रकार की नीति का उपयोग यथोचित करना

काशयानानां निर्माणं, तेषां सञ्चालनं, स्वराष्ट्रियसंरक्षणार्थं नानाविध-दुर्ग-निर्माणज्ञानं, समासतस्तु स्थलजलाऽऽकाशरणोपयोगि समस्त ज्ञानं सर्वमपि यथाविधि शिक्षणीयं तेभ्यो यथा च ते रणनीतौ विशारदा भवन्ति तथा विधातव्यास्ते राष्ट्रहितैषिभिः रणकौशलं पूर्वस्याः कारिकाया भाष्ये व्याख्यातं तत्सर्वमपि विज्ञाप्यते तत्र विशारदा विधातव्या इति ॥34॥

एवं द्विविधाऽपि शिक्षा निरूपिता । राष्ट्रस्वातन्त्र्यप्राप्तिकरणी बौद्धिकी शारीरिकी च शिक्षा शिक्षालयादिस्थापनपूर्वकमुक्ता । अथ तस्याः शिक्षायाः परिणामः समासतः कीदृक्कार्य इति निरूपयन्नाह—

चाहिए, सहसा अविवेक से नहीं । परिणामगत फल का पहले ही विचार कर तब कार्य करना चाहिए । भारवि ने भी लिखा है कि कोई कार्य सहसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविवेक समस्त विपत्तियों का स्थान होता है । विचार कर कार्य करने वाले का वरण गुणलुब्ध सम्पत्तियां स्वयं ही करती है ।

अनार्यों को आर्य बनाने के लिए और आर्यों को अनार्यों की पीडा से बचाने के लिए चारों प्रकार की नीति का व्यवहार करना चाहिए ।

पुरुषप्रकृति वाले आर्यों को सामनीति से आर्यस्त्रीप्रकृति वाले को दान से, अनार्यपुरुष प्रकृति वाले को भेद से, अनार्यस्त्री प्रकृति वाले को दण्डनीति से वश में करना चाहिए । आर्य प्रवृत्ति वालों में रण की सम्भावना नहीं होती । अनार्य प्रकृति बालों में ही रण की सम्भावना होती है । यदि शत्रु हमसे बलवान् है, तो हमें उससे सन्धि कर लेनी चाहिए । यदि शत्रु समान बलवाला है, तो उससे विग्रह करना चाहिए । यदि शत्रु दुर्बल है, तो उस पर आक्रमण कर देना चाहिए । आक्रमण में हानि की संभावना हो, तो आसन करना चाहिए । बालकों को इन सब की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए ।

युद्ध कौशल ही रणनीति है । इसमें सेना सन्निवेश, शिविररचना, ब्यूह-रचना, शत्रु पर आक्रमण के प्रकार, शत्रु-ब्यूह का भेदन, अपने ब्यूह का संरक्षण, आहत योद्धाओं की सेवा, जीते प्रदेश की व्यवस्था, अनेक प्रकार के शस्त्रों के निर्माण और उनके चलाने का ज्ञान, अनेक प्रकार के अस्त्रों के निर्माण और उनके प्रक्षेप का ज्ञान, जल स्थल और आकाशचारी यानों का निर्माण और संचालन, अपने राष्ट्रियों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के दुर्गों के निर्माण का ज्ञान तथा संक्षेप में स्थल-जल-आकाशवर्ती युद्धोपयोगी समस्त ज्ञान आदि विधिपूर्वक इस प्रकार सिखाना चाहिए कि वे रणनीति में निपुण हो जाय । बालकों को जब इस सब की शिक्षा दी जायेगी, तो वे राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होंगे ।

शिक्षा का परिणाम कैसा होना चाहिए—इसका निरूपण करते हैं :—

शक्तित्रयवतः शान्तान् विनीतान्समदर्शिनः ।।
अपि स्वरक्तदानेन निजराष्ट्रस्य पोषकान् ।।35।।
राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाकुशलानर्थकोविदान् ।।
राष्ट्रकल्याणमिच्छन्तो रचेयू राष्ट्रबालकान् ।।36।।

[राष्ट्र का कल्याण करने की इच्छा करने वाले नेता लोग राष्ट्र बालकों को तीनों शक्तियों से सम्पन्न, शान्त, नम्र, नीति में विशेष निपुण, समदर्शी, अपना रुधिर देकर भी राष्ट्र का पोषण करने वाले, राष्ट्रभाषा तथा धर्म्य भाषा कुशल तथा अर्थकोविद बनायें ।।35–36।।]

शक्तित्रयवत इति राष्ट्रकल्याणं – इच्छन्तः–राष्ट्रबालकान् – शक्तित्रयवतः—शान्तान्—विनीतान्—समदर्शिनः—स्वरक्तदानेन—अपि—निजराष्ट्रस्य पोषकान् – राष्ट्रभापा-धर्म्यभाषाकुशलान्—अर्थकोविदान्, रचेयुः । इति पदयोजनिका ।

'राष्ट्रकल्याणम्—राष्ट्रं—पूर्वोक्तलक्षणलक्षितं तस्य कल्याण–मङ्गलं 'इच्छन्तः' – आशंसमानाः 'पुरुषाः' इति शेषः । राष्ट्रबालकान्'—राष्ट्रस्य—पूर्वोक्तलक्षणस्य चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनः बालकान्—बालान् शक्तित्रयवतः'— शक्तीनां समस्तकल्याणनिदानभूतसामर्थ्यानां त्रयं—त्रिकं तत् विद्यते येषां ते तान् 'शान्तान्'—शान्तं—शान्तिः अस्ति येषां ते शान्ताः तान् 'विनीताम्'—विनीतं—नम्रता अस्ति येषां

कारिका 35–36—

समस्त कल्याण की निदान-भूत सामर्थ्य को शक्ति कहा जाता है । सम्पूर्ण अभ्युदय और कल्याण के लिए पूर्णत्व आवश्यक है । पूर्णत्व प्राप्त होने पर ही व्यक्ति "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्" (कुछ करने, न करने और अन्यथा करने) में समर्थ होता है । परमपुरुषार्थ मोक्ष है । मोक्ष भी दो प्रकार का है— पारमार्थिक एवं व्यावहारिक । यहां परमार्थिक मोक्ष का विषय नहीं है । व्यावहारिक मोक्ष के सन्दर्भ में ही कुछ चर्चा की जा रही है ।

व्यावहारिक मोक्ष का साधन स्वतन्त्र स्वराष्ट्र ही है । अतः सर्वप्रथम स्वराष्ट्र को स्वतन्त्र किया जाना चहिए । स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिए ही बालक बालिकाओं को विविध प्रकार की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए । अशक्त की प्रतीति नहीं हो सकती । अतः बालकों का सशक्तिक होना आवश्यक है ।

ते तान् उभयत्राऽपि "अर्शआदिभ्योऽच्" (पा. सू. 5.2.127.) इत्यनेनाच् प्रत्ययो मत्वर्थे । समर्दाशिनः'—समं परिपूर्णं द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा. सू. 3.2.78.) इति णिनिः । 'स्वरक्तदानेन'—स्वस्य=आत्मनः आत्मीयस्य च रक्तं=शोणितं तस्य दानं—अर्पणं तेन 'अपि समुच्चयेऽव्ययमेतत् । 'निजराष्ट्रस्य'—निज चतुर्विधसम्बन्धेन स्वकीयम् राष्ट्रं—पूर्वलक्षणलक्षित तस्य 'पोषकान्'—पुष्टिकारिणः 'राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषा-कुशलान्—राष्ट्रभाषा व्याख्यातचरी धर्म्यभाषाऽपि पूर्वं व्याख्याता तयोर्द्वन्द्वः । तत्र कुशलान् प्रवीणान् 'अर्थकोविदान्' अर्थः द्रव्यं तस्मिन् तद्योगक्षेमादाविति यावत् कोविदाः—नदीष्णाः तान् एतादृशान् 'रचेयुः'—सम्पादयेयुः । इति ।

अत्राऽयमभिप्रायः—समस्तविधायाऽभ्युदयाय निःश्रेयसाय च पूर्णत्वमावश्यकम् पूर्णत्वं च कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यम् अनेनेव प्राप्यते । अयमेव च परमः पुरुषार्थो मोक्ष इत्युच्यते । अथाऽयं मोक्षोऽपि द्विविधः पारमार्थिको व्यावहारिकश्चेति । पारमार्थिकमोक्षस्य तु नाऽत्र विषयः तमधिकृत्य निरूपणमात्मविलास-परमस्तोत्र-महानुभवशक्तिस्तवादिष्वाचार्येणैव विहितम् । इदं पुनर्व्यावहारिकमोक्षप्रतिपादनपरं शास्त्रमित्युक्तं सर्वं "चतुर्णाम्" (रा. 1) इति कारिकाया भाष्ये । अस्तु

जैसा कि किसी ने किसी के विषय में कहा कि क्या यह पुत्रोत्पादन में असमर्थ हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसमें पुत्रोत्पादन के लायक शक्ति नहीं है । अतः इसमें ऐसी शक्ति विकसित की जाय, जिससे यह पुत्र को उत्पन्न कर सके । वह शक्ति अतिसूक्ष्म है और विकसित अन्य शक्तियों से अभिभूत हैं । अतः पुत्रोत्पत्ति नहीं दिखलाई पड़ती । शक्ति के बिना कुछ भी सम्भव नही हैं । कहा भी है कि शक्ति के बिना सूक्ष्म भूत शिव में नामधाम कुछ नहीं होता । यह सम्पूर्ण विश्व शक्ति से ओतप्रोत है । इसमें जो अनुयोगी रूप है, वह शक्तिमान् शिव है । जो प्रतियोगी रूप है, वह शक्तिरूप शक्ति है । धर्म, गुण, स्वभाव ये शक्ति के ही पर्याय हैं । शक्तिमान्, धर्मी, गुणी और स्वः भी पर्याय है । एक ही वस्तु का यह द्विविध रूप है । यह रूपद्वय कभी भी पृथक् नहीं होता । निष्कर्ष यही है कि शक्ति के बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है । यह अकेली भी शक्ति समस्त कल्याण की निदान स्वरूपा है, नैसर्गिकी है और स्वरसप्रवहणशील है । सात्त्विकी राजसी, तामसी व्यवहार में यह तीन प्रकार की शक्ति है । त्रिमूर्ति के रूप में स्थित होने से ही इसे 'त्रिपुरा' कहा गया है ।

व्यावहारिकमोक्षसाधनं च स्वराष्ट्रं तदपि स्वतन्त्रमेवेति निरूपितचरम् । अतः सर्वादौ स्वराष्ट्रं स्वतन्त्रं कार्यमित्यपि निरूपितमेव । स्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्ये च चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धिनो राष्ट्रिया एव निदानमित्यपि निर्वर्णितम् । अत एव स्वराष्ट्रस्वातन्त्र्यप्राप्तये राष्ट्रियाणां बुद्धिबल-सम्पादनाय शरीरबलसमवाप्तये च भाषाशिक्षा, तद्द्वारा राष्ट्रोपयुक्त-शिक्षाशास्त्राणां, अथ तदर्थं पाठशालास्थापनं विद्यालयस्थापनमध्यापक-योजनं, रणकौशलशिक्षा तदर्थं महाविद्यालयस्थापनं तत्रत्यं कार्यं च निरूपितम् । अथ सर्वस्याऽपि तस्य स्वारस्येन समासतस्तदुपसंहारपूर्वकं निरूपणाय कारिकयोरनयोरारम्भः । उक्ताऽवशिष्टं सर्वमपि समावेश-नीयं भवत्यत्र शिक्षाविषकमिति । अत्रेदं बोध्यम्—राष्ट्रहितैषिणोऽत्र प्रवर्त्यन्ते, ते चेदेनं विधिमुल्लङ्घयेयुस्ततः पतिताः पातिनश्च भवेयुः । स्वराष्ट्रसमुन्नत्यै स्वराष्ट्रबालकान् सर्वानपि समुचितोद्योगजातैर्वक्ष्यमाण-प्रकारान् रचेयुस्ते राष्ट्रकल्याणाकाङ्क्षिणः । रच प्रतियत्ने' प्रतियत्नो गुणाऽऽधानम् कार्याण्याह–'शक्तित्रयवतः' । अयमाशयः— अशक्तस्य किल प्रतीतिरपि न भवितुं शक्या । अप्रतीयमानं चाऽवस्थिति न तत्शङ्कया वा समाधानस्य वा गोचरः । अतः प्रतीयमानतावच्छेदकाऽच्छिन्नं सशक्तिमेव भवति । लोके च योऽयमशक्तव्यवहारः स न शक्त्यभाव-मूलकः, किं तु तत्तत्कार्योचितशक्त्यविकासमूलकः । अयमर्थः—यथा कस्यचिद्विषये केन चिदुक्तं 'पुत्रोत्पादनेऽयमशक्तः' इति । अस्यायमभि-प्रायः यत् 'पुत्रोत्पादनाऽकूला शक्तिरस्मिन्न तादृशी विकसिता यथाऽयं पुत्रमुत्पादयेत् । साऽतीव सूक्ष्मा इति, विकसिताऽन्य शक्तिप्रकारैरभिभूता इति न पुत्रोत्पत्तिर्दृश्यते । एवमेव शक्तिविकासतारतम्यमवलम्ब्य

शक्तियां तीन है- प्रभाव, उत्साह, मन्त्र शक्ति । राष्ट्रीय बालकों में इन तीनों शक्तियों का पूर्ण विकास राष्ट्रहितैषियों को करना चाहिए । आर्य पूर्णतः शान्त और शान्ति-प्रिय होते हैं । वे सर्वत्र शान्ति स्थापित करते हैं । शक्तित्रय का विकास करके, उसके द्वारा सर्वत्र शान्ति और आर्यत्व की स्थापना करनी चाहिए । भाव यह है कि शक्तित्रय के यथोचित उपयोग से अनार्य-राज्यवाद और अनार्यराष्ट्रवाद का विनाश करके आर्य राज्यवाद की स्थापना करनी चाहिए । पूर्ण शान्ति के इच्छुकों को आर्य राष्ट्रवाद की स्थापना करनी चाहिए ।

त्रिविधमपि जगदिदमनन्ततया पृथगिवात्मनो भासते । शक्तिमन्तरा किमपि न सम्भवति । अत एवोक्तमपि—

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ।

सर्वमपि विश्वं शक्त्यायत्तमोतप्रोतभावेन । यदेव तत्राऽनुयोगि तदेव रूपं शक्तिमान् शिव इत्युच्यते । अथ च यदेव प्रतियोगिरूपेणविवक्षितं तदेव शक्तिरूपं शक्तिरित्युच्यते । एवं च शक्तिः, धर्मः, गुणः, स्वभावः इत्यादयः पर्यायाः । तथा शक्तिमान् धर्मी, गुणी, स्वः इत्यादयश्च पर्यायाः । एकस्यैव वस्तुनो द्विविधं रूपमिदम् । रूपद्वयमिदं न कदाचिदपि व्यभिचरितुं प्रभवति अन्यस्याऽप्रतीतेः । अत एवाऽनयो रूपयोः काल्पनिकयोः सर्वेऽपि परस्परं सम्बन्धाः सम्भवति । यतः खलु काल्पनिकमेव सर्वं, तत्र किं वा न सम्भवति परमार्थतस्त्वभेद एवेति सर्वविधायामपि कल्पनायां निराशंसतया परिपूर्णतैव आनन्दस्येत्यत एव श्रीशङ्कर भगवत्पादैरुक्तम्—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्च्यादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ।। (सौ. 1)

एतत्सर्वं परशिवशक्तिरूपमिति परशिवाऽवताराऽभिनवगुप्तपादैरप्युक्तम् यथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनि मङ्गलाचरणे—

निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम् ।।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष—
स्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ।।

आर्यों की शक्तित्रय-सम्पन्नता में ही शान्ति-स्थापना सम्भव है । अतः सबसे पहले शक्तित्रय के विकास के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए । अशान्त की स्थिति में तो शक्तित्रय सम्पन्न व्यक्तियों का व्यवहार ही उच्छिन्न हो जायेगा । वस्तुतः प्रशस्त शक्ति त्रय से समृद्ध आर्य ही शन्ति-स्थापना में समर्थ होते हैं । अनार्य नहीं । गीता में कर्म करने का मुख्य उपदेश दिया गया है । कर्म से हो लोकानुग्रह सम्भव है । जब लोकानुग्रह करने वाले पुरुषों की संख्या चौगुनी होगी, तो कृतयुग आ जायेगा ।

किं बहुना, ऋते शक्तेः सर्वमपि निःसारतया न किंचिद्भवति। अत एव पञ्चस्तव्यामेतदेवं निरूपितम्—

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं
त्वं चेतनाऽसि पुरुषे पवने बलं त्वम् ।।
त्वं स्वादुताऽसि सलिले शिखिनि त्वमूष्मा
निःसारमम्ब निखिलं त्वदृते यदि स्यात् ।। (पं. स्त. 4.2.)

भवतु। विस्तरभिया नाऽत्राऽधिकं चर्चापथमेषणीयम् । शक्ति विना न किमपि सिद्ध्यतीति तु निष्कर्षः । सा चैकापि शक्तिः समस्त-कल्याणनिदानभूता बैन्दवी नैसर्गिकी वैसर्गिकी शक्तिः स्वरसप्रवहण-शीलेति त्रिविधा सती व्यवहाराय सम्पद्यते । सात्त्विकी राजसी तामसी चेति । त्रयं प्रकाराणां शक्तेः सर्वत्र दृश्यते । इयं सर्वत्र त्रिमूर्तिरूपेण स्थितेति त्रिपुरेत्यप्युच्यते । सर्वत्राऽपि त्रयं त्रयं प्रतीयते । तन्त्रान्तरेषु पुनरत्त एवैवमुक्तम् सर्वंत्रयं यस्मात्तस्मात्सा त्रिपुरामता । इति तदेतत्सर्व-मपि शक्तित्रयमुक्तं, यथा पञ्चस्तव्याम्—

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वराः
त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः ।।
यत् किंचिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः।। (प. 1.16)

भवतु । सर्वथाऽपि राष्ट्रहितैषिभी राष्ट्रियेषु त्रिविधाऽपि शक्तिर्वि-कासनीया समुचितोद्योगैः । एतद्बोधयितुमुक्तं 'शक्तित्रयवत' इति । प्राशस्त्येऽर्थे मतुप् । प्रशस्तं शक्तित्रयं येषां ते तान् 'तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप् (पा. सू. 5.2.94) इत्यनेन मतुप् । स च भूमाद्यर्थेषु दृश्यते । तदेतदुक्तं यथा—

भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ।।

बालकों को चतुर्विधनीति का भी सांगोपांग अध्ययन करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जिस-जिस प्रकार से आर्यत्व की उन्नति हो, वे सभी प्रकार यथाविधि पढ़ाए जाने चाहिए । उन्हें बोध, आचार और प्रचार में सम्यक् प्रवीण करना चाहिए । इससे यह भी ज्ञान होता है कि यदि बालक विनीत न होंगे, तो उनमें शक्तित्रय का विकास नहीं होगा ।

प्रशस्त्यं चाऽत्र सर्वतोभद्रकारितया। शक्तेः त्रयं प्रभावोत्साह-मन्त्रेति त्रिकं राष्ट्रस्वतन्त्रतासाधनं वा, बौद्धिकशारीरिकार्थिकेति वा शक्तित्रयं, अथ वा 'राष्ट्रकाली' (रा. 83) इति कारिकायां वक्ष्यमाणं वा शक्तित्रयं प्रशस्तमस्ति येषां ते तान् प्राशस्त्यं च पूर्णविकासेन। यतः खलु सर्वेऽपि शान्त्याऽऽशंसिनो भवन्ति। शान्तिश्च पूर्णशक्तिविकासवतामेव सम्भवति। अतस्त्रिविधाया अपि शक्तेः पूर्णो विकासो विधेयो राष्ट्र-बालकेषु।

अथ च ते शान्ता अपि विधेयाः तदेतदाह—शान्तानिति 'शमु उप-शमे' ततो भावे क्तः 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (पा. सू. 6.4.15) इति दीर्घः शान्तं अस्ति येषां ते तान् सम्बन्धसामान्ये अर्शआदित्वान्म-त्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः। शान्तिसम्पन्नाश्च विधेया इति भावः। इदमाकूतम्—आर्याः खलु पूर्णतया शान्ता भवन्ति, नाम शान्तिप्रिया भवन्ति। ते हि सर्वत्र शान्तिं प्रस्थापयन्ति। शक्तित्रयविकासं सम्पाद्य तेषु सर्वत्राऽपि तद्-द्वारा शान्तिप्रस्थापना कार्या। आर्यभावः सर्वत्र स्थापनीयः। अयं भावः—शक्तित्रयस्य यथायथमुपयोगेनाऽनार्यराज्यवादमनार्यराष्ट्रवादं च विना-श्य आर्यराज्यवादं स्थापयेयुः परिपूर्णशान्तिस्थापनाय नन्वार्यराष्ट्र-वाद एव कल्पते परमार्थत इति निरूपित पूर्वमेव। कृत्रिमाशान्तिरांशि-कीति न निराशंसत। सतत्त्व पूर्णानन्दं प्रत्यभिज्ञापयति। पूर्णाऽऽनन्दश्च सर्वस्याऽपि स्वरूपमिति तमन्तरा न स्थातुमुत्सहते शक्नोति वा किम-पीत्यादि सिद्धयोगिनीहृदयमतोऽधिकं नोद्घाटनीयम्। यदेव शक्तित्रयवत्त्वं शान्तिं न संस्थापयति तद्व्यर्थमिति ध्वनितं भवत्यनेन। शान्ति-सस्था-पना हि आर्याणां शक्तित्रयसम्पन्नत्वे एव सम्भवतीति सर्वादौ शक्तित्रय-विकासायैव यतनीयमित्युक्तं भवति। अशान्तत्वे हि शक्तित्रयसम्पन्नानां, व्यवहार एवोच्छिद्येत। अत एव भगवान् वासुदेवोऽपि ब्रवीति—'मा ते

विनीतत्व सब प्रकार से आवश्यक है। विनीत नम्रताशाली होते हैं। अनम्र सभी के अप्रिय होते हैं। ये अनार्य स्वभाव वाले होते हैं। विनीत आर्य स्वभाव के होते हैं। विनीतों के लिए कहीं भी कुछ भी असाध्य नहीं होता है, जिससे अपने गौरव की रक्षा हो, वह विनीत है और जिससे अपना दुरभिमान बढ़े, आर्यों में निन्दा हो, उसे दुर्विनीत कहते हैं। विनीतवत्ता शास्त्रों, शास्त्रज्ञों और गुरुओं के मुख से अध्ययन करने पर प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विद्या-लयादि की स्थापना और अध्यापकादि की योजना आवश्यक है। यह भी बोध

सङ्गोऽस्त्वकर्मंणि' 'कार्यं कर्म समाचर' इत्यादि च। प्रशस्तशक्तित्रय-समृद्धा आर्या एव शान्तिस्थापने परमार्थतः समर्था भवन्ति नाऽनार्याः। इति द्योतयितुमेवोक्तं 'शान्तान्' इति। शान्तस्वरूपानिति यावत्। इदं भगवताऽप्युक्तम्—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य न कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः। (गी. 3.24)

कर्मशान्तिस्थापनं परमार्थभूतमेव। यद् ह्यार्यांणा स्वाभाविकम्। भगवानात्मनः परिपूर्णशक्तिमत्वं निराशंसितां च वर्णयित्वा पूर्वोक्तमाह। उत्सीदेयुरिति निराशंसिता पूर्णता चैवमुपदिष्टा—

न मे पार्थाऽस्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नाऽनवाऽऽप्तमऽवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥ (गी. 3.22)

इदमेव स्वाभाविकं लोकाऽनुग्रहकारकं कर्म वर्णितं भगवता।

एतादृक्पुरुषा यदा चतुर्गुणिता भवन्ति स कालः कतयुगं भवति।

अयमभिप्रायः—एतादृक्पुरुषानवलम्ब्यैव सत्ययुगादीनां व्यवस्था भवति। अस्त्वेतत्। सर्वथाऽपि शान्तान् रचेयुरिति तात्पर्यम्। अथैतत्छक्तित्रयवत्त्वं केनोपायेन भवतीत्याह—विनीतानिति। व्युपसर्गात् णीञ् प्रापणे इत्यस्माद्धातोर्भावे क्तः ततो मत्वर्थे 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा.सू.5.2127) इत्यच् प्रत्ययः। विनीतमस्ति येषां ते तान् इति। विशिष्टं सम्यक्तया नीतं=नीतिः अस्ति येषां ते तान्। ज्ञानविज्ञानेन सम्यग्भावितनीतितत्त्वानिति भावः। विनींताः खलु विशिष्टनीतिमत्तया शक्तित्रयवन्तो भवन्तः शान्ता अपि भवितुमर्हन्ति। अतः सर्वादौ नीतिशास्त्राण्यध्येतव्यानीत्युपदिष्टम्। चतुर्विधाऽपि नीतिरध्येतव्या साङ्गोपाङ्गा। अथ साऽपि चतसृभिरपि दशाभिरुपयोज्या। अयमभिप्रायः—येन येन प्रकारेणार्यंत्वसमुन्नतिः स्यात्ते सर्वेऽपि प्रकारा यथाविध्यध्याप्याः। अथ च तस्या बोधे आचारे प्रचारे च सम्यक् प्रवीणा विधेयाः। अथ

होता है कि राष्ट्र के बालकों को आचार्य-प्रोक्त, आर्यपुंस्त्रीनीति और अनार्य पुंस्त्रीनीति साँगोपांग पढ़ानी चाहिए। इस सबका फल ही समदर्शिता है। समदर्शी परिपूर्णदर्शी होते हैं। वे मित्र, उदासीन या शत्रु जिस किसी भी पुरुष को गुणों से सुशोभित होने पर गुणी के रूप में और दोषों से युक्त होने पर दुष्ट रूप में स्वभावतः ही देखते हैं। वे केवल गुणदर्शी या दोषदर्शी नहीं होते।

चेदमप्यनेन बोधितं यद्विनीतं विना न शक्तित्रयविकासः कथमपि भवितुमर्हति। सर्वथाऽपि विनीतत्वावश्यकम्। अथ च विनीत—नम्रता साऽस्ति येषां तान् नम्रताशालिनः अनम्राः खल्वप्रिया भवन्ति सर्वेषाम्। स खल्वनार्यस्वभावः। विनीत त्वार्यस्वभावः। विनीतानामसाध्यं नाम किमपि नाऽस्ति क्वापि स्थले। अथ चेदमप्यवगन्तव्यम्—येन स्वगौरवसंरक्षणं भवति तद्विनीतम्, येन च स्वदुरभिमानो वर्धते, आर्येषु च निन्दा भवति, तद्दुर्विनीतमुच्यते। अथ च येन स्वगौरवसंरक्षणं न भवति तन्न विनीतं, किं तु देवानां प्रियत्वं तत्। विनीतवत्त्वं च तत्तच्छास्त्राणां तद्विदां गुरूणां मुखादध्ययनादवगम्यते। एतेन विद्यालयादिस्थापना, अध्यापकादियोजना, चाऽवश्यकीत्यपि बोधितम्। सर्वथाऽपि प्रस्तुतभाष्यकृत्प्रोक्तार्यपुंस्त्रीनीतिरनार्यपुंस्त्रीनीतिश्च साङ्गोपाङ्गा अध्याप्या राष्ट्रबालकेभ्य इति बोध्यते। एतस्य सर्वस्याऽपि फलं समदर्शित्वम्। अतः उक्तं समदर्शिनो रचेयुरिति। समं—सर्वं द्रष्टुं शील येषां ते समदर्शिनः परिपूर्णदर्शिनः इति तात्पर्यम्। अयं भावः—मित्रमुदासीनं शत्रुं वा यं कमपि पुरुषं तैस्तैगुर्णैर्मण्डितं गुणितया, तैस्तैर्दोषैयुक्तं दुष्टतया च सर्वथा स्वभावेनैव पश्यन्ति ते। न केवलं गुणदर्शिनो न च केवलं दोषदर्शिनो भवन्ति। अत्रेदं बोध्यम्—पुरुषास्तावत् त्रिविधा भवन्ति, गुणमात्रदर्शिनः दोषमात्रदर्शिनः, विवेकिनश्चेति। गुणमात्रदर्शिनस्तत्र सतृणाभ्यवहारिसमानाः, दोषमात्रदर्शिनश्चाऽरोचकिसमानाः।

अयं भावः—चतुर्विधं षड्रसोयेतं भोजनपदार्थजातं तृणपर्णपात्रे परिविष्टं पशवः सतृणाऽभ्यवहारिण इत्येव सतृणपर्णपात्रमश्नुवते, न ते विवेचयितुं क्षमन्ते यत् तृणं पर्णं वा न भोज्यमन्नमेव च भोज्यमिति। एवमेव केवलगुणदर्शिनो दोषाऽदर्शनात् परिभूयन्ते पशव इवेति न तथा

पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—गुणमात्रदर्शी, दोषमात्रदर्शी, विवेकी। गुणमात्रदर्शी सतृणाभ्यवहारी कहलाते हैं। जिस प्रकार पशु को पत्ते में खाद्य पेय, चोष्य, लेह्य रूप और षड् रस से युक्त स्वादिष्ट भोजन दिया जाय, तो वह पत्ते सहित भोजन को खा जाता है। वह यह नहीं जानता कि पत्ते को नहीं खाना चाहिए, केवल भोजन को खाना चाहिए। इसी प्रकार गुणमात्रदर्शी लोग किसी का दोष नहीं देखते हैं। दोषमात्रदर्शी अरोचकी होते हैं। उनको घृतसिक्त पुए, पूड़ी आदि उत्तमोत्तम भोजन पदार्थ भी परोस दिये जाय, तो भी वे नाक भौं सिकोड़ने लगते है तथा कुछ भी भोजन नहीं कर पाते हैं, क्योंकि उनमें विवेचना-शक्ति

भवेत् । अथ च ये केवलं पुरोभागितामापद्यन्ते तेभ्यो न किमपि रोचते इति तेऽरोचकिनः। अयं भावः—अरोचकिरोगग्रस्ताः खलु पुरः परिविष्टमुत्तमोत्तमं घृतपूराऽपूपशष्कुल्यादिकमपि पदार्थजातमरोचकिन इत्येव नासा भ्रुवमाकुञ्चयन्तो न किमपि भोक्तुं पारयन्ति विवेचनशक्त्यभाववन्तस्ते । अतो न तानाद्रियते गुणवतां समाजः । समदर्शिनः पुनर्विवेकिनो भवन्ति । गुणदर्शितया गुणिभिः सम्मान्यन्ते, दोषदर्शितया च न दुष्टैः पराभूयन्ते । ये किल सम्यक् प्रकारेणाऽधिगतसमस्तनीतितत्त्वास्तेषां समदर्शित्वमेव फलं युक्तम् । समदर्शिन एव च आर्या भवितुमर्हन्ति । भवतु । अथवैवं व्याख्येयम्—समं–समानं द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः । अयं भावः-वैषम्येण न कमपि तेऽनुगृह्णन्ति निगृह्णन्ति वा किन्तु साम्येन सर्वानपि सदाऽनुगृह्णन्ति । सदैव शत्रुपुत्रादि भेदभावं विहाय न्याय्यमेवाचरन्ति ते इति । अत एव श्रीमद्भगवद्गीतास्वप्युक्तम्—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानाऽपमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः । (गी. 12.19)

अथ च न केवलमेतदेव यत् स्वभिन्नेषु समस्तेषु साम्येनाऽनुग्रहणं निग्रहणं वा समदर्शित्वमुच्यते । किन्तु आत्मना समं सर्वत्र सुख-दुःखादि मानाऽपमानादि प्रियाऽप्रियादि द्रष्टुं येषां शीलं ते समदर्शिनः । एतदप्युपदिदेश भगवानर्जुनं प्रति गीतास्वेव, यथा—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। (गी. 1.32.)

साम्यदृष्टिरेव योगदृष्टिः । अत एव भगवानेवाऽऽह—'समत्वं योग उच्यते" (गी. 2 48.) इति योगश्च 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी. 2.50)

नहीं होती । अतः गुणी समाज उनका आदर नहीं करता । समदर्शी विवेकी होते हैं । गुणी लोगों द्वारा उनका सम्मान किया जाता है । ये दोषदर्शी दुष्टों के द्वारा पराभूत नहीं होते वे समस्त नीतितत्व को जानते हैं । अत समदर्शी होते हैं । समदर्शी ही आर्य होते हैं । ये विषम भाव से किसी पर अनुग्रह या निग्रह नहीं करते हैं, किन्तु समभाव से सभी पर सदा अनुग्रह करते हैं । सदा शत्रु-पुत्रादि भेदभाव का त्माग कर न्यायानुकूल आचरण करते हैं । ये अपने समान सर्वत्र सुख दुःख, मानापमान, प्रियाप्रिय शत्रु-मित्र आदि को समभाव से देखते हैं । यह साम्य दृष्टि ही योग दृष्टि है । गीता में भी भगवान् ने समत्व और कर्मकौशल को योग

इत्युपदिष्टो भगवतैव । एतत्साम्यतारतम्यमवलम्ब्यैव सत्ययुगादीनां भवतीति पूर्वं निरूपितमेव । एतदेव च शान्तिप्रदम् । अत एव योगिप्रवरो भर्तृहरिरप्येवमाशंसते—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्याऽरण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ।।

एवं च विनीततया समदर्शित्वं ततश्च शक्तित्रयवत्त्वं तेन च शान्तत्वं भवतीति बोध्यते अथवा बीजवृक्षफलादिवदेषां सर्वेषां कार्यकारणभावोऽवगन्तव्यः । अथ न केवलमेतावन्मात्रेण राष्ट्रस्वातन्त्र्यप्राप्तिर्भवति । एतस्मात् सर्वस्मादपि महान् गुणो निर्मोहिता, सा त्वतीवाऽपेक्ष्यते । तामन्तरेण सर्वमप्येतन्निःसारमेव, अत एव सर्वोऽपि श्रीमद्भगवद्गीताया उपदेशो भगवता समस्तमोहनिराकरणायैवाऽर्जुनाय प्रदत्तः । एतच्च सर्वं श्रीगीतास्थैः —

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। (गी. 8 73.)

इत्यादिवाक्यकदम्बकैर्निःसन्देहमवगम्यते । तत्सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यम् । एतत्सर्वमभिप्रेत्यैवाह—स्वरक्तेति 'स्वरक्तदानेनाऽपि निजराष्ट्रस्य पोषकान्' इति । स्वस्य आत्मनः रक्तं=शोणितं तस्य दान वितरणं तेनाऽपि स्वराष्ट्रस्य पोषकान् । अयं भावः—यदा किल क्रान्तिकारिणोऽनार्या रणायोपस्थिताः अति सामर्थ्यवत्तया न वोपस्थितास्तदा

कहा है । इसी साम्य-तारतम्य का आश्रय लेकर सत्ययुग आदि की व्यवस्था होती है । यही शान्तिप्रद होता है ।

इस प्रकार विनीत भाव से समदर्शिता, उससे शक्ति-त्रयवत्ता और फिर उससे शान्ति होती है । अथवा बीज-वृक्ष-फलादि की भांति सभी में कार्यकारणभाव समझ लेना चाहिए ।

उतने से ही राष्ट्र-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति नहीं होती । इन सबसे बड़ा गुण है "निर्मोहिता" । इसकी भी अपेक्षा होती है । उसके बिना सब कुछ निसार होता है ।

जब क्रान्ति करने वाले अनार्य रण के लिए उपस्थित हों, तो उन्हें अपने शरीर का मोह छोड़कर अपने राष्ट्र के पोषण के लिए युद्ध करना चाहिए । इसमें

स्वशरीरमोहं विहाय स्वराष्ट्रपोषणाय रणः कार्यः तस्यैव कर्तुं योग्यत्वात् । तत्र स्वरक्तमपि दत्वा निजराष्ट्रस्य पोषणमेव कार्यम् । न शरीरमोहः कार्यः तत्र मोहेनाऽकृते रणे अनार्याणां प्राबल्यात्पुनरपि मरणं तु निश्चितमेव । अथाऽयं प्रकृतिनियम एव । अत एव

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। (गी. 2.2.7)

इत्येवं भगवताप्युपदिष्टमर्जुनं प्रति । एवमेव मरणमनार्यजुष्टः पन्थाः । रणे स्वराष्ट्राय मरणं समस्तमोक्षप्रापकम् । अत एव प्रामाणिकग्रन्थेषूद्घोष्यते यत्—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः ।।

अत एव भगवानप्युपदिशति—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (गी. 3 35.) ।

स्वधर्मे=स्वातन्त्र्ये । परधर्मः पारतन्त्र्यम् । किं चाऽत एव भगवानर्जुनायोपदिशति —

धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते । (गी. 2.31)
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।।
(गी. 2.37)

एवं स्वरक्तदानेनाऽपि ये निजराष्ट्रस्य पोषणमेव कुर्वन्ति यथा तथा रचेयुः । अत्र दानपदमौदार्यं ध्वनयति तत्कर्तुः । तेन स्वरक्तदानसुफलभोक्तृत्वमपि स्वातन्त्र्येण तेषामेव भवतीति बोध्यते । अथेदं विचार्यं यदेतद्रक्तदानं क्रियते तत् कस्मै क्रियते, श्रूयतामुच्यते—इदं हि

अपना रक्त-दान करके ही अपने राष्ट्र का पोषण करना चाहिए । इसमें शरीर का मोह नहीं करना चाहिए । मोहवश यदि युद्ध न किया गया, तो अनार्यों के प्राबल्य से पुन मरण तो निश्चित ही है । यों स्वराष्ट्र के लिए मरण मोक्षदायक होता है । इस प्रकार अपने रक्तदान से स्वराष्ट्र का पोषण करें, ऐसे राष्ट्र-बालकों की रचना (निर्माण) करनी चाहिए । यहां दान पद कर्ता को उदारता को प्रकट करता है ।स्वातन्त्र्य से वे उस रक्तदान के सुफल के भोक्ता भी

क्रियमाणं दानं राष्ट्रपोषणं कुर्वत् व्यावहारिकं मोक्षं ददत् परम्परया पारमार्थिकं मोक्षं प्रददाति स्वरक्तदानिने । अत इदं सर्वेभ्योऽपि दानेभ्यः श्रेष्ठतमं दानमिति बोध्यते । यथा पुण्यदानं दानीयविप्रं पोषयत् व्यावहारिकं यशः प्रददत् परम्परया स्वर्गादि च ददाति दानिने तथा अथ चैवमपि व्याख्येयम्—स्वस्मिन् रक्ताः—अनुरक्ताः स्वप्रेमिकाः तेषां दानं—खण्डनं दोऽवखण्डने । तेनाऽपि स्वेतरशरीरिणां स्वप्रेमिकाणामपि राष्ट्रघातकत्वमालोच्य खण्डनेनाऽपि निजराष्ट्रस्य पोषकान् रचेयुः । अयं भावः—स्वराष्ट्रियाणां खण्डनमेव न सम्भवति प्रथमतः, तत्राऽपि स्वस्मिन् यौनसम्बन्धादिना रक्तानां तु नैव सम्भवति, परं तु तेषामपि राष्ट्रपोषणाय निर्मोहैः, खण्डनं क्रियते । इति । अत एव श्रीतिमिरोद्घाटेऽप्युक्तम्—

यः प्रियो यः सुहृद्बन्धुर्यो दाता योऽतिवल्लभः ॥
तदङ्गभक्षणाद्देवि ह्युत्पतेद्गगनाङ्गना ॥

अथ चैवमपि व्याख्यातुं शक्यते—न रक्ताः—रागवन्तः, अरक्ताः—द्वेषिण इति यावत् । सुतरां अरक्ताः—अतीव द्वेषिणः, तेषां दानेन—खण्डनेनाऽपि । अयं भावः—येऽनार्यस्वभावतया सर्वदा विद्वेषिण एव लोकानां भवन्ति तेषां खण्डनेनाऽपि । अयमभिप्रायः—समस्तलोककल्याणविरोधिनामनार्याणां नाशनेनाऽपि निजराष्ट्रस्य पोषकान् । स्वराष्ट्रपोषणं तद्विघातिनो विनाश्यापि कुर्वाणान् इति । एवमपि व्याख्यातुं शक्यते—स्वस्मिन्—आत्मनि रक्ताः—अनुरक्ताः तेभ्यः दानं यथेष्टवस्त्वर्पणं तेनाऽपि । स्वसहायकेभ्यो योग्यवस्तुसमर्पणेनाऽपि निजराष्ट्रस्य

होते हैं । यह दान राष्ट्र का पोषण करते हुए और व्यावहारिक मोक्ष देते हुए रक्तदानी को परम्परा से पारमार्थिक मोक्ष प्रदान करता है । अतः यह सभी दानों में श्रेष्ठतम दान है । जैसे कि पुण्यदान दानीय विप्र का पोषण करते हुए और उसे व्यावहारिक यश देते हुए परम्परा से स्वर्गादि प्रदान करता है ।

(आचार्य ने 'स्वरक्तदान' पद की व्याख्या व्याकरण की दृष्टि से बहुधा की है, उसे मूल में ही देखना चाहिए) समस्त का कहने का भाव यह है कि जिस-जिस आर्य-सेवित उपाय से राष्ट्र का पोषण हो सके, यह सब करना चाहिए ।

पोषकान् इति भावः । भवतु । एवमेतद् बहुधा व्याख्यातुं शक्यते पद-मिदम् । सर्वथा निर्मोहत्वमपेक्षितम् । स्वराष्ट्रपोषकत्वं च येन येनाऽऽर्य-जुष्टोपायेन भवति तत्सर्वं कार्यमिति भावः । एवङ्गुणसम्पन्नान् । अत एव—

निर्मानमोहाजित सङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ॥
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥
(गी. 15.5.)

इत्येवंरूपेण कारणान्युक्तानि पूर्णस्वातन्त्र्यप्राप्तौ भगवता योगेश्वरेण श्रीकृष्णेन । एतत्सर्वमपि शिक्षामन्तरेण न सम्भवति । अतः शिक्षाऽप्यत्यन्तमावश्यिका, साऽपि प्रथमं भाषाशिक्षामन्तरा न सम्भवतीत्याह––राष्ट्रभाषेत्यादि । अयमभिप्रायः–स्वसंस्कृतिज्ञानादृते स्वस्वत्वज्ञानमेव न सम्भवति, अन्तरेण च स्वस्वत्वबोधं तत्स्वातन्त्र्याय प्रवृत्तिर्न सम्भवतीत्यतः स्वराष्ट्रभाषां स्वधर्मभाषां चाऽधीयत पूर्वम् । अनन्तरं तद्द्वारा विद्याध्ययनादिना सर्वमपि बोद्धुं सुशकमिति प्रत्येकं द्विविधाऽपि भाषाद्वयी तथा शिक्षणीया यथा ते तत्र कुशलाः निष्णाता भवेयु; इति । एवं च समस्तस्वत्वबोधमूलतया भाषाशिक्षाया राष्ट्रभाषाधर्म्यभाषाकुशलान् रचयु; । अथ सर्वं तत् किमर्थमित्याह-अर्थकोविदान् इति । अर्थेषु-प्रयोजनेषु । कोविदः विद्वांसः स्वकीयाऽभिलषणीयविदुषः । अय भावः – अशिक्षिताः खल्वेतदपि न ज्ञातुं सम्यक् प्रभवन्ति यत् किमुद्दिश्यायं सर्वोऽपि जीवलोकः

पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति बिना शिक्षा के नहीं हो सकती, अतः शिक्षा और प्रथमतः मातृभाषा-शिक्षा आवश्यक है । अपनी संस्कृति के ज्ञान के बिना स्वत्व-ज्ञान सम्भव नहीं है । स्वत्व-बोध के बिना स्वातन्त्रय के लिए प्रवृत्ति नहीं होती । अतः पहले स्वराष्ट्र भाषा और स्वधर्म्यभाषा का अध्ययन करना चाहिए । बाद में उसके द्वारा अध्ययनादि करके सब कुछ जान लेना सरल है ।

दोनों भाषाओं का शिक्षण इस प्रकार करना चाहिए कि वे निष्णात हो जाय । इस प्रकार समस्त स्वत्व-बोध का मूल होने के कारण भाषा-शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रभाषा और धर्म्यभाषा में कुशल बना देना चाहिए । किन्तु यह सब क्यों ? अशिक्षित तो भली प्रकार यह भी नहीं जानते हैं कि यह सारा जीवलोक किस उद्देश्य से प्रवर्तमान है । यह परिणाम में हितकर है, इसे मुर्खतावश जान नहीं पाते हैं । सभी अपनी उन्नति चाहते ही है, उसके परिज्ञान में प्रयत्न भी वह

प्रवर्तंते इति । पारिणामिकं हितजनकमिति ते मूढतया न ज्ञातु प्रभवन्ति । ननु सर्वोऽपि स्वसमुन्नति तु वाञ्छत्येवेतिं प्रयत्नमपि तज्ज्ञाने करिष्यत्येवेति चेन्न । प्रवृत्तिं प्रति ज्ञानस्य कारणत्वात् । अत एव 'रचेयुः' इति निर्दिष्टम् । राष्ट्रकल्याणाऽऽकाङ्क्षिणामेततत्कार्यमिति भावः । अत एतदुल्लङ्घनेराष्ट्र कल्याणाऽऽकाक्षिणां विदुषामेष दण्ड भाक्त्वमिति बोध्यते । ननु रच धातोः स्वार्थणिजन्तत्वात् रचयेयुरिति साधु न रचेयुरिति चेन्न किंचिदेतत् । अदन्तपाठसामर्थ्याण्णिज्विकल्प इति पाक्षिकणिजभावे तथा साधुत्वात् । इत्यलम् ।।35.36. ।।

करेगा ही, यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति ज्ञान की कारणता होती है । इसीलिए "रचेयुः" इस पद का निर्देश किया गया है । अर्थात् राष्ट्रकल्याण की आकांक्षा करने वालों का यह कार्य है । इसका उल्लघन होने पर राष्ट्रकल्याणाकांक्षी बिद्वान् ही दण्डभागी होंगे ।

रचू धातु के णिजन्त होने से 'रचयेयुः' पद शुद्ध है "रचेयुः" नहीं, यह आशंका नहीं करना चाहिए । अदन्त पाठ के सामर्थ्य से णिच् का बिकल्प होता है । अत णिच् के अभाव में "रचेयुः" पद साधु है ।

व्याख्यात-श्लोकानुक्रमणिका

द्विविधा जीवनदृष्टिः संश्लेषणपरा विश्लेषणपरा चेति । संश्लेषणपरा दृष्टिः जीवनं समग्रतया पश्यति, विश्लेषणपरा पुनः खण्डशः। पूर्वा पौरस्त्या दृष्टिः, अपरा पाश्चात्या। प्रथमा धर्मं जनयति, द्वितीया विज्ञानम् । तस्मात् भारते राजधर्मविवेचनम्, पश्चिमे राजनीतिविज्ञानविवेचनम् । श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य-प्रणीते राष्ट्रालोके राष्ट्रधर्मस्येदमप्रथमतया संस्कृतभाषया विवेचनं विहितम्। संस्कृतभाषायाम् केवलं धर्मविवेचनमिति मन्यन्ते प्रायशो लोकाः । श्रीमदमृतवाग्भवाचार्यस्येयं कृतिस्तां भ्रान्तिं निराकरिष्यति ।

पाश्चात्यदृगभ्यस्ता अस्यां कृतौ कदाचिदप्रौढमिव सर्वं विवेचनं मन्येरन् । किन्त्वत्र यत्तथ्यं निरूपितं तत्सर्वथा मौलिकं सत्कल्याणमप्यावहति । तथा राष्ट्रस्य मूलमन्त्रं व्यावहारिको मोक्ष इति प्रतिपादितम्, मोक्षस्य स्वातन्त्र्यापरपर्यायत्वमुपपादितम् । अत्रैतत् ध्येयं यत्स्वातन्त्र्यविरोधिनः सोवियतसंघस्य राष्ट्रत्वेन विलयस्तु स्वतः सिद्ध एवासीत् राष्ट्रं च स्वातन्त्र्याभावश्चेति नास्त्युभयोः सामानाधिकरण्यम् । एवमेवान्तरसंस्कृतिरत्र धार्मिकविश्वासाधीना सम्मता । धर्मनिरपेक्षतावादिन आर्थिकाभ्युदयप्रयासानेव राष्ट्रस्यैकतायाः आधारमभ्युपगच्छन्ति । सोवियतसंघविलयेऽयमपि भ्रमो विलीनः । ग्रन्थलेखनकाले मुद्रणकालेऽपि वा सोवियतसंघस्य विलयो नाघटयत् । किन्त्वद्य लेखकस्य स्थापनेतिहासपरिपुष्टा वर्तते ।

क्वचित्तदनितान्तमश्रुतपूर्वं विवेचनं विदुषां ध्यानमाकर्षति । यथा सत्ययुगे चतुर्विधभाषापटवः सामनीत्या त्रेतायां परां विना त्रिविधभाषापटवः दाननीत्या, द्वापरे मध्यमावैखरीकुशलाः भेदनीत्या कलौ वैखरीकुशलाः दण्डनीत्या च स्वकार्यं साधयन्तीति प्रतिपादनं न श्रुतिपथं पूर्वमागतम् । एवमत्र चर्वितचर्वणं नास्ति । ग्रन्थोऽयं संस्कृतभाषोपनिबद्ध इत्येवात्र वैशिष्ट्यं नास्ति, विचारदृष्ट्यापि नवनवोन्मेषमत्र सर्वथाभिनन्दति ।

दयानन्दो भार्गवः
संस्कृतविभागाध्यक्षः
ज० ना० व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर